राजनीतिक विचारों का इतिहास

प्राचीन तथा मध्यकालीन

द्वितीय भाग

ज्योति प्रसाद सूद

राजनीतिक विचारों का इतिहास

द्वितीय भाग

आधुनिक राजनीतिक विचार (मैकियावेली से बर्क तक)

लेखक
प्रो० ज्योतिप्रसाद सूद, एम. ए.,
भूतपूर्व अध्यक्ष, राज्य-विज्ञान विभाग,
मेरठ कॉलिज, मेरठ।

रचयिता

A History of Political Thought from Plato to Burke (in two parts); A History of Modern Political Thought from [illegible] to Marx; Elements of Political Science; Government of Great Britain; Governments of U. S. A., U. S. S. R., and Switzerland; Government of France; Development of Indian Constitution and National Movement; India: Her Civic Life and Administration; etc.
(All in English and Hindi both)

अनुवादक
गंगाप्रसाद गर्ग, एम. ए.,
अध्यक्ष, राजनीति शास्त्र विभाग,
वैश्य डिगरी कॉलिज, शामली।

मेरठ
जयप्रकाश नाथ एण्ड कम्पनी
पुस्तक प्रकाशक व विक्रेता

प्रकाशक—
कान्ति नाथ गुप्ता,
व्यवस्थापक,
जयप्रकाश नाथ एण्ड क०,
मेरठ।

प्रथम संस्करण— सितम्बर १९५७
द्वितीय संस्करण— अक्टूबर १९५९

मूल्य ७.५० रु०

मुद्रक—
निष्काम प्रेस,
मेरठ।

पूर्व-कथन

'राजनीतिक विचारों का इतिहास' नामक अपने ग्रन्थ के इस द्वितीय भाग को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे हर्ष होता है। उक्त ग्रन्थ के प्रथम तथा द्वितीय भाग में राजनीतिक विचारों के इतिहास के जिस काल का दिग्दर्शन कराया गया है वह सुदूर भूत में सोफ़िस्ट्स से आरंभ हो कर बर्क के साथ समाप्त होता है। अतः ये दोनों भाग मिलकर उन विद्यार्थियों की आवश्यकता की पूर्ति कर सकते हैं जो कि एम. ए. तथा राजनीति विज्ञान की अन्य परीक्षाओं में १८वीं शताब्दी तक के राजनीतिक विचार के इतिहास के पर्चे को लेते हैं।

प्रथम भाग के सम्बन्ध में मेरे सम्मानपात्र शिक्षकों ने जो उद्गार प्रकट किये हैं और मेरे स्नेहभाजन विद्यार्थियों ने उसे जिस प्रकार अपनाया है उससे मुझे न केवल परम सन्तोष प्राप्त हुआ, अपितु उसने मुझे अपना प्रयास जारी रखने तथा इस भाग को पूर्ण करने के लिये भी प्रेरणा प्रदान की। १९वीं तथा २०वीं शताब्दी के राजनीतिक विचारों की समीक्षा करने के लिए एक अन्य ग्रन्थ की रचना करने के लिये भी मुझे इससे प्रोत्साहन मिला।

मेरे सम्मानित मित्र तथा सहयोगी, प्रोफ़ेसर राजेन्द्रसिंह यादव, अध्यक्ष, समाज शास्त्र विभाग, मेरठ कॉलिज, ने हस्तलिखित प्रति तथा प्रूफ़ पढ़ कर जो अत्यन्त मूल्यवान सुझाव मुझे दिये हैं, उसके लिये मैं हृदय से उनका कृतज्ञ हूँ।

विजय मन्दिर
सितम्बर, १९५७

—ज्योतिप्रसाद सूद

दो शब्द : अनुवादक की ओर से

प्रस्तुत पुस्तक प्रोफेसर ज्योतिप्रसाद सूद के 'History of Political Thought' के द्वितीय भाग का अनुवाद है। इसमें मूल पुस्तक के विचारों तथा भावों को यथातथ्य अभिव्यक्त करने का मैंने यथा-साध्य प्रयास किया है। भाषा-सौंदर्य, शब्द-विन्यास तथा वाग्विदग्धता के प्रलोभन में कहीं भी मूल विचार हताहत न हो जायें, इस बात का मैंने पूरा ध्यान रक्खा है। निरूपित विषय की गहनता के कारण भाषा को अधिक सरल तो न बनाया जा सका; किन्तु जिनके लिये यह पुस्तक लिखी गई है, वे कदाचित् इसे क्लिष्ट नहीं पायेंगे।

राजनीतिक चिंतन विषयक मूल रचनाओं का हिन्दी भाषा में अब से कुछ ही पहिले तक प्रायः अभाव सा रहा है; इसलिये राजनीतिक विचारों की व्यापकता, सूक्ष्मता तथा गाम्भीर्य का भार वहन करने में हिन्दी के सामान्य रूप से प्रचलित शब्द असमर्थ हैं, उसके लिये नवीन शब्दों का घड़ना अपरिहार्य है। पारिभाषिक शब्दों के विषय में तो यह कठिनाई और भी अधिक बढ़ जाती है क्योंकि हमारे प्रतिपाद्य विषय के लिए सर्वमान्य पारिभाषिक शब्दों का प्रचलन होना अभी शेष है। इसलिये हो सकता है कि अंग्रेज़ी के कुछ पारिभाषिक शब्दों का जो अनुवाद मैंने किया है वह मूल शब्दों के अर्थ को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त न करता हो। मैं महसूस करता हूँ कि अंग्रेज़ी के 'Nature'; 'Natural law'; 'General Will'; 'Expediency'; 'Relation of things'; इत्यादि के लिए जिन हिन्दी शब्दों का प्रयोग इस ग्रन्थ में हुआ है वे उतने स्पष्ट तथा पूर्ण रूप से मूल भाव को अभिव्यक्त नहीं करते। किन्तु उनसे अधिक उपयुक्त शब्द भी उपलब्ध न हो सके। अतः अनुवाद के साथ ही साथ मूल शब्दों को भी मैंने दे दिया है, इससे अनर्थ अथवा अर्थ-विभ्रम होने की आशंका दूर हो गई है।

प्रस्तुत हिन्दी संस्करण का यद्यपि लेखक ने पूर्ण रूप से पुनरवलोकन किया है, तथापि अनुवाद सम्बन्धी जो भी त्रुटियां रह गई हों उनके लिये मैं ही पूर्ण रूप से उत्तरदायी हूँ। यदि सहृदय और विज्ञ पाठक मुझे अथवा लेखक को उनसे अवगत कराने का कष्ट करेंगे तो मैं हृदय से उनका कृतज्ञ हूँगा।

शिव पुरी,
मेरठ

—*गंगाप्रसाद गर्ग*

विषय सूची

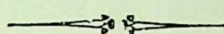
द्वितीय भाग

आधुनिक राजनीतिक विचार (मैकियावेली से वर्क तक)

राजनीतिक विचारों का इतिहास

भाग २

आधुनिक (मैकियावेली से बर्क तक)



अध्याय १

आधुनिक विचार का आवर्त्तन

मैकियावेली (Machiavelli)

परिचयात्मक— प्रथम भाग में हमने प्राचीन यूनान से लेकर मध्य युग के अन्त तक के पाश्चात्य राजनीतिक विचार के विकास का दिग्दर्शन कराया था। वहाँ हमने बताया था कि यूनानी राजनीतिक विचार पर नगर-राज्य के स्वरूप तथा उस तर्कप्रधान यूनानी मस्तिष्क का गहरा प्रभाव पड़ा था जिसके कारण यूनान निवासी तर्क (Reason) को संसार को समझने तथा उसमें मानव का स्थान निर्धारित करने की कुंजी समझते थे। मध्य युग एक ऐसे विश्वव्यापी समाज की धारणा से ओतप्रोत था जिसके ऊपर दो विभिन्न शक्तियों का प्रभुत्व है, एक पोप तथा दूसरा सम्राट्। मध्य युग में यह एक सामान्य विश्वास था कि विश्व में मानव का स्थान निर्धारित करने तथा उसके नैतिक कर्त्तव्यों की परिभाषा करने वाली अन्तिम तथा सर्वोपरि शक्ति चर्च है। इसका अर्थ न केवल यह था कि आस्था तथा ईश्वर द्वारा प्रेषित ज्ञान तर्क से श्रेष्ठतर हैं, बल्कि इसका अभिप्राय यह भी था कि मनुष्य के लौकिक हित आध्यात्मिक लक्ष्य के अधीन हैं। इसी मान्यता का स्वाभाविक परिणाम यह निकला कि सांसारिक शक्ति को आध्यात्मिक शक्ति के अधीन समझा जाता था। भौतिक शक्ति की आध्यात्मिक शक्ति के प्रति यह अधीनता, शरीर पर आत्मा का यह प्रभुत्व, दूसरे शब्दों में शासक पर धर्माधिकारी का यह प्राधिकार मध्यकालीन सभ्यता तथा संस्कृति की प्रमुख विशेषतायें थीं। १४वीं शताब्दी में पोपशाही तथा साम्राज्य के बीच चलने वाले संघर्ष में से एक नवीन दृष्टिकोण की उद्भावना हुई जो अरस्तु की भावना से ओतप्रोत था और जो इस बात पर ज़ोर देता था कि राज्य एक स्वपर्याप्त संस्था है और चर्च से स्वतन्त्र है। इस विचारधारा को हम मार्सीलियो ऑफ

पेडुआ में चरम सीमा पर पहुंचते हुए पाते हैं। उसकी अन्तिम विजय का अर्थ था नवीन धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र-राज्य की विजय, जिसकी १४वीं तथा १५वीं शताब्दियों में धीरे धीरे उद्भावना हो रही थी। यहीं से मध्य युग का अवसान तथा आधुनिक युग की अवतारणा होती है जो राष्ट्रवाद की भावना तथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर ज़ोर देता है। जिन तत्त्वों ने मध्य युग का अन्त किया उनका समझना आवश्यक है।

आधुनिक यूरोप का आवर्त्तन— १३४३ ई० में मार्सीलियो की मृत्यु होने तथा १४६९ ई० में मैकियावेली के जन्म होने के बीच में जो समय गुजरा उसमें यूरोप में एक महान् बौद्धिक एवं आध्यात्मिक क्रांति हुई जिसे **पुनरुत्थान** (Renaissance) कहा जाता है। इसी युग में एक ज़बर्दस्त राजनीतिक उथल पुथल भी हुई; **साम्राज्य** तथा **पोपशाही,** दोनों की शक्ति तथा सम्मान बहुत कम हो गये और उनका कोई विशेष राजनीतिक महत्त्व न रहा, तथा लगभग समस्त पश्चिमी यूरोप में, विशेषकर स्पेन, फ्रांस तथा इंग्लिस्तान में शक्तिशाली राष्ट्रीय राज्यों का आविर्भाव हुआ; राष्ट्रीय राजाओं ने समस्त वह शक्ति जोकि पहिले सामन्तों में विभक्त थी अपने हाथों संग्रहीत कर ली और अपने अपने क्षेत्रों में रहने वाले 'समस्त व्यक्तियों के ऊपर तथा समस्त बातों में' निरंकुश अधिकार का दावा करने लगे। निरंकुश शक्ति का यह दावा एक नई चीज़ थी; यह राजनीतिक संस्थाओं में तथा शासन सम्बन्धी मानव विचारों में एक ज़बर्दस्त क्रांति की सूचक थी। राजनीतिक विचारक शासकों के इस दावे पर आक्रमण करने अथवा उसका समर्थन करने में लग गये। इन नवीन विचारों ने मध्यकालीन प्रतिनिधि संस्थाओं की मौत की घंटी बजा दी।

जिस नवीन राज्य का द्रुत-गति से विकास हो रहा था वह धर्म-निरपेक्ष तथा राष्ट्रीय था। इसकी धर्म-निरपेक्षता राजनीति तथा धर्म में पार्थक्य तथा राज्य की चर्च से पूर्ण स्वाधीनता की द्योतक थी। उसके राष्ट्रीय चरित्र का यह अर्थ था कि नागरिकों को एक सामान्य सरकार की अधीनता में रखने वाला सूत्र राष्ट्रीय एकता की भावना थी। अपने राष्ट्रीय चरित्र के आधार पर ही प्रत्येक राज्य एक पृथक् तथा स्वतंत्र इकाई होने का दावा करता था। हमें यह नहीं मान लेना चाहिये कि राष्ट्रवाद की भावना का परिपाक १६वीं शताब्दी में ही हो गया था; नहीं, राष्ट्र-राज्य प्रणाली को परिपक्वता कहीं १८वीं शताब्दी में जाकर प्राप्त हुई। हमारे पूर्वोक्त कथन का तात्पर्य केवल यह है कि इस युग में जो राजनीतिक परिवर्तन हुए उन्होंने ही आधुनिक धर्म-निरपेक्ष, राष्ट्रीय तथा सर्व-प्रभुत्व-पूर्ण राज्य का शिला आधार रक्खा। सर्व-प्रभुत्व-पूर्ण, धर्म-निरपेक्ष, राष्ट्र-राज्य की विजय का अर्थ था **मध्य काल** का लोप हो जाना तथा आधुनिक संसार का जन्म लेना।

राजा के हाथों में ही समस्त राजनीतिक शक्ति के केन्द्रीभूत हो जाने का आधार उन आर्थिक परिवर्तनों ने तैयार कर दिया था जोकि बहुत लम्बे समय से हो रहे थे और जिनका सामूहिक परिणाम १५वीं शताब्दी के अन्त होने से पहिले ही प्रगट हो चुका

था। मध्य काल में यातायात के साधनों की कमी के कारण राजनीतिक शक्ति विकेन्द्रित थी और व्यापार अधिकतर स्थानीय था। यातायात के साधनों के द्रुत-गति से विकसित हो जाने से राजा में न केवल अपने अधिकार क्षेत्र को बल्कि व्यापार की सीमाओं को भी विस्तृत करने का सामर्थ्य आ गया जिसका स्वाभाविक परिणाम हुआ स्थानीय स्वशासन का सीमित हो जाना। उस युग में एक नये व्यापारी वर्ग का जन्म हो रहा था जिसके पास पूँजी थी और जो प्रत्येक सम्भव बाजार तक पहुँच जाने को उत्सुक था। नगर तथा स्थानीय संघ (Guilds) ऐसे व्यापार का विनियमन करने में असमर्थ थे। इसलिये यह स्वाभाविक ही था कि राजकीय सरकार उस क्षेत्र में पदार्पण करे और व्यापार को प्रोत्साहन दे तथा राष्ट्रीय साधनों का लाभ उठावे। नवीन व्यापारी वर्ग अपना कल्याण सामन्तवाद के विनाश में देखता था, इसलिए सामन्तशाही को शिकंजे में जकड़ने के प्रयत्न में उसने राजा का साथ दिया। इस प्रकार स्वेच्छापूर्वक उसने राजा की शक्ति की वृद्धि में योग दिया और मध्यकालीन राजतंत्र के ऊपर जो नियंत्रण और बन्धन लगे हुए थे वे सब दूर हो गये। इस तरह से आर्थिक परिवर्तनों ने सीमित राजतंत्र के मध्यकालीन विचार का उन्मूलन करने में योग दिया और निरंकुशवाद के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया। १६वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक निरंकुश राजतन्त्र पश्चिमी यूरोप की एक सामान्य शासन पद्धति बन चुका था।

इस निरंकुश राजतंत्र का आधार शक्ति थी; सैबाइन के शब्दों में इसका निर्माण रक्त और लौह से हुआ था। इसने न केवल सामन्तवादी, संविधानवाद और स्वतन्त्र नगरों को नष्ट कर दिया बल्कि धनाढ्य किन्तु दुर्बल चर्च को भी अपने अधीन बना लिया। राजाओं ने, चाहे वे प्रोटेस्टेण्ट थे चाहे कैथोलिक, समान रूप से मठों की सम्पत्ति का अपहरण किया; धर्माधिकारियों पर राज्याधिकारियों का नियंत्रण बढ़ता गया और अंत में चर्च का कानूनी प्राधिकार लुप्त हो गया। अब ईसाई विचार जगत में चर्च केवल एक स्वेच्छिक संघटन अथवा राष्ट्रीय सरकार का एक साझीदार रह गया। चर्च की यह हीन स्थिति पहिले कभी नहीं रही थी। इस प्रकार धर्म-निरपेक्ष राज्य की चर्च के ऊपर विजय हुई और मध्यकालीनवाद का अन्त हो गया।

हो सकता है कि केवल उपरोक्त राजनीतिक उथल पुथल ही मध्य काल का अंत करने के लिये काफ़ी न होती यदि उसके साथ साथ उतनी ही महान् क्रांति विचार जगत में न आई होती। १५वीं शताब्दी के अन्त में होने वाली भौगोलिक खोज ने मानव कल्पना को उत्तेजित किया और उनकी पुरानी धारणाओं को बड़ा धक्का पहुँचाया। कोलम्बस द्वारा अमेरिका की खोज, वास्कोडीगामा द्वारा गुड होप अन्तरीप (Cape of Good Hope) का परिक्रमण तथा अज्ञात महाद्वीपों की खोज के पश्चात् इस प्राचीन धारणा में विश्वास करना कठिन हो गया कि पृथ्वी एक चपटा धरातल है जिसके नीचे नरक तथा ऊपर स्वर्ग है और जिसके किनारे से नीचे लुढ़कने पर मनुष्य एक असीम गहरे गड्ढे में गिर

पड़ता है। इस धारणा ने कि पृथ्वी गेंद की तरह गोल है और सूर्य के चारों ओर घूमती है तथा कॉपर्नीकस (Copernicus) द्वारा बताये हुए विश्व के महा आकार ने विश्व के स्वरूप सम्बन्धी मध्यकालीन धारणा को गहरा आघात पहुँचाया। संसार का केन्द्र अब भूमध्य सागर नहीं रह गया, संसार की घटनाओं का रंगमंच अटलांटिक में आ गया। इस प्रकार "१५वीं शताब्दी के अन्त में मनुष्यों की आश्चर्यचकित दृष्टि के सामने एक नवीन विश्व का अभ्युदय हुआ, उन मनुष्यों की दृष्टि के सामने जोकि पहिले से ही किसी नई चीज़ को खोज निकालने के उत्सुक थे, जो पहिले ही प्राचीन इतिहास के अध्ययन से मिलने वाले बौद्धिक विस्फुरण से मदमत्त थे।"*

हो सकता है कि इन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण खोजों के परिणाम इतने व्यापक न होते यदि छापेखाने का आविष्कार न होता जिसने मनुष्य के सामने इतनी वृहद् मात्रा में अध्ययन सामग्री रखी जितनी कि संसार ने उससे पहिले कभी नहीं देखी थी। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि छापेखाने की स्थापना के तुरन्त बाद के कुछ दर्शकों में लगभग अस्सी लाख पुस्तकों का उत्पादन और वितरण पश्चिमी यूरोप में हुआ। इस प्रकार जो मनुष्य पहिले एक दूसरे से नहीं मिल सकते थे और एक दूसरे के विचारों को नहीं जान सकते थे उनमें भी विचारों का आदान-प्रदान सम्भव हो सका। इस तरह से छापे की कला ने बौद्धिक जीवन को अधिक गतिशील बना दिया। प्राचीन विद्या का पुनरुदय, जिसे सामान्यतः **पुनरुत्थान** (Renaissanee) कहते हैं, इसी समय अपनी चरम सीमा पर जा पहुँचा और उसने जीवन के प्रति उस दृष्टिकोण के निर्माण में बहुत बड़ा योग दिया जो कि आधुनिक विचार की विशेषता है। पुनरुत्थान उन दो महान् बौद्धिक शक्तियों में से है जिन्होंने कि मध्यकालीन यूरोप को आधुनिक यूरोप में परिवर्तित किया; दूसरी शक्ति **सुधार** (Reformation) के नाम से विख्यात है जोकि कुछ आगे चल कर प्रगट हुई। इसके अतिरिक्त उस समय विज्ञान के क्षेत्र में भी कुछ उल्लेखनीय परिवर्तन हो रहे थे। रसायन शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र तथा गणित शास्त्र पर जादू का प्रभाव बड़ी द्रुतगति से दूर हो रहा था और वे सच्चे विज्ञान का रूप धारण करते जा रहे थे। विचार क्षेत्र में भी वैज्ञानिक पद्धति प्रतिष्ठित हो चुकी थी और उसके फलस्वरूप मनुष्य की आत्मा पुराने विचार और विश्वासरूपी बेड़ियों के बन्धन से मुक्त हो रही थी।

पुनरुत्थान (Renaissance)— पुनरुत्थान उन दो महान् आन्दोलनों में

* "Thus a new universe opened at the end of the fifteenth century before the staggered gaze of men already eager to explore, already intoxicated with the intellectual stimulants they had received from their study of antiquity." —Doyle : *History of Political Thought*, page 127.

पहिला था जिन्होंने कि मध्यकालीन यूरोप को आधुनिक यूरोप में परिवर्तित किया। इसने मैकियावेली के विचार पर गहरा प्रभाव डाला जिसे सामान्यतया प्रथम राजनीतिक दार्शनिक समझा जाता है। इसलिये पुनरुत्थान का एक संक्षिप्त सा विवरण देना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है। **सुधार** आन्दोलन की विवेचना अगले अध्याय में की जायेगी।

अंग्रेज़ी शब्द Renaissance का, जिसे किसी अधिक उपयुक्त शब्द के अभाव में हमने पुनरुत्थान कह कर पुकारा है, साधारण अर्थ ज्ञान अथवा विद्या का पुनरुदय होता है। इस दृष्टिकोण से यूरोप में तीन पुनरुत्थान हुए हैं। सर्वप्रथम पुनरुत्थान ८वीं शताब्दी में हुआ जबकि कुछ प्राचीन रोमन विद्या का पुनरुदय हुआ; दूसरा पुनरुत्थान १३वीं शताब्दी में हुआ जबकि अरस्तु तथा अरब विद्या की पुनः खोज की गई। इन दो ने तीसरे के लिए भूमि तैयार की जिसका श्रीगणेश १४वीं शताब्दी में हुआ और जो मोटे रूप से १६वीं शताब्दी के अन्त तक चलता रहा। इसका प्रारम्भ इटली में हुआ और १५वीं शताब्दी में वहीं यह अपने उत्कर्ष पर पहुँचा। इसलिये इसे कभी कभी इटालियन पुनरुत्थान कहते हैं। यूनानी युग के उपरान्त पश्चिमी विचार के इतिहास में इसने सबसे महत्त्वपूर्ण युग का आविर्भाव किया और इसी ने मानवतावादी और आगे चलकर वैज्ञानिक दृष्टिकोण की सूचना दी जो कि यूरोपीय विचार की ही एक विशेषता है। परन्तु हमारा यह समझना भूल होगी कि **पुनरुत्थान** प्राचीन विद्या का पुनरुदय मात्र था; यह निश्चित रूप से ही उस ज्ञान के पुनर्जन्म से कुछ अधिक था जो प्राचीन काल में प्रचलित था और जिसे मध्य काल के लोग भूल गये थे। यह उन भावनाओं और शक्तियों का पुनर्जन्म था जो कि बहुत दिन से दबी पड़ी थीं। इसने १५वीं शताब्दी के लोगों में जीवन की एक नई चेतना, स्वतन्त्रता का एक नया प्रेम तथा जीवन के नये मूल्यों की सृष्टि की। इसने उनके कला और साहित्य को प्रभावित किया और इसी के कारण देशीय भाषाओं के साहित्य की धारा प्रवाहित हो उठी। इसके परिणामस्वरूप ईश्वर की अपेक्षा मनुष्य मानव अध्ययन का अधिक महत्त्वपूर्ण विषय हो गया और मनुष्य मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्ध में आत्मा तथा परमात्मा के सम्बन्ध की अपेक्षा मनुष्य का अनुराग अधिक हो गया। मध्य काल की 'परलोक प्रियता' (other worldliness) अब इतनी प्रिय न रहीं; अब मानव समस्याओं का अध्ययन तथा उनके निराकरण का प्रयत्न होने लगा। प्राचीन अति प्राकृतिक विचार का स्थान एक मानवी तथा प्राकृतिक विचार ने ले लिया। सारांश यह कि **पुनरुत्थान** का अर्थ था चर्च के नियन्त्रण के विरुद्ध धर्म-निरपेक्ष बुद्धि का विद्रोह। जीवन में आनन्दोपभोग पर इसने ज़ोर दिया; इसी लोक में सफलता प्राप्त करना मोक्ष-प्राप्ति से अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाने लगा। संक्षेप में, **पुनरुत्थान ने** इहलोक को अपना केन्द्र-बिन्दु बनाया और यूनानी सोफ़िस्टों की इस उक्ति को अपनाया कि 'मनुष्य ही प्रत्येक वस्तु का मापदण्ड है।' (Man is the measure of all things.) मेयर के शब्दों में यह 'नवीन भावना का वह प्रवाह था जिसने अन्त

में मध्यकालीन व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया, १७वीं शताब्दी के नवीन संसार की आधार शिला रखी, उस संसार की जिसने कि **मध्य काल** का तत्त्वतः सदा के लिये अन्त कर दिया।' * फ्रांसीसी, अंग्रेज़, जर्मन तथा हालैण्ड के विचारकों ने इस प्रवृत्ति की व्याख्या की तथा आधुनिक संसार के लिये बौद्धिक वातावरण की सृष्टि की। मध्यकालवाद के ध्वंसावशेषों से छुटकारा पाने में यूरोप को डेढ़ सौ वर्ष से अधिक लगे।

मैकियावेली (Machiavelli)— उपरोक्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण राजनीतिक तथा बौद्धिक परिवर्तनों ने वैसे ही महान् परिवर्तन राजनीतिक सिद्धान्त में भी किये जिनका सर्वश्रेष्ठ रूप निकोलो मैकियावेली के लेखों में मिलता है। उसका जन्म १४६६ ई० में फ्लोरेन्स में हुआ और १५२७ ई० में उसकी मृत्यु हुई। मैकियावेली को 'अपने समय का शिशु' कहा जाता है और ऐसा कहना उचित ही है। वैसे तो प्रत्येक विचारक के विचार अपने देश और काल के रंग में रंगे हुए होते हैं, किन्तु यह रंग मैकियावेली पर सब से गहरा चढ़ा हुआ दिखाई पड़ता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि वह भिन्न परिस्थितियों में रहता तो उसके विचार और लेख भी भिन्न होते।

जिन बातों ने मैकियावेली के ऊपर सब से गहरा प्रभाव डाला और उसके राजनीतिक दर्शन की रूपरेखा निर्धारित की उन्हें हम निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत रख सकते हैं: (१) इटली का राजनीतिक विभाजन तथा उसके फलस्वरूप फैली हुई अव्यवस्था, दलबन्दी तथा भ्रष्टाचार पूर्ण स्थिति जोकि उस समय देश में फैली हुई थी; (२) राजतंत्र की पुनर्स्थापना जिसने प्रायः समस्त मध्यकालीन प्रतिनिधि संस्थाओं को धराशायी कर दिया था, तथा (३) पुनरुत्थान जोकि मैकियावेली की जन्मभूमि फ्लोरेन्स में अपने तीव्रतम रूप में पाया जाता था। इनमें से पिछली दो बातों का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। प्रथम की विवेचना नीचे की जाती है।

लगभग तीन सौ वर्षों तक इटालियन पठार में एक बहुत बड़ी संख्या छोटे छोटे किन्तु स्वतन्त्र राज्यों की पाई जाती थी; इनमें से कुछ राज्य प्राचीन यूनान के नगर राज्यों के सदृश थे। इनमें से फ्लोरेन्स तथा वेनिस सरीखे कुछ राज्य गणराज्य थे; किन्तु शेष पर निरंकुश राजाओं का शासन था। आन्तरिक रूप से ये राज्य घोर राजनीतिक प्रतिस्पर्धाओं तथा व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं के गढ़ थे और बाहरी रूप से ये निरन्तर एक दूसरे के साथ संघर्ष करते रहते थे। १६वीं शताब्दी के आरम्भ तक इन राज्यों का एक हद तक संघटीकरण हो गया और सारे पठार में पाँच राज्य स्थापित हो

* "Renaissance is .... that march of a new spirit which finally shattered the mediaeval order, laid the foundations of a new world of the seventeenth century— the world which, in essentials, put an end to the Middle Ages once and for all."

—Mayer : *Political Thought, The European Tradition*, page 107.

गये थे जो ये हैं : **१. नेपल्स राज्य, २. रोमन कैथोलिक चर्च का क्षेत्र, ३. डची ऑफ मिलान, ४. वेनिस गणराज्य,** तथा **५. फ्लोरेन्स गणराज्य।** इटली के इस राजनीतिक विभाजन तथा उक्त पाँचों राज्यों के परस्पर संघर्ष ने देश को दुर्बल बना दिया और वह आसानी से अपने शक्तिशाली पड़ोसियों, फ्रांस, जर्मनी तथा स्पेन की महत्त्वाकांक्षाओं का शिकार बनने लगा। मैकियावेली ने अपनी तीक्ष्ण दृष्टि से यह देख लिया कि यदि इटली में एक दृढ़ शक्तिशाली तथा केन्द्रीय सरकार स्थापित न की गई तो वह या तो फ्रांस या स्पेन द्वारा हड़प कर लिया जायेगा या उसे हथियाने के लिए होने वाले उनके परस्पर संघर्ष की चक्की में वह पिस जायेगा। मैकियावेली एक सच्चा देशभक्त था; उसकी यह तीव्र आकांक्षा थी कि किसी न किसी तरह इटली में एक शक्तिशाली सरकार की स्थापना हो जोकि देश में आन्तरिक शान्ति स्थापित कर सके, विदेशियों के आक्रमण से रक्षा कर सके और विदेशियों को देश में से बाहर निकाल सके। इस उद्देश्य को दृष्टि में रखते हुए उसने तीन महान् ग्रन्थों की रचना की जिनके नाम हैं : **१. आर्ट ऑफ वार** (Art of War), **२. दी डिस्कोर्सेज ऑन लिवी** (The Discourses on Livy), **३. प्रिंस** (Prince)। इन ग्रन्थों में शासन कला की विवेचना की गई है, राज्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं; इन्हें लेखक ने एक व्यवहार-प्रधान राजनीतिज्ञ के दृष्टिकोण से लिखा है। इनमें इस बात की विवेचना की गई है कि सरकार का निर्माण किस प्रकार का होना चाहिये, कौन कौन से साधनों को अपनाने से सरकार को सबल बनाया जा सकता है, कौन सी नीतियों के अपनाने से सरकार अपनी शक्तियों को प्रशस्त कर सकती है और वे कौनसी गलतियाँ हैं जिनसे बचना प्रगति करने के लिये आवश्यक है। केवल बौद्धिक (Academic) और सैद्धांतिक प्रश्नों में उसे कोई दिलचस्पी न थी। उसने इटली की शोचनीय स्थिति के कारणों की खोज की और वे कारण उसे देश में फैली हुई फूट, अव्यवस्था, रक्षा के साधनों के अभाव; तथा फ्रांस, जर्मनी, स्विट्ज़रलैण्ड तथा स्पेन के विदेशी लुटेरों द्वारा विनाश में मिले। रोग का निदान कर लेने के बाद उसने उपचार के साधनों पर विचार किया और इस परिणाम पर पहुँचा कि इटली को त्राण देने के लिए एक सबल तथा निरंकुश राजा की आवश्यकता थी जो सिद्धान्तों के प्रति उदासीन हो। वैसे उसकी सहानुभूति गणतंत्रीय शासन प्रणाली के साथ थी। उसकी धारणा के आततायी को आधुनिक परिभाषा में हम तानाशाह अथवा अधिनायक (Dictator) कह सकते हैं। मैकियावेली ने इटली के लिये गणतंत्रीय शासन-प्रणाली की सिफारिश इसलिये नहीं की क्योंकि ऐसी शासन पद्धति के लिये नागरिकों का नीतिपरायण, ईमानदार तथा देशभक्त होना आवश्यक है; किन्तु तत्कालीन इटलीवालों में इन गुणों का सर्वथा अभाव था। वे भ्रष्ट थे, दलबन्दी से ग्रस्त थे तथा स्वार्थी थे। उनके लिये एक राजा अथवा तानाशाह एक दुखद आवश्यकता थी, यद्यपि यह एक क्षणिक आवश्यकता थी। उसकी यह धारणा इस बात से भी संगति खाती थी कि उस युग में राज्य तथा चर्च दोनों में ही शक्तिशाली व्यक्ति शासन करते

थे। राजा का एकमात्र उद्देश्य देश को सबल बनाना है, उसे संगठित करना है, शान्ति तथा व्यवस्था स्थापित करनी है और विदेशी आक्रान्ताओं को खदेड़ बाहर करना है। इस पवित्र तथा महान् उद्देश्य की प्राप्ति के लिये कोई भी साधन अपनाना उचित है; यदि साध्य अच्छा है तो साधन कैसे भी क्यों न हों, हमें उनके चरित्र के सम्बन्ध में कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिये। इस धारणा में राजनीति का नीतिशास्त्र से पृथक्करण स्पष्ट रूप से सन्निहित है जोकि मैकियावेलीवाद का सार है और जिसके कारण वह मध्य काल की अपेक्षा आधुनिक काल का अधिक हो गया। मैकियावेली की यह धारणा कि जिस प्रकार नाविक कला का आचार शास्त्र से कोई संम्बन्ध नहीं है उसी प्रकार शासन कला का भी नहीं है, कैसे बनी, इस बात की समीक्षा हम आगे चल कर करेंगे। यहाँ तो केवल इतना ही कहना प्रर्याप्त होगा कि यह बहुत बड़ी हद तक **पुनरुत्थान** (Renaissance) का परिणाम थी। याद रहे कि **पुनरुत्थान** के समय में फ्लोरेन्स इटली की संस्कृति का माना हुआ केन्द्र था और मैकियावेली एड़ी से चोटी तक फ्लोरेन्टाइन था, अर्थात् फ्लोरेन्स की संस्कृति उसकी रग रग में व्याप्त थी। उसने प्राचीन साहित्य का, विशेष रूप से इतिहास का, अध्ययन किया जिनसे उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ तृप्त होती थीं। "इसी साहित्य की भावना से उत्प्रेरित होकर उसकी स्वभावतः प्रखर बुद्धि ने समस्याओं को सुलझाने की चेष्टा की और उनके वे निराकरण निकाले जोकि उससे पहिली १२ शताब्दियों में सोचे गये हलों से इतने भिन्न थे कि मानो वे शताब्दियाँ कभी आई ही न हों।"*

हम पहिले ही कह चुके हैं कि मैकियावेली की पुस्तकें शासन कला सम्बन्धी ग्रन्थ हैं; और उसकी दिलचस्पी राज्य के सिद्धान्त की अपेक्षा उन नीतियों और हथकण्डों में अधिक है जिनको अपनाकर राज्य अपनी शक्तियों का प्रसार करते हैं। उसके विचारानुसार राजनीति का लक्ष्य राजनीतिक शक्ति को सुरक्षित रखना तथा उसकी वृद्धि करना है; यही वह कसौटी है जिसके ऊपर वह सरकार की नीतियों की सफलता अथवा विफलता को कसता है। किन्तु हमारे ऐसा कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि उसका कोई राजनीतिक दर्शन ही नहीं था और राजनीतिक विचार को उसकी कोई देन ही नहीं है। यदि ऐसा होता तो उसे राजनीतिक विचार के इतिहास में इतना प्रतिष्ठित स्थान न मिलता और उसे सर्वप्रथम आधुनिक राजनीतिक विचारक न समझा जाता। वह हमारे अध्ययन का पात्र इसलिये है क्योंकि उसने तत्कालीन महत्त्वपूर्ण घटनाओं

---

* "It was under the stimulus of the spirit embodied in this literature that his naturally acute intelligence attacked the problems and propounded solutions which, in both methods and results, were as distinct from those of the preceding twelve centuries as if those centuries had never existed."

—Dunning : *Political Theories : Ancient and Mediaeval*, page 290.

की व्याख्या करने तथा उनका तर्कपूर्ण अर्थ बताने का एक गम्भीर प्रयत्न किया है और कुछ ऐसे सूत्रों की रचना की है जोकि आने वाले समय में राजनीतिक कार्यकलाप पर आच्छादित रहे।

अब हम उन राजनीतिक सिद्धान्तों पर आते हैं जोकि मैकियावेली को सर्वप्रथम आधुनिक राजनीतिक दार्शनिक बनाते हैं और जिनके कारण उसे अपने समकालीनों की अपेक्षा, जिनमें से अधिकतर पर अभी मध्यकालवाद का प्रभाव था, अपने उत्तरकालीन विचारकों की श्रेणी में अधिक रक्खा जाता है। परन्तु दुर्भाग्यवश उसने इन सिद्धान्तों को एक क्रमबद्ध रूप कभी नहीं दिया। इसका कारण यह है, जैसा कि पहिले ही कहा जा चुका है कि उसका मुख्य उद्देश्य राज्य के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना नहीं था बल्कि राजनीतिज्ञता की समस्याओं को सुलझाना था। वह कोई सिद्धान्तशास्त्री या दार्शनिक नहीं था, बल्कि एक व्यवहारप्रधान यथार्थवादी था। जो कुछ भी राजनीतिक सिद्धान्त हमें उसके लेखों में मिलते हैं उनका विकास उसके द्वारा व्यावहारिक प्रश्नों का उत्तर देने की प्रक्रिया में से हुआ था। उसकी मुख्य दिलचस्पी इस बात में थी कि राजनीतिज्ञों के लिये कुछ उपयोगी सूक्तियाँ पेश की जायें। परन्तु उन सूक्तियों के पीछे एक सामान्य दृष्टिकोण भी छिपा है जिसे विकसित करके एक क्रमबद्ध सिद्धान्त का निर्माण किया जा सकता है जैसा कि आगे चल कर किया भी गया। हम उन आधारभूत धारणाओं का उल्लेख करेंगे जिनके ऊपर मैकियावेली की सूक्तियाँ आधारित हैं और जिन्हें आगे चलकर एक निश्चित राज्य सिद्धान्त का आधार बनाया गया। परन्तु उनका वर्णन करने से पहिले मैकियावेली की पद्धति का उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि उसकी पद्धति उसे मध्यकाल के विचारकों से अलग करके आधुनिक विचारकों की श्रेणी में रखती है।

मैकियावेली की पद्धति— मैकियावेली ने जिस समस्या के हल करने का प्रयास किया वह मध्यकाल के विचारकों की समस्या से भिन्न थी। इसलिये उसकी पद्धति का भी उनकी पद्धति से उतना ही भिन्न होना स्वाभाविक तथा अवश्यम्भावी था। **पोप** तथा **सम्राट्** के पारस्परिक सम्बन्ध की समस्या में मैकियावेली का कोई अनुराग न था, इस लिये यदि उसकी रचनाओं में 'दो तलवारों के सिद्धान्त', चर्च फादर्स की सम्मतियों, धर्म ग्रन्थों के प्राधिकारों, केनन लॉ, तथा स्कॉलिस्टिक्स और विधिशास्त्रियों की अन्य विषय सामग्री का कोई उल्लेख नहीं है तो इसमें क्या आश्चर्य है। उसने नीति, न्याय तथा कर्तव्य के अमूर्त सिद्धान्तों के ऊपर आधारित निगमन तर्क पद्धति का परित्याग कर दिया जिसके ऊपर कि मध्यकाल के राजनीतिक सिद्धान्तों की रचना हुई थी। उसने ईसाई धर्म की उन मान्यताओं की भी अवहेलना की जिनकी सत्यता में कोई भी मध्यकालीन विचारक सन्देह करने का साहस नहीं कर सकता था। अपनी गवेषणा के लिये उसने अनुभूति-प्रधान (Empirical) अथवा ऐतिहासिक पद्धति को अपनाया। ऐसा करने में उसने अरस्तु के पदचिह्नों का अनुसरण किया। अरस्तु के बाद राजनीतिक गवेषणा के क्षेत्र

में अनुभूति-प्रधान पद्धति को अपनाने वाला वह प्रथम विचारक था। मध्यकालवादियों के विपरीत जो कि ईश्वर की इच्छा तथा शक्ति के ऊपर निर्भर रहते थे उसने इतिहास तथा तर्क का सहारा लिया। इसका एक महत्त्वपूर्ण परिणाम हुआ। इसने राजनीति विज्ञान का आधार ही परिवर्तित कर दिया और राज्य को धर्माधिकारियों की दासता से मुक्त कर दिया। उसकी तर्क पद्धति तत्कालीन धर्म शक्ति को एक चुनौती थी और इसमें मानव व्यवहार के पथ-प्रदर्शक के रूप में ईश्वरी नियम का बहिष्कार निहित था। "प्रिंस वह सर्वप्रथम महान् कृति थी जिसमें कि ईश्वरीय तत्त्व तथा मानवीय तत्त्व में स्पष्ट संघर्ष दिखलाई पड़ता था और जिसमें पूर्ववर्ती नसलों द्वारा अपनाई हुई प्राचीन सूक्तियों को सैद्धान्तिक रूप में बुद्धिहीन एवं व्यवहारिक रूप से पथभ्रष्ट करने वाली समझकर त्याग दिया गया।"*

मैकियावेली के समक्ष मुख्य समस्या यह थी कि सम्पूर्ण इटली को एक दृढ़ केन्द्रीय सरकार की छत्रछाया में किस प्रकार संगठित किया जाये ताकि वह आंतरिक शांति स्थापित रख सके और विदेशी आक्रान्ताओं का सफलतापूर्वक सामना कर सके। इस प्रश्न का उत्तर खोजने के लिये वह इतिहास, विशेष रूप से रोम के इतिहास की ओर आकृष्ट हुआ और उसमें उसने राज्य के उत्थान पतन के कारणों का अध्ययन किया, मनुष्य के अनुभवों का विश्लेषण किया और उसके द्वारा इस बात का पता लगाया कि मनुष्यों को समाजरूपी माला में गूंथने वाला सूत्र क्या है। अपनी समस्या का समाधान करने के लिये मैकियावेली ने इतिहास का आश्रय क्यों लिया और नियमन पद्धति (Deductive method) को क्यों नहीं अपनाया जैसा कि अफलातून तथा सन्त ऑगस्टाइन ने इतिहास का दर्शन देने के प्रयत्न में किया था? इस प्रश्न का सर्वोत्तम उत्तर स्वयं उसी के शब्दों में दिया जा सकता है। "बुद्धिमान लोग कहते हैं, और उनका ऐसा कहना अकारण और निराधार नहीं है, कि जो व्यक्ति यह जानना चाहता है कि भविष्य में क्या होने जा रहा है तो उसे इस बात पर विचार करना चाहिये कि भूत में क्या हो चुका है; क्योंकि संसार की प्रत्येक घटना, प्रत्येक समय में, भूतकाल से एक तात्त्विक तद्रूपता रखती है। ऐसा इसलिये होता है क्योंकि वे घटनायें मनुष्यों द्वारा सम्पन्न होती हैं, उन मनुष्यों द्वारा जिनकी भावनायें सदा एकरस रहती हैं। इसलिये उनके परिणामों में भी एकरसता आ जाना स्वाभाविक और आवश्यक है। समस्त नगरों (राज्यों) में तथा समस्त जातियों में ऐसी ही वासनाएँ तथा ऐसी ही

* "The Prince was the first great work in which the two authorities, the Divine and the human, were clearly seen in collision, and in which the venerable axioms of earlier generations were rejected as practically misleading and theoretically unsound."

—*Cambridge Modern History*, Vol. I, page 213.

प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं जैसी कि पहिले से रही है।"* मैकियावेली के अनुसार, हमें भविष्य में क्या करना चाहिये, इस प्रश्न का उत्तर हम इस बात का अध्ययन करके पा सकते हैं कि वैसी ही परिस्थितियों में मनुष्य ने भूतकाल में क्या किया था और उसके क्या परिणाम निकले। भूत के अध्ययन से हमें यह पता चल जाता है कि सामान्यतया सफलता तथा विफलता के क्या कारण होते हैं। इस प्रकार मैकियावेली की पद्धति विशिष्ट से चल कर सामान्य तक पहुँचने की है। मैकियावेली सरीखे व्यक्ति के लिये जो कि मनुष्यों को अपने यथार्थ स्वरूप में देखता है और उनके आदर्श रूप से कोई सरोकार नहीं रखता, भूत का अध्ययन ही भविष्य का पथ-प्रदर्शक बन सकता है। परन्तु जिस भूत पर मैकियावेली की आँखें लगी हुई थीं वह अत्यन्त प्राचीन भूत था, वह प्राचीन यूनान, और विशेष रूप से प्राचीन रोम था जिसने उसे राजनीतिक तथ्यों का अध्ययन प्रदान किया। मध्यकाल की ओर उसकी दृष्टि नहीं गई। यहाँ पर पुनर्जागरण का प्रभाव सबसे अधिक स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ता है।

प्रो० डनिंग की धारणा है कि मैकियावेली की पद्धति देखने में जितनी ऐतिहासिक लगती है, वास्तव में उतनी नहीं है। वास्तव में उसने अपने परिणाम भूत से नहीं निकाले; उनका अधिकतर आधार वह था जोकि उसने अपने समय में स्वयं अपनी आँखों से देखा था। इतिहास का प्रयोग तो उसने अपने परिणामों को केवल पुष्ट करने के लिए किया है। डनिंग के शब्दों में, 'उसने लिवी (Livy) का प्रयोग सिद्धान्तों को पुष्ट करने के लिये किया, उन्हें खोजने के लिये नहीं।' इसी प्रकार सैबाइन का भी यही कहना है कि यह कहना भ्रमपूर्ण है कि मैकियावेली ने ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण किया। इतिहास का प्रयोग तो उसने उस सिद्धान्त का दृष्टान्त देने अथवा उसे पुष्ट करने के लिये किया जोकि उसने बिना इतिहास का आश्रय लिये हुए ही निकाल लिया था। उसकी पद्धति, यदि कोई थी तो, पर्यवेक्षण की थी जिसमें उसका चातुर्य तथा सहज बुद्धि काम करती थी। यह कथन काफी हद तक सत्य दिखाई पड़ता है। मैकियावेली के परिणामों का आधार कोई ऐतिहासिक खोज नहीं थी; उनका आधार वह चतुर विश्लेषण था जोकि उसने उन व्यक्तियों का किया था जिनका उससे एक राज्या-

---

* "The wise are wont to say, and not at random, or without foundation, that he who desires to foresee what is going to take place, should consider what has taken place; because all the things in the world, at all periods, have an essential correspondence with past times. This arises because, as they are the work of men who have and always have had the same passions, they must of necessity produce the same effects. In all cities and among all peoples there exist the same appetites and the same dispositions that have always existed."

धिकारी होने के नाते वास्ता पड़ता था। १६वीं शताब्दी के फ्लोरेन्स के लगभग सभी इतिहासकारों तथा लेखकों की भाँति मैकियावेली की पद्धति देखने में विवेचनात्मक है; एक सीमा तक यह प्रजननात्मक (Genetic) है। उसके लेखों में "कुछ निश्चित आधारभूत विश्वास सन्निहित हैं जिनके ऊपर उनकी तर्कना का सम्पूर्ण ढाँचा खड़ा हुआ है। .... प्रत्येक स्थिति में यह बात स्पष्ट है कि प्रत्येक काल की घटनाओं की गति तथा उनसे निकलने वाले निष्कर्ष के सम्बन्ध में उसकी जो धारणायें थीं उनके ऊपर निर्णयात्मक प्रभाव, अन्तिम रूप से, उसके मानव सम्बन्धी एक विशेष दृष्टिकोण से था जोकि बाह्य घटनाओं के ऊपर अपनी छाप डालता है, उनका रूप निर्धारित करता है तथा उन्हें नियन्त्रित करता है। मानव स्वभाव के सम्बन्ध में उसकी जो धारणा थी उसे उसने सम्पूर्ण इतिहास के एक निश्चित सिद्धान्त का आधार बनाया .... यद्यपि मैकियावेली इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि नीतिशास्त्र तथा राजनीति अलग अलग हैं और शासन कला का कोई सम्बन्ध आचारशास्त्र से नहीं है, तथापि दोनों का आधार एक ही मान्यता थी।"*

इस प्रसंग में महत्त्वपूर्ण तथा विवादास्पद प्रश्न यह नहीं है कि मैकियावेली ने अपनी सामान्य मान्यताओं को प्राच्य इतिहास के आधार पर निश्चित किया या केवल अपनी समकालीन घटनाओं के आलोचनात्मक तथा गम्भीर विश्लेषण द्वारा निसृति सिद्धान्तों का पोषण करने के लिए ही इतिहास का प्रयोग किया; वह यह है कि उसने प्राधिकार के ऊपर निर्भर करने की पद्धति का परित्याग कर दिया जिसका प्रयोग मध्यकालीन विचारकों ने किया था। इस दृष्टिकोण से उसने अपने आपको **पुनर्जागरण** (Renaissance) का शिशु तथा नवीन संसार का सन्देशवाहक सिद्ध कर दिया। राजनीतिक समस्याओं के प्रति उसका दृष्टिकोण अनुभवप्रधान था और उसकी भावना

---

* His writings "involve certain fundamental beliefs or hypotheses upon which the whole structure of their reasoning rests... It is in any case clear that what controlled his views of the movement of events, whether in his own day or in earlier times, and of the lessons which they convey, was, in the last analysis, a specific notion of man's nature as a permanent force realising itself and imposing itself upon external things, shaping and subjecting them. The conception of human nature to which he adhered was used as the foundation for a definite theory of history as a whole .... Though Machiavelli inferred that ethics and politics are distinct, and that the art of government is out of relation to morals, he founded both upon the same assumptions." *Cambridge Modern History*, Vol. I, page 208.

ऐतिहासिक थी। अपनी ऐतिहासिक भावना के कारण ही उसने निगमन पद्धति, परम्परा भक्ति तथा ईश्वरीय क़ानून के विषय में प्रचलित मान्यताओं को ठुकरा दिया।

मानव प्रेरणाओं के विषय में मैकियावेली का सिद्धान्त : विश्व-व्यापक अहंवाद (Machiavelli's Theory of Human Motives : Universal Egoism)- अब मैकियावेली के राजनीतिक सिद्धान्तों की विवेचना करने से पूर्व हमें यह देख लेना चाहिये कि मानव स्वभाव तथा मनुष्य की प्रेरक शक्तियों के विषय में उसने क्या मान्यतायें स्थापित की हैं। इन मान्यताओं का बहुत गहरा प्रभाव उसके राज्य के जन्म, प्रकृति तथा उद्देश्य सम्बन्धी धारणाओं पर पड़ा है। अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये सरकार को क्या ढंग अपनाने चाहियें? उसके द्वारा दिये गये इस प्रश्न के उत्तर को भी इन्हीं मान्यताओं ने निर्धारित किया है। उसका विश्वास था कि मनुष्य जन्म से बुरे होते हैं; उनमें कोई अन्तर्निहित अच्छाई नहीं होती। मनुष्यों को वह दुर्बलता, मूर्खता तथा दुष्टता का सम्मिश्रण समझता था जिन्हें प्रकृति ने चालाक के हाथ का खिलौना और निरंकुश का शिकार बनने के लिये बनाया है। उसने उन्हें 'कृतघ्न, चंचल, धोखेबाज, कायर तथा लोभी' कह कर पुकारा है। वह मनुष्य को केवल एक पशु समझता था जोकि भय, शक्ति के लोभ, अभिमान, तथा प्रपंची स्वार्थ द्वारा प्रेरित होता है। वे बुरे और पतित हैं क्योंकि उनमें से कोई भी कोई अच्छा कार्य तब तक नहीं करता जब तक कि उसे ऐसा करने को विवश न किया जाये। स्वयं मैकियावेली के शब्दों में, जब भी मनुष्यों को इच्छानुसार करने की छूट और स्वतंत्रता दे दी जाती है तो एकदम प्रत्येक बात में गड़बड़ और अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। मनुष्य अच्छाई की अपेक्षा बुराई की ओर अधिक प्रवृत्त रहते हैं। जैसा कि उन सब लोगों का कहना है जो कि शासन कला की विवेचना करते हैं और जैसा कि प्रत्येक काल के इतिहास से सिद्ध है, जो कोई भी एक राज्य का संगठन करता है या उसके लिये क़ानून बनाता है, उसे अवश्य ही यह मानकर चलना चाहिये कि समस्त मनुष्य बुरे हैं और स्वतंत्र अवसर पाने पर वे अपनी स्वभावगत दुष्टता के अनुसार ही आचरण करेंगे। उनको बुरा तथा पतित बनाने वाली चीज़ उनके अन्तस्तल की स्वार्थपरता तथा आक्रमणशीलता है। प्रत्येक मनुष्य जीवन की सर्वोत्तम चीज़ों का अधिकतम भाग अपने लिये चाहता है। शक्ति तथा आधिपत्य की मानवीय इच्छाओं की कोई सीमा नहीं है। इसीलिये मनुष्य अपने को एक निरंतर संघर्ष और प्रतिस्पर्धा की स्थिति में पाते हैं और यदि क़ानून के बल द्वारा उन्हें नियंत्रित न किया जाये तो पूर्ण अराजकता का फैल जाना निश्चित और अवश्यम्भावी है। क्षुद्र जनता मुख्य रूप से सुरक्षा चाहती है और इसके लिये वह क़ानून के बन्धन और नियंत्रण को सहर्ष स्वीकार कर लेती है; तन और धन की सुरक्षा का यही एकमात्र उपाय है। इस आधारभूत आवश्यकता की तृप्ति हो जाने पर वे जीवन की दूसरी वस्तुओं, जैसे धन और शक्ति, की ओर लालायित होते हैं। परन्तु

प्रत्येक व्यक्ति ये चीज़ें केवल अपने तथा अपने परिवार ही के लिये चाहता है और इनकी प्राप्ति के लिये दूसरों के साथ सहयोग केवल इसीलिए करता है क्योंकि वह जानता है कि उसके बिना सुरक्षा असम्भव है और सुरक्षा के अभाव में किसी भी शुभ तथा आनन्द-प्रद वस्तु की प्राप्ति का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

यह मानव प्रकृति इस परिवर्तनशील जगत में भी अपरिवर्तित रहती है; इसका जो उपरोक्त विश्लेषण हमने मैकियावेली के अनुसार किया है उससे कुछ आवश्यक परिणाम निकलते हैं, हमें उन्हें स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये। सर्वप्रथम तो यह मानव स्वभाव के सम्बन्ध में अफ़लातून तथा अरस्तु द्वारा प्रतिपादित या वैसे ही अन्य सिद्धान्तों का, जोकि राज्य का जन्म मनुष्य के सामाजिक स्वभाव में देखते हैं, खण्डन करता है। मैकियावेली के अनुसार समाज का जन्म एक आकस्मिक घटना है जो सुरक्षा तथा बचाव की आवश्यकता से उत्पन्न हुई है। व्यक्ति अपनी दुर्बलता के कारण पर्याप्त तथा समुचित रूप से अपने को सुरक्षित नहीं रख सकता, इसलिये सरकार की आवश्यकता होती है। इसलिये जो व्यक्ति एक सफल शासक बनना चाहता है उसे प्रजा को धन जन की अधिकतम सुरक्षा प्रदान करनी चाहिये। इसी धारणा के प्रकाश में तो हम मैकियावेली के इस उच्छृङ्खल कथन को समझ सकते हैं कि एक व्यक्ति अपनी विरासत को ज़ब्त किये जाने की अपेक्षा अपने पिता की हत्या को अधिक सरलता से क्षमा कर सकता है। दूसरी बात यह है कि एक बुद्धिमान तथा सफल शासक जिन मानव प्रेरणाओं पर भरोसा रख सकता है वे अहंपूर्ण और स्वार्थपूर्ण हैं, नैतिक अथवा परमार्थपूर्ण नहीं। उसे अपनी नीतियों का नैतिक और आदर्शवादी औचित्य देने की कोई आवश्यकता नहीं और न ही उसके लिये जनता की सामाजिक और दानशील प्रवृत्तियों को गुदगुदाना आवश्यक है। उसका एकमात्र उद्देश्य इतना शक्तिशाली बनना है ताकि वह प्रजाजन को वह सुरक्षा दे सके जिसे वे आरम्भ में चाहते थे और अब भी चाहते हैं। मनुष्य में कोई सामाजिक गुण नहीं है; जिन्हें हम सामाजिक सद्गुण कहते हैं वे केवल स्वार्थ के ही वेश बदले हुए रूप हैं। वे इस बात का परिणाम हैं कि मनुष्य अपने अनुभव से यह जानता है कि एक सामाजिक संगठित जीवन से व्यक्ति को हानि की अपेक्षा लाभ अधिक रहता है। एक शताब्दी उपरान्त हॉब्स ने जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, मैकियावेली की यह धारणा उससे कितनी मिलती जुलती है। इसे वैज्ञानिक बनाकर और एक मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान करके हॉब्स ने इसे परिष्कृत किया। तीसरी बात जो इस विश्लेषण में निहित है वह यह है कि राजनीति का महान् खेल नैतिक सिद्धान्तों के अनुसार नहीं खेला जा सकता। यदि प्रजाजन पतित हैं, यदि वे धर्म की अपेक्षा पाप की ओर अधिक प्रवृत्त हैं, यदि विवश हुए बिना कोई भी कोई अच्छा काम नहीं करता तो राजा का उनके नैतिक तथा सामाजिक सद्गुणों के ऊपर भरोसा रखना न केवल निरर्थक है बल्कि मूर्खता है। एक बुद्धिमान् शासक का उद्देश्य प्रजा का

प्रेम प्राप्त करने की अपेक्षा उन पर अपना आतंक जमाने का अधिक होना चाहिए। मनुष्यों को शक्ति द्वारा नियन्त्रित करना चाहिये क्योंकि वही एक ऐसा शस्त्र है जिसका मूल्य वे समझते हैं। शक्ति से भय उत्पन्न होता है; और भय में प्रेम की अपेक्षा कहीं अधिक अनुशासनात्मक शक्ति है क्योंकि प्रेम परीक्षा के समय आसानी से साथ छोड़ बैठता है। शक्ति का सहारा लेकर ही कानून मनुष्य के उन स्वार्थपूर्ण कृत्यों को रोक सकते हैं जोकि सामाजिक स्थिरता के लिये हानिकर हैं। इस तर्क का परिणाम यह हुआ कि मैकियावेली ने राजनीति का आचारशास्त्र तथा धर्म से पूर्ण विच्छेद कर दिया। नैतिकता तथा धर्म के प्रति उसने जो रुख अपनाया, राजनीतिक विचार के इतिहास में उसका प्रभाव उसकी अनुभवप्रधान अथवा ऐतिहासिक पद्धति की अपेक्षा कहीं अधिक पड़ा है। मध्य युग से उसके विच्छेद करने में भी उसने अधिक योग दिया है। किसी भी मध्यकालीन विचारक ने राज्य सिद्धान्त के सम्बन्ध में नैतिकता तथा धर्म को इतना तुच्छ तथा महत्त्वहीन स्थान नहीं दिया जितना कि मैकियावेली ने। इसलिये इसके सम्बन्ध में दो शब्द कहना अत्यन्त आवश्यक है और यथास्थान हम उनका उल्लेख करेंगे। मानव स्वभाव सम्बन्धी मैकियावेली की धारणा का एक और परिणाम भी निकलता है और वह यह है: यदि मनुष्य स्वभावतः ही बुरा है; यदि वह दूसरे के साथ कभी भी तब तक सद्व्यवहार नहीं करता जब तक ऐसा करने के लिए परिस्थितियाँ उसे विवश न कर दें; और यदि मानव स्वभाव युगयुगान्तर में अपरिवर्तित ही रहता है तो इसका आवश्यक परिणाम यह निकलता है कि वह स्वयं अपना सुधार नहीं कर सकता। राज्य के लिये उसमें सुधार करना न शिक्षा द्वारा सम्भव है जैसा कि अफलातून तथा अरस्तु की कामना थी और न सामाजिक तथा आर्थिक संस्थाओं में सुधार करके जैसा कि साम्यवादियों का विचार है। केवल शक्ति और दमन द्वारा ही मनुष्य की अन्तर्निहित कुप्रवृत्तियों को नियन्त्रण में रखा जा सकता है। इसलिये सरकार का मुख्य साधन शक्ति होनी चाहिये।

मानव स्वभाव के पतितता, क्षुद्रता तथा स्वार्थपरता में मैकियावेली का जो विश्वास था उसे मान्यता (supposition) कहकर पुकारा गया है। वह मान्यता इसलिये है क्योंकि यद्यपि मैकियावेली उसे राजनीति विज्ञान का एक स्वयंसिद्ध सत्य समझता था; किन्तु उसने कहीं उसकी व्याख्या करने की चेष्टा नहीं की, मानव स्वभाव का विश्लेषण करके उसे पुष्ट करने का प्रयास नहीं किया जैसा कि आगे चलकर हॉब्स ने किया। उसने अपने विश्वास को केवल ज़ोरदार शब्दों में व्यक्त तथा पुनर्व्यक्त किया है। परन्तु किसी विश्वास को बार बार अभिव्यक्त करने से वह स्वयंसिद्ध नहीं बन जाता और उसके लिये प्रमाण की आवश्यकता समाप्त नहीं हो जाती। मैकियावेली ने अपना यह विश्वास कैसे बनाया? अपने पूर्ववर्ती लेखकों का अध्ययन करके या १६वीं शताब्दी के पतित तथा भ्रष्ट इटली वासियों के यथार्थ चरित्र के अपने पर्यवेक्षण द्वारा? इस प्रश्न का उत्तर देना बड़ा कठिन है। बहुत दिन तक वह अपनी मातृभूमि फ्लोरेन्स गणराज्य में एक

कूटनीतिक पद पर आसीन रहा और वहाँ की सरकार द्वारा वह बहुत से मिशनों (Missions) पर गया। इससे उसे राजनीति की आन्तरिक प्रक्रिया का अध्ययन करने तथा राजनीतिज्ञों के अन्तस्तल में झाँक कर देखने का एक स्वर्णिम अवसर मिला। इस सम्बन्ध में एक बात उल्लेखनीय है और वह यह कि मैकियावेली का एक दीर्घकालीन संसर्ग सीज़र बोर्जिया (Caesar Borgia) से रहा था जोकि पोप अलेक्ज़ेण्डर षष्ठ का अवैध किन्तु बड़ा प्रतिभावान पुत्र था, जिसने एक ऐसे ढंग से, जिसे नैतिक नहीं कहा जा सकता, इटली के एक भाग में एक सर्वोत्तम शासित राज्य स्थापित कर लिया था। इसके अतिरिक्त उसने यह भी अपनी आँखों से देखा कि किस प्रकार स्वयं पोप जूलियस द्वितीय ने सीज़र बोर्जिया की बढ़ती हुई राजकीय शक्ति के विरुद्ध संघर्ष चलाया था। इस अनुभव ने मैकियावेली के मानव चरित्र की अन्ततः अच्छाई में विश्वास (यदि उसे कोई ऐसा विश्वास था भी) को समूल नष्ट कर दिया होगा और उसे एक पक्का सिनिक (cynic) बना दिया होगा। परन्तु इस प्रकार के अनुभव इस बात के दृढ़, संगतिबद्ध तथा अखण्ड प्रमाण नहीं हो सकते कि मनुष्य तत्त्वतः दुष्ट और बुरा है और उसे नियंत्रित करने का एकमात्र साधन शक्ति और भय का प्रयोग है। शासन यन्त्र का जो भी सिद्धान्त इतने अपूर्ण और अपर्याप्त साक्ष्य पर आधारित हो उसका गलत और खोखला होना अवश्यम्भावी है। यदि मनुष्य पूर्ण रूप से अच्छा नहीं है तो वह पूर्ण रूप से बुरा भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसका एक सामाजिक पहलू है जो उसे अन्य मानव प्राणियों के स्वाभाविक संसर्ग में लाता है और जिसके कारण वह सामान्य हित के लिये उनसे सहयोग करता है। परन्तु यह तो सभी को स्वीकार करना पड़ेगा कि राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मैकियावेली ने जिन अनैतिक साधनों का अनुमोदन किया है, एक नीतिवादी उनकी कितनी ही घोर निन्दा क्यों न करे किन्तु अनुभव यह सिद्ध करता है कि राजनीतिज्ञ लोग अपने विशिष्ट लक्ष्य की प्राप्ति के लिये उनका प्रयोग करने में कदाचित् ही हिचकिचाते हैं। हिंसा, धोखा तथा मनुष्य की सहज विश्वास भावना के शोषण उस पद्धति के मुख्य और सुपरिचित अंग रहे हैं जो प्राचीन तथा आधुनिक काल के तानाशाहों ने अपनाई है। मैकियावेली ने उन युक्तियों का वर्णन किया है जिनका प्रयोग व्यवहार में राजनीतिज्ञ सामान्यतया करते हैं किन्तु सैद्धांतिक रूप से जिनकी वे निन्दा करते हैं।

मकियावेली के राजनीतिक विचार— मैकियावेली के कुछ राजनीतिक विचारों का वर्णन हम पहिले कर चुके हैं जो ये हैं कि राज्य उस अर्थ में एक स्वाभाविक समुदाय नहीं है जिसमें कि अफ़लातून और अरस्तु उसे समझते थे, बल्कि वह इसलिये उत्पन्न हुआ है क्योंकि मनुष्य उसे अपने धन जन की सुरक्षा के लिये आवश्यक तथा उपयोगी समझते हैं, और राज्य की पद्धति अन्ततोगत्वा शक्ति और भय की होनी चाहिये। उसके दूसरे विचार उस अत्यन्त हीन स्थान से सम्बद्ध हैं जो कि वह राजनीति

में धर्म तथा नैतिकता को देता है। इनका विवरण नीचे दिया जाता है।

नैतिकता तथा धर्म सम्बन्धी मैकियावेली के विचार— उसका एक राजनीतिक विचार जो कि उसके नाम से सबसे अधिक सम्बद्ध है और जो उसका मध्य काल से सब से अधिक पूर्ण रूप से विच्छेद करता है वह है उसका राजनीति को धर्म तथा नैतिकता से जानबूझ कर तथा औपचारिक रूप से अलग कर देना। उसके पूर्ववर्ती किसी भी विचारक ने, चाहे वह प्राच्य हो या मध्यकालीन, राजनीति को धर्म तथा नीति से इतना अलग नहीं रखा जितना कि मैकियावेली ने। जहाँ तक कि अरस्तु ने राज्यों की अच्छाई बुराई को छोड़ते हुए उनकी सुरक्षा के प्रश्न की विवेचना की है वहाँ तक उसके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उसने राजनीति को नीति से अलग किया। परन्तु यह उसके राजनीतिक दर्शन की कोई आधारभूत विशेषता नहीं थी; वह केवल प्रासंगिक और गौण थी। वह निश्चित रूप से यह मानता था कि राजनीति तथा नीति एक ही सम्पूर्ण विज्ञान के अभिन्न अंग हैं। मैकियावेली ने राजनीति को धर्म तथा नीति से जानबूझ कर और पूर्ण रूप से पृथक् किया है; इसका आधार है उसके मानव चरित्र तथा शासन यंत्र सम्बन्धी विचार। धर्म-निरपेक्ष राज्य के सिद्धान्त में यदि कोई मध्यकालीन लेखक मैकियावेली के सब से अधिक निकट आ सकता है तो वह है मार्सीलियो (Marsiglio) जिसने राज्य को चर्च के नियंत्रण से पूर्ण रूप से मुक्त कर दिया था और चर्च को एक बहुत ही हीन स्थान प्रदान किया था। परन्तु इस दिशा में वह भी उतना नहीं बढ़ा जितना कि मैकियावेली, क्योंकि उसने ईसाई धर्म के प्रमुख सिद्धान्त— मानव स्वभाव की द्वैधता तथा ईश्वरीय क़ानून में विश्वास का परित्याग नहीं किया। मैकियावेली इस सिद्धान्त का एकदम परित्याग करता है और इस बात से इन्कार करता है कि मनुष्य का कोई अति प्राकृतिक लक्ष्य भी हो सकता है। इसलिये वह सन्त टॉमस एक्वीनास (St. Thomas Aquinas) के इस सिद्धान्त का खण्डन करता है कि भावी जीवन में आनन्द प्राप्त करने के लिये मनुष्य को ईश्वरीय क़ानून के निर्देशन की आवश्यकता है। मैकियावेली की धारणा है कि मनुष्य केवल एक उचित लक्ष्य अपने सामने रख सकता है और वह है इसी जीवन में सुख की प्राप्ति। यह आवश्यक नहीं है कि यह सुख भौतिक ही हो; धन-जन की सुरक्षा के अतिरिक्त इसमें जीवन के अभौतिक मूल्य, जैसे महानता, शक्ति तथा ख्याति भी सम्मिलित हैं। परन्तु वह निश्चित रूप से विनम्रता तथा सांसारिक सम्पदा के प्रति उपेक्षा भाव जैसे गुणों का खण्डन करता है जिनके ऊपर ईसाई धर्म इतना ज़ोर देता है और जीवन का लक्ष्य समझता है। इन तथ्यों से और इनके अतिरिक्त इस बात से कि राजा के लिये अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उसने धोखा, षड़न्त, चालबाज़ी तथा विश्वासघात जैसे अनैतिक साधनों का अनुमोदन किया, कभी कभी यह परिणाम निकाला जाता है कि मैकियावेली धर्म और नीति को उपेक्षा भाव से देखता था।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि राज्य के लिये अपने को एकीकृत करने तथा शक्तिशाली बनाने के लिए उसने जिन साधनों का सुझाव दिया वह उनकी नैतिकता पर कोई ध्यान नहीं देता। उसका ध्येय केवल इतना है कि वे सफलतादायक भी हैं या नहीं; यह प्रश्न कि परम्परागत अर्थ में वे नैतिक हैं या नहीं उसके लिये निरर्थक है। वह कहता है:—'राजा को तो राज्य की सुरक्षा की चिंता करनी चाहिये; साधन तो सदैव आदरणीय ही समझे जायेंगे और उनकी सामान्य रूप से प्रशंसा की जायेगी।' मैकियावेली की धारणा यह है कि राज्य की सुरक्षा और कल्याण के मार्ग में नैतिक विचारों को बाधित नहीं होने देना चाहिये और अपने मनोवांछित लक्ष्य पर पहुँचने के लिये उसे आवश्यकतानुसार किसी भी साधन को अपना लेना चाहिये; साधनों की नैतिकता के चक्कर में पड़ना व्यर्थ है। इस प्रसंग में मैकियावेली का एक उद्धरण देना उचित ही होगा। वह लिखता है—

'प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि राजा के लिए अपने वचन का पालन करना और नीतिपूर्वक आचरण करना कितना प्रशंसनीय है। तथापि हमारी आँखों के समक्ष जो कुछ घटा है उसमें हम देखते हैं कि केवल उन्हीं राजाओं ने महान् कार्य सम्पन्न किये हैं जिन्होंने चालाकी में दूसरों को पीछे छोड़ दिया, और अन्त में वे उनसे अधिक सफल सिद्ध हुए हैं जोकि ईमानदारी के आचरण में विश्वास करते थे। ······ इसलिए, एक बुद्धिमान् शासक अपने वचन का पालन नहीं कर सकता और न ही उसे करना चाहिये, यदि ऐसा करना उसके हित में न हो और जबकि वे कारण समाप्त हो जायें जिनसे विवश होकर उसने वह वचन दिया था। यदि मनुष्य पूर्ण रूप से अच्छे होते, तो ऐसी स्थिति न होती, किन्तु क्योंकि वे बुरे हैं और वे तुम्हारे साथ किये हुए वादे का निर्वाह नहीं करेंगे, इसलिए तुम भी उनके साथ अपने वचन का निर्वाह करने के लिए बाध्य नहीं हो; और किसी भी शासक को कभी भी अपने वचन भंग पर पर्दापोशी करने के लिये किसी समुचित कारण का अभाव नहीं रहा। इस बात के हाल ही के अगणित उदाहरण दिये जा सकते हैं और यह दिखाया जा सकता है कि किस प्रकार राजाओं के विश्वासघात के कारण बहुत सी पवित्र संधियाँ निष्क्रिय और व्यर्थ बना दी गईं, और जो भी सब से चालाकी का प्रयोग करना जानता है उसे ही सर्वोत्तम सफलता प्राप्त हुई है।"*

* "Everyone recognises how praiseworthy it is in a prince to keep faith, and to act uprightly. Nevertheless, we see from what has happened in our days that princes who have set little store by their word, but have known how to over-reach others by their cunning, have accomplished great things, and in the end had the better of those who trusted the honest dealing .... Therefore a wise lord cannot, nor ought he to, keep faith

मैकियावेली का सुझाव यह भी है कि राजा को ऐसे गुणों से विभूषित प्रकट होना चाहिये जो कि अच्छे मनुष्य के लक्षण समझे जाते हैं। इसके लिये उसे मिथ्याचार और छल-छद्म में निपुण होना चाहिये। उसे ऐसा आचरण करना चाहिये ताकि जो भी व्यक्ति उसे देखे अथवा उसकी बात सुने वह "यह समझे कि वह तो अनुकम्पा, विश्वासपात्रता, सच्चरित्रता, दयालुता तथा धर्म की साकार मूर्ति है। उसके लिये अन्तिम गुण, अर्थात् धर्म को धारण करने का प्रपंच रचना सर्वाधिक आवश्यक है।"

मैकियावेली के लेखों से जो उद्धरण हमने ऊपर दिये हैं उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह धर्म तथा नैतिकता से न तो घृणा करता है और न उनकी अवहेलना करता है। एक जाति के जीवन में उनका जो महत्त्वपूर्ण भाग है उसे वह अच्छी तरह समझता है। अपने ग्रंथ 'डिस्कोर्सिज़' (Discourses) में वह कहता है : "जो राजा और गणराज्य अपने को भ्रष्टाचार से मुक्त रखना चाहते हैं उन्हें सबसे पहिले समस्त धार्मिक संस्कारों की विशुद्धता को सुरक्षित रखना चाहिये और उनके प्रति उचित श्रद्धा भाव रखना चाहिये; क्योंकि धर्म की हानि होते हुए देखने से बढ़कर किसी देश के विनाश का कोई और लक्षण नहीं है।"† हमारे लिये यह देखना आवश्यक तथा उपयोगी होगा कि धार्मिक संस्कारों की विशुद्धता एक राज्य की सुरक्षा में क्या सहायता देती है और धर्म का ह्रास किस प्रकार उसे नष्ट कर देता है।

यद्यपि मैकियावेली की धारणा यह है कि जिस चीज़ द्वारा मनुष्य की आसुरी प्रवृत्तियों को नियंत्रित किया जा सकता है वह शक्ति है, तथापि वह एक यथार्थवादी होने के नाते इस तथ्य से भली-भांति अवगत है कि केवल शक्ति एक साम्राज्य का एक पर्याप्त

---

when such observance may be turned against him, and when the reasons that caused him to pledge it exist no longer. If men were entirely good, this prospect would not hold, but because they are bad, and will not keep faith with you, you too are not bound to observe it with them; and no prince was ever at a loss for plausible reasons to cloak a breach of faith. Of this numberless recent instances could be given, and it might be shown how many solemn treaties and engagements have been rendered inoperative and idle through want of faith in princes, and that he who has best known to play the fox has had the best success."

† "Princes and Republics who wish to maintain themselves free from corruption must above all things preserve the purity of all religious observances and treat them with proper reverence; for there is no greater indication of the ruin of a country than to see religion condemned."

साधन नहीं हो सकता। वह जानती है कि यदि राज्य में जनता को आज्ञाकारी बनाये रखने के लिये दण्ड के भय के अतिरिक्त और कोई चीज़ न हो तो वह क़ायम नहीं रह सकता, या कम से कम, सम्पन्न और समृद्धिशाली नहीं हो सकता। दण्ड भय के अतिरिक्त एक अन्य ऐसी प्रेरक शक्ति की आवश्यकता है जो कि मनुष्य को ऐसी स्थिति में आज्ञाकारी तथा राजभक्त रख सके जबकि वह बिना पता लगे हुए ही कानून की अवहेलना कर सकता हो। किसी ऐसी शक्ति द्वारा जोकि न केवल मनुष्य के कार्यों को बल्कि उसके मन को भी नियंत्रित कर सके कानूनों की कठोरता को कम करना चाहिये और उनकी नियंत्रण शक्ति को बढ़ाना चाहिये। इस ध्येय की पूर्ति के लिये धर्म से बढ़कर अन्य कोई साधन नहीं है। इसलिये वह चर्च अर्थात् धर्म संस्था को राज्य के एक ऐसे यंत्र के रूप में प्रयोग करना चाहता है जो कि ऐसी राष्ट्रीय परम्पराएँ तथा व्यवहार की आदतें उत्पन्न करदें जोकि शांति तथा व्यवस्था के कायम रखने तथा समाज की स्थिरता में सहायक हों। वह इस सुपरिचित धारणा का पोषण करता है कि जो जाति धर्म भावना को खो बैठती है वह अपने को एक घोर खतरे में डाल लेती है। "धर्म के आदेश का पालन करना राज्यों की महानता का कारण है; इसी प्रकार उसकी अवहेलना उनके विनाश का कारण हो जाता है।"*

इसका अर्थ यह है कि मैकियावेली धर्म का मूल्य एक साधन, एक यन्त्र के रूप में समझता है; उसका कोई अपना यथार्थ और निजी मूल्य नहीं है; वह तो केवल एक महत्त्वपूर्ण यन्त्र है जिसका प्रयोग राजनीतिज्ञ जनता को उन लक्ष्यों की ओर प्रेरित करने के लिये करता है जिनकी कि वह सिद्धि करना चाहता है। इसलिए उसे राज्य के बाहर या राज्य के ऊपर कोई स्थान नहीं दिया जा सकता जैसा कि ईसाई धर्म ने उसे देने का प्रयत्न किया; उसकी उपयोगिता राज्य के एक अंग के रूप में ही है। सारांश यह कि मैकियावेली की धर्म-विषयक धारणा लौकिक (Pagan) है, ऐसी नहीं जैसी कि ईसाई धर्म की। यही बात उसकी नैतिकता विषयक धारणाओं के विषय में सत्य है। नैतिक तथा धार्मिक विचार राजा के हाथ नहीं बांध सकते; वह उनके ऊपर तथा उनसे बाहर है। हाँ, वह उनका प्रयोग अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिये अवश्य कर सकता है। नैतिक तथा धार्मिक भावनाओं का आदर मैकियावेली केवल वहीं तक करता है जहाँ तक कि वे राज्य की नीति के महत्त्वपूर्ण यंत्र हों। इन्हीं भावनाओं को गुदगुदाकर बुद्धि मान् शासक तथा राजनीतिज्ञगण कुछ ऐसे सुधारों को ला पाते हैं जिन्हें अन्यथा वे न कर पाते। धर्म के प्रति मैकियावेली का दृष्टिकोण विशुद्ध उपयोगितावादी था, इसीलिये वह उसके आन्तरिक स्वभाव तथा ईश्वर से उसके सम्बन्ध की ओर से एकदम उदासीन था। इसी प्रकार उसका यह भी मत था कि प्रत्येक अच्छे बुरे आचरण की कसौटी ईश्वर के कानून

* "The observance of the ordinance of religion is the cause of the greatness of commonwealths; so also is their neglect the cause of their ruin."

अथवा नैसर्गिक क़ानून न होकर उसके द्वारा होने वाले सामाजिक परिणाम हैं। धर्म तथा नैतिकता सम्बन्धी मैकियावेली की धारणायें मध्ययुगीन धारणाओं से एकदम भिन्न तथा यूनानी सोफ़िस्ट्स की धारणाओं के समीप थीं। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि यद्यपि मैकियावेली राज्य की लक्ष्य सिद्धि के लिए अनैतिक साधनों का प्रयोग उचित समझता था; वह मानता था कि राज्य को सुरक्षित तथा स्थिर रखने के लिये कोई साधन भी हेय नहीं है, किन्तु इस बात में उसे कोई सन्देह न था कि जनता में नैतिक भ्रष्टाचार फैल जाने से एक अच्छा शासन असम्भव हो जाता है। भ्रष्टाचार से उसका अभिप्राय व्यक्तिगत कर्म, नागरिक सत्यप्रियता तथा सार्वजनिक सेवा भावना के ह्रास से है; उसमें क़ानूनहीनता तथा मनमानी करने की भावना, व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा तथा धर्म की अवहेलना भी सम्मिलित हैं। अपने नागरिक गुणों के कारण वह प्राचीन रोम निवासियों की बड़ी प्रशंसा करता था। उसका विश्वास था कि रोम की महानता का कारण था 'पारिवारिक जीवन की पवित्रता, व्यक्तिगत जीवन में स्वतंत्रता तथा दृढ़ता, सरलता तथा मितव्ययता, और सार्वजनिक कर्त्तव्यों के पालन में निष्ठा तथा विश्वासपात्रता का होना।' इसलिए एक बुद्धिमान शासक को यह ध्यान रखना चाहिये कि समाज में व्यक्तिगत नैतिकता का ह्रास न होने पाये। उपरोक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मैकियावेली न अनैतिक था और न नैतिकता से घृणा करता था। नैतिक समस्याओं में उसका अनुराग था और उसका स्वयं का जीवन नैतिक था। परन्तु नैतिकता का उसका मापदण्ड हमारे मापदण्ड से भिन्न था। श्रेयस् (Goodness) के सम्बन्ध में वह अपनी धारणा को स्वयंसिद्ध सत्य मानता था; उसे सिद्ध करना वह आवश्यक नहीं समझता था।

यहां पर एक प्रश्न स्वभावतः ही उत्पन्न होता है और वह यह कि मैकियावेली ने राज्य के हित साधन के लिए किसी भी साधन का प्रयोग करने तथा नैतिक अनैतिक का विवेक न करने का परामर्श राजा को क्यों दिया? उसने यह क्यों कहा: "राजा को केवल राज्य की सुरक्षा की चिंता करनी चाहिये; साधनों को प्रतिष्ठित समझा जायेगा और उनको सामान्य स्वीकृति प्राप्त हो जायेगी।" दूसरे शब्दों में, मैकियावेली ने शासक तथा नागरिकों के लिए नैतिकता के दो विभिन्न मापदण्डों का प्रस्ताव क्यों किया? इसमें कोई सन्देह नहीं कि मैकियावेली का सिद्धान्त दोहरी नैतिकता का एक चरम उदाहरण है। राज्य की नैतिकता के विषय में उसके विचारों को इन सुपरिचित कहावतों द्वारा प्रकट किया जा सकता है कि 'जिसकी लाठी भैंस उसी की', 'आवश्यकता के सामने कोई क़ानून नहीं टिक सकता', 'साध्य ही साधनों का औचित्य है'।

मैकियावेली ने राज्य को नीति से ऊपर क्यों रखा, इस बात के तीन कारण दिये जा सकते हैं: (१) उसका विश्वास था कि राज्य की आवश्यकताओं और मांगों को

प्राथमिकता मिलनी चाहिये क्योंकि राज्य सामाजिक संगठन का सर्वोत्तम रूप है और मानव की सुरक्षा तथा उसके कल्याण के लिए सबसे अधिक आवश्यक संस्था है। इस लिये उसे नागरिकों के साथ समानता के धरातल पर नहीं रखा जाना चाहिये और उस के ऊपर नैतिकता के वे नियम लागू नहीं होने चाहियें जोकि नागरिकों के व्यवहार को विनियमित करते हैं। उसका आधार ही सर्वथा भिन्न है, इसलिये उसका मापदण्ड भी सर्वथा भिन्न होना चाहिये। (२) उसका दृढ़ विश्वास था कि यदि राज्य अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए केवल नैतिक साधनों का ही प्रयोग करे तो उसे मनुष्य की मूलतः अहंकारवादी तथा आक्रमणकारी प्रवृत्तियों को नियंत्रित करना असम्भव हो जायेगा। राजनीतिज्ञता की कला इस बात में है कि प्रत्येक स्थिति पर शांतिपूर्वक और बिना किसी आवेश के विचार किया जाये, उसमें आने वाले आत्म-हित के तत्त्वों को देखा जाये, और तब उसका सामना करने के लिए बुद्धिपूर्वक सर्वोत्तम साधनों को अपनाया जाये। मैकियावेली का विश्वास था कि मनुष्य के ऐसा होते हुए जैसा कि वह है, यदि राज्य केवल नैतिक साधनों पर ही निर्भर करता है तो वह कभी सफल नहीं हो सकता। इसलिये उसने इस सिद्धान्त की अवतारणा की कि जहां देश की सुरक्षा ही खतरे में हो वहां इस बात का कोई विवेक नहीं होना चाहिये कि क्या न्याय है अथवा अन्याय है, क्या गलत और क्या सही है, क्या गौरवपूर्ण और क्या लज्जाजनक है। प्रत्येक वह साधन जिससे कि अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति, अर्थात् राज्य की सुरक्षा, में सहायता मिलती हो, उचित है। राज्य के लिये अनैतिक साधनों को अपनाये जाने का अनुमोदन करने में मैकियावेली के अन्तःकरण को कोई ठेस नहीं पहुँची क्योंकि उसके लिए राज्य न नैतिक है और न अनैतिक, वह नीति-विहीन (Non-moral) है। नैतिक दृष्टिकोण से राज्य जड़ है, उसकी ऐसी धारणा थी। इसलिये शासन कला में किसी नीति के औचित्य अथवा अनौचित्य की केवल एक कसौटी है, और वह यह कि उसका राज्य की सुरक्षा पर क्या प्रभाव हो सकता है।

राज्य उस नैतिकता से परे है जिसे वह स्वयं उत्पन्न करता है और समाज में जिस का पोषण करता है। इस विचार को मानने वाला मैकियावेली ही अकेला विचारक नहीं है। हीगल, बोज़ान्के (Bosanquet) तथा तृचे (Trietche) तथा कतिपय अन्य विचारकों की भी यही धारणा थी। उनकी धारणा थी कि व्यक्तिगत नैतिकता के नियम राज्य के कार्यों पर लागू नहीं होते। परन्तु इस धारणा के आधार मैकियावेली तथा हीगल और अन्य विचारकों के भिन्न भिन्न हैं। उनके विपरीत वह एक निराशावादी था और मानव स्वभाव को बहुत निकृष्ट समझता था। उसका अनुभव उनसे बहुत भिन्न था। एक ऐसे व्यक्ति के लिये जो कि १६वीं शताब्दी की इटली की कूटनीति को जानता हो और जिसने बहुत निकट से इस बात को देखा हो कि ईसाई जगत के प्रधान ने किस प्रकार अपने पूर्ववर्त्ती के पुत्र के विरुद्ध संघर्ष चलाया, मानव स्वभाव को निकृष्ट

समझना तथा यथार्थ राजनीति को नैतिकता से अलग रखना अत्यन्त स्वाभाविक था। उस युग के इटली में केवल राजनीतिज्ञ और कूटनीतिज्ञ ही अपने कामों में नैतिक मान्यताओं की अवहेलना नहीं करते थे, बल्कि बुद्धि-जीवियों में नैतिक तथा धार्मिक भावना का सर्वथा अभाव था। लोग ईसाई धर्म के सिद्धान्तों के प्रति मौखिक भक्ति तो प्रकट करते थे किन्तु अपने दैनिक जीवन में उनकी पूर्ण रूप से अवहेलना करते थे। सारांश यह है कि वह संसार जिसमें कि मैकियावेली ने लिखा मध्यकालीन विचारकों के संसार से बहुत भिन्न था। उसमें बहुत कुछ ऐसी बातें थीं जिन्हें देखते हुए मानव स्वभाव के बारे में मैकियावेली के निराशावादी दृष्टिकोण को उचित तथा क्षम्य समझा जा सकता है।

मैकियावेली के अन्य राजनीतिक विचार— मैकियावेली की कुछ मूलभूत धारणाओं का उल्लेख हमने अब तक किया है। इनके अतिरिक्त उसके कुछ अन्य विचार भी उल्लेखनीय हैं जिनका प्रतिपादन उसने राज्य को सुरक्षित रखने तथा उसे सबल बनाने के लिये किया है। वह कहता है कि राजा को भाड़े के टट्टू विदेशी सिपाहियों के ऊपर कभी निर्भर नहीं रहना चाहिये, जो कि १६वीं शताब्दी के इटली में अपने विरोधियों की अपेक्षा अपने मालिकों के लिये ही अधिक संकट उत्पन्न करते थे, बल्कि उसे अपने ही देश के सिपाहियों की विश्वासपात्र सेना रखनी चाहिये। राजा को उसकी दूसरी शिक्षा यह है कि उसे अपनी प्रजा में अपने प्रति भय तथा सम्मान की भावना प्रेरित करनी चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिये कि लोग उससे घृणा करने लगें। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये उसे कभी भी उसकी सम्पत्ति तथा उसकी स्त्रियों के सतीत्व को हाथ नहीं लगाना चाहिये। यद्यपि उसके लिये आवश्यकतानुसार धोखा, छल, कपट, हिंसा, इत्यादि का प्रयोग करना उचित ही है, किन्तु वह सदैव एक सज्जन तथा धर्मपरायण व्यक्ति प्रकट होना चाहिये। इस धर्मपरायणता की ख्याति उसके नीतिहीन आचरण को और भी अधिक प्रभावक बना देगी। उसे जनता की धर्म भावना तथा उसके सहज विश्वास से पूर्ण लाभ उठाना चाहिये। इस प्रसंग में हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि मैकियावेली इस बात से भली प्रकार परिचित था कि राज्य की सुरक्षा तथा स्थिरता की सबसे बड़ी गारंटी है जनता का सन्तुष्ट रहना। सन्तुष्ट जनता पर उन लोगों की अपेक्षा अधिक सरलता से शासन किया जा सकता है जिन्हें कि पशुबल द्वारा दबाया जाता है। इसलिये राजा को उसकी यह शिक्षा है कि उसे जनता की स्थापित संस्थाओं तथा परम्पराओं का आदर करना चाहिये और अपने समस्त कार्यों को गौरव की आभा से उद्दीप्त रखना चाहिये, कला की प्रतिभा का पोषण करना चाहिये तथा व्यापार और कृषि जैसी उपयोगी कलाओं को प्रोत्साहन देना चाहिये, एवं जनता को शांत रखने के लिये धर्म का प्रयोग करना चाहिये। वह जनता द्वारा शासन कार्य में भाग लेने का भी अनुमोदन करता है ताकि उसे राजनीतिक शिक्षा मिल सके। इस बात

से तो ऐसा प्रतीत होता है कि मैकियावेली के अनुसार राज्य तथा जनता के हितों में, कम से कम शांति काल में, कोई आवश्यक संघर्ष नहीं है। कुक (Cook) की इस धारणा से हम सहमत हैं कि मैकियावेली का **राजा** (Prince) जनहित के लिये तानाशाह है, स्वयं अपने सुख और लाभ के लिये निरंकुश शासक नहीं।

गणतन्त्र तथा राजतन्त्र के विषय में मैकियावेली के विचार— यद्यपि मैकियावेली ने अरस्तु द्वारा किये हुए शासन के वर्गीकरण, राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा सांविधानिक जनतन्त्र, और उनके भ्रष्ट रूप, आततायीतन्त्र (Tyranny), वर्गतन्त्र (Oligarchy) तथा लोकतन्त्र को अपनाया और यद्यपि वह पोलीबियस तथा सिसरो के इस विचार से सहमत था कि मिश्रित सरकार सर्वश्रेष्ठ होती है, तथापि उसने केवल दो प्रकार की सरकारों का ही विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। राजतंत्र का निरूपण उसने **'प्रिंस'** में तथा गणतंत्र का 'डिस्कोर्सिज़' (Discourses) में किया है। जो लोग केवल 'प्रिंस' के आधार पर ही मैकियावेली के सम्बन्ध में अपनी धारणा बना लेते हैं वे उसे राजतंत्र का अथक समर्थक तथा गणतंत्र का पक्का शत्रु समझ सकते हैं। किंतु ऐसा समझ बैठना भूल होगी। मैकियावेली जानता था कि कोई भी एक प्रकार का शासन समस्त परिस्थितियों के लिए सर्वश्रेष्ठ और सर्व-उपयुक्त नहीं समझा जा सकता; विभिन्न सामाजिक तथा आर्थिक स्थितियों में विभिन्न प्रकार की सरकार आवश्यक और उपयोगी होती है। कुछ स्थितियों में राजतन्त्र सर्वश्रेष्ठ होगा; कुछ में गणतन्त्र सर्व-उपयुक्त होगा।

मैकियावेली का कहना है कि शासन का गणतंत्रीय रूप वहीं सबसे अधिक सफल रहेगा जहाँ कि धन तथा सम्पत्ति की अधिकांश समानता हो जिसका परिणाम राजनीतिक शक्ति का प्रस्तरण होता है और जहाँ जनता धर्मपरायण, सार्वजनिक भावना से ओत-प्रोत, संगठित, बलवान् तथा स्वतंत्र हो। इसके लिये आवश्यकता इस बात की है कि जीवन की स्थिति स्थिर हो, जनसाधारण राजनीतिक रूप से शिक्षित हों और उनमें परस्पर आदान प्रदान की भावना हो। राजतंत्र की अपेक्षा इसकी स्थापना अधिक कठिन है, परन्तु इसमें स्थिरता की सम्भावनायें कहीं अधिक हैं। इसके अधिक स्थिर रहने की आशा इसलिये है क्योंकि इसके अन्तर्गत जनता स्वयं शासन कार्य में भाग लेती है, इसलिये वह अधिक सन्तुष्ट रहती है। यह इसलिये भी अधिक स्थिर रहता है क्योंकि इसमें भ्रष्टाचार की सम्भावना कम रहती है। एक व्यक्ति की अपेक्षा सम्पूर्ण जनता के भ्रष्ट हो जाने की आशंका कम रहती है। व्यापक प्रश्नों के ऊपर सम्पूर्ण जनता के निर्णय किसी एक व्यक्ति अथवा छोटे से व्यक्ति-समूह के निर्णय की अपेक्षा अधिक सही और उचित हो सकते हैं। राजतंत्र की अपेक्षा गणतन्त्र में भ्रष्टाचार की गुंजायश इसलिए भी कम रहती है क्योंकि वह अधिक विश्वसनीय होता है।

किन्तु मैकियावेली की गणतंत्रीय भावनायें कितनी ही प्रबल क्यों न रही हों, वह

ऐसा महसूस करता था कि १६वीं शताब्दी के भ्रष्ट इटली में एक गणतंत्री शासन के स्थापित होने और सफलतापूर्वक कार्य करने की कोई सम्भावना न थी। जैसा कि हम बार बार कह चुके हैं मैकियावेली का प्रधान उद्देश्य इटली को एक शक्तिशाली केन्द्रीय शासन के अधीन एकबद्ध करना था। इस एकीकरण के दुष्कर कार्य के लिए एक शक्तिशाली, सिद्धान्तहीन निरंकुश शासक की अपेक्षा थी जो राज्य की सुरक्षा विषयक प्रश्नों में न्याय, अन्याय, दया, निर्दयता, लज्जा तथा गौरव के विचारों के चक्कर में न पड़े। **'प्रिंस'** में एक निरंकुश तथा हृदयहीन शासक का जो आदर्शीकरण उसने किया है, उसके पीछे यही उद्देश्य निहित है। यही कारण है कि इस पुस्तक में उसने निरंकुशप्राय राजतन्त्र तथा उसकी समस्याओं पर ही विचार किया है। अपनी तीव्र देशभक्ति, तथा इटली को संगठित देखने की प्रबल इच्छा के कारण ही उसने अपने समय के इटली के राजतन्त्री शासन का अनुमोदन किया और अपनी गणतन्त्र भावनाओं को दबाया क्योंकि वह समय की आवश्यकताओं को देखते हुए निरंकुश राजतन्त्र को ही सर्वोत्तम शासन समझता था। सारांश यह कि वह गणतन्त्र का पक्षपाती था यदि वह सम्भव हो और राजतन्त्र का भक्त यदि वह आवश्यक हो। कुलीनतन्त्र को वह बहुत ही उपेक्षा की दृष्टि से देखता था; इसे वह समस्त नागरिक सरकार का शत्रु समझता था क्योंकि कुलीन वर्ग हितों का सामंजस्य न तो राजा के हितों से हो सकता है और न जनता के।

मैकियावेली के विचार विधायक (Legislator) के विषय में— मैकियावेली के राजनीतिक विचारों के इस विवरण का उपसंहार करने से पूर्व हम यह देखने की चेष्टा करेंगे कि उसने विधायक को क्या स्थान दिया है। विधायक के महत्त्व और कार्य को उसने अतिरंजित भाषा में अभिव्यक्त किया है। जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं, मैकियावेली इस बात से भली-भाँति परिचित था कि केवल बल और भय के आधार पर ही राज्य को खड़ा नहीं रखा जा सकता। इसलिये उसका विचार यह था कि एक बुद्धिमान शासक को पशु बल तथा भय के पूरक स्वरूप एक अधिक सूक्ष्म शक्ति का आश्रय लेना चाहिये जो कि मनुष्य के मन को प्रभावित कर सके और उनके चरित्र की रूपरेखा निर्धारित कर सके। ऐसी शक्ति को उसने क़ानून में पाया। उसका अडिग विश्वास था कि समाज के लिये क़ानून-निर्माता का सबसे अधिक महत्त्व है। इसके कई कारण हैं। सर्वप्रथम, उसका विश्वास था कि एक नवीन राज्य के निर्माण के समय एक बुद्धिमान विधायक नितान्त आवश्यक है। उसके द्वारा बनाये हुए क़ानून न केवल नागरिकों के कार्यों को विनियमित तथा नियंत्रित करते हैं बल्कि उनमें नागरिक तथा नैतिक गुणों का विकास और राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण भी करते हैं। दूसरी बात यह है कि जब एक समाज का अधःपतन हो जाता है तो उसका सुधार एक अकेले और ऐसे क़ानून-निर्माता की सहायता के बिना नहीं हो सकता जो कि उसके क़ानूनों में परिवर्तन करने तथा नवीन क़ानून बनाने की निरंकुश शक्ति रखता हो। यह इस बात में

निहित है कि क़ानून एक समाज के न केवल राजनीतिक ढाँचे को निर्धारित करते हैं बल्कि उसके समस्त सामाजिक और नैतिक ढाँचे को भी ढालते हैं। मैकियावेली की धारणा है कि "व्यवहारतः इस बात की कोई सीमा नहीं है कि एक राजनीतिज्ञ क्या कर सकता है बशर्ते कि वह अपनी कला के नियमों को समझता हो। वह पुराने राज्यों का विध्वंस कर सकता है और नये निर्माण कर सकता है, शासनों के रूप परिवर्तन कर सकता है, जनसंख्याओं को इधर से उधर कर सकता है, और अपने प्रजाजन के चरित्र में नवीन गुणों का निर्माण कर सकता है। यदि एक शासक के पास सैनिकों का अभाव है तो उसमें दोष केवल उसका है क्योंकि उसे अपनी प्रजा की कायरता और क्लीवता को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये था। विधिकार न केवल राज्य का बल्कि समाज का भी निर्माता है जिसमें उसके समस्त नैतिक, धार्मिक तथा आर्थिक संस्थान सम्मिलित हैं।"*

विधिकार (Law-giver) के कार्यों के सम्बन्ध में इस अतिरंजित धारणा का कारण आंशिक रूप से मैकियावेली का राजनीतिक दर्शन है जो कि इस धारणा के ऊपर आधारित है कि मनुष्य मूलतः स्वार्थी है, इसलिये उसके नैतिक कर्त्तव्यों के पीछे अन्तिम शक्ति क़ानून और सरकार की होनी चाहिये, और उसका आंशिक कारण विधि-निर्माता के सम्बन्ध में वह प्राचीन पुराण कथा है जो कि **पोलिबियस** तथा **सिसरो** के लेखों में उद्धरित है। एक सर्वशक्तिमान विधिकार के महत्त्व पर मैकियावेली ने जो बल दिया है वह आज उसके आधुनिक पाठकों को शायद उतना अपील न करे।

मैकियावेली की संगतिहीनता (Inconsistency)— मैकियावेली की विचार-पद्धति में प्रधान कठिनाई मानव स्वभाव तथा उसकी कार्य की प्रेरणाओं के विषय में उसकी मान्यता से उत्पन्न होती है। यदि मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी है और बिना विवश हुए वह कोई कार्य नहीं कर सकता तो राज्य का निर्माण करने के लिए वह दूसरों के संसर्ग में क्यों आया? क्योंकि राज्य के लिये तो सार्वजनिक हित के प्रति व्यक्ति की निरंतर अधीनता आवश्यक है और यदि यह मान भी लिया जाये कि सुरक्षा की

* There is "practically no limit to what a statesman can do, provided he understands the rules of his art. He can tear down old states and build new ones, change forms of government, transplant populations, and build new virtues into the characters of his subjects. If a ruler lacks soldiers, he need blame no one but himself, for he should have adopted measures to correct the cowardice and effeminacy of his people. The law-giver is the architect not only of the state but of society as well, with all its moral, religious and economic institutions."

—Sabine : *History of Political Theory*, page 345.

भावना उसे किसी प्रकार राज्य की स्थापना के लिये प्रेरित करती है तो केवल एक ही प्रकार की सरकार उत्पन्न हो सकती थी और वह है निरंकुश राजतंत्र। गणतंत्रीय सरकार जिसकी स्थापना और सफलता के लिये 'सार्वजनिक भावना' को स्वयं मैकियावेली भी परमावश्यक समझता था, मनुष्य की पहुँच से सदैव बाहर ही रहती। इस प्रकार के शासन के लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य अपनी स्वार्थपूर्ण इच्छाओं को जाति के हित के लिए बलिदान कर दें। इस प्रकार का मानसिक कल्प कैसे लाया जा सकता है? मैकियावेली ने इस प्रश्न का उत्तर देने की कभी चेष्टा नहीं की।

इस कठिनाई को हम एक दूसरे रूप में भी व्यक्त कर सकते हैं। मैकियावेली के अनुसार राज्य का जन्म इसलिये होता है क्योंकि मनुष्य सब से अधिक सुरक्षा चाहते हैं और सुरक्षा तभी प्राप्त हो सकती है जबकि मनुष्य अपने को एक समूह के रूप में संगठित कर लें। यदि हम यह मान लें कि सुरक्षा की आवश्यकता राज्य के आविर्भाव के लिये एक पर्याप्त कारण है तो इससे इस बात के ऊपर कोई प्रकाश नहीं पड़ता कि राज्य निरंतर रूप से क्यों क़ायम है और उसके कार्य-कलाप सदैव व्यापकतर क्यों होते जाते हैं। अरस्तु की यह उक्ति कि राज्य का जन्म जीवन के लिए हुआ और वह एक शुभ जीवन के लिए जीवित है, राज्य के जन्म तथा लक्ष्य की मैकियावेली के सिद्धान्त की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छी अभिव्यंजना है। परन्तु मैकियावेली अरस्तु के कथन का समर्थन नहीं कर सकता क्योंकि वह मनुष्य के सामाजिक स्वभाव में आस्था नहीं रखता। इसी प्रकार की कठिनाई हॉब्स की पद्धति में आती है जिसका कि सिद्धान्त मैकियावेली के विचारों की अधिक नियमित और वैज्ञानिक अभिव्यंजना है। वास्तव में बात यह है कि हम राज्य के स्वरूप और उसके लक्ष्य की एक विवेकपूर्ण तथा संगतिबद्ध व्याख्या तब तक नहीं दे सकते जब तक कि हम सर्वव्यापक अहंकारवाद के सिद्धान्त को तिलांजलि न दें और यह न मान लें कि मनुष्य यदि पूर्ण रूप से नहीं तो कम से कम आंशिक रूप से अवश्य अच्छा है। यह बात कितनी दिलचस्प है कि उसी मैकियावेली ने, जिसने कि आरम्भ में यह कहा था कि मनुष्य सदा दुष्टता की ओर प्रवृत्त रहते हैं, अन्त में यह कह दिया कि राष्ट्रों के रूप में संगठित होकर मनुष्य एक ऐसे अधिकार के साथ बोल सकते हैं जिसकी तुलना ईश्वर वाणी से की जा सकती है।

दूसरी बात यह कि नैतिकता का दोहरा मापदण्ड, एक राजनीतिज्ञ के लिये और दूसरा नागरिकों के लिये, रखना मैकियावेली की पद्धति में एक महान् दोष है, यद्यपि इसे हम संगतिहीनता नहीं कह सकते। इसे एक राजनीतिक सत्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि राजनीतिज्ञ लोग साधारणतया अपनी राजनीतिक धड़ेबन्दी में मैकियावेली के सिद्धान्तों का ही अनुसरण करते हैं, चाहे सैद्धान्तिक रूप से वे उनका कितना ही ज़ोरदार खण्डन क्यों न करते हों। हम एक क़दम और आगे बढ़ कर लार्ड ग्रे के इस कथन का भी समर्थन कर सकते हैं कि

महान् राज्यों की नीतियों को सदैव नैतिक नियमों द्वारा निर्धारित नहीं किया जा सकता। परन्तु इस सिद्धान्त को तो स्वीकार नहीं किया जा सकता कि साध्य साधन का औचित्य है, कि आवश्यकता कोई क़ानून नहीं जानती। राज्य के हित के लिये जो लोग छल-छन्द से काम लेते हैं चाहे हम उनकी निन्दा न करें और उन्हें दुष्ट न समझें, तथापि उनके कार्यों को नैतिक रूप से अनिन्द्य नहीं कहा जा सकता। फ़ॉक की यह उक्ति कि 'नैतिक रूप से जो ग़लत है वह राजनैतिक रूप से कभी सही नहीं हो सकता' मैकियावेली के सिद्धान्त की अपेक्षा सत्य के कहीं अधिक निकट है। परन्तु हमें यह स्वीकार करना चाहिये कि अपूर्ण मानवों के इस अपूर्ण संसार में कभी कभी नैतिकता को आवश्यकता की वेदी पर बलिदान करना पड़ता है। परन्तु इसका अर्थ यह स्वीकार करना नहीं कि शासन कला के सिद्धान्त के रूप में साध्य सदैव साधन को उचित सिद्ध करेगा।

राजनीतिक विचार के इतिहास में मैकियावेली का स्थान— यद्यपि मैकियावेली कोई राजनीतिक सिद्धान्तवादी नहीं था— उसकी दिलचस्पी व्यावहारिक बातों में थी और उसने राज्य सिद्धान्त की अपेक्षा शासन यंत्र के विषय में ही अधिक लिखा है, तथापि राजनीतिक विचार के इतिहास में वह एक अमर स्थान रखता है, क्योंकि वह आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त का जनक है। **मध्य युग** के साथ स्पष्ट सम्बन्ध विच्छेद करके उसने आधुनिक सिद्धान्त को सम्भव बनाया। जब तक यह समझा जाता था कि मनुष्य का एक अति प्राकृतिक ध्येय है जिसकी प्राप्ति के लिए राज्य को प्राकृतिक तथा दैविक कानूनों के अधीन होना चाहिये जिनकी व्याख्या करने का एकमात्र अधिकार चर्च का था, तब तक राज्य के अध्ययन में आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाना असम्भव था। राजनीतिक विचार को मैकियावेली की महान् देन यह है कि उसने इस बात से इन्कार किया कि मानव जीवन का कोई अति प्राकृतिक लक्ष्य होता है और उसका जीवन दैविक अथवा प्राकृतिक कानून से विनियमित होता है, और ऐसा करके उसने राज्य के प्रकृतिवादी सिद्धांत को सम्भव बनाया।

एक दृष्टिकोण से राजनीति का नीति से परित्याग आपदाजनक है: इसका अर्थ तो इस अनैतिक सिद्धान्त को स्वीकार करना है कि साध्य साधन का औचित्य है। इससे मनुष्य के हृदय में यह विश्वास उत्पन्न होता है कि साधन उतना महत्त्वपूर्ण नहीं जितना कि साध्य और साधनों का मूल्य केवल उसी हद तक है जहाँ तक कि वे साध्य की प्राप्ति में सहायक हों। इसमें यह बात भी व्यंजित है कि अपनी शक्ति की राजनीति के खेल खेलने में आधुनिक तानाशाह और राजनीतिज्ञ जो हथकण्डे अपनाते हैं वे उचित हैं। परन्तु यदि इसका अर्थ हम यह लें कि एक आदर्श राजनीतिज्ञ को एक अफ़लातूनी दार्शनिक नहीं, बल्कि एक वैज्ञानिक होना चाहिये जोकि अपने राज्य तथा उसके वांछनीय लक्ष्य के सिद्धान्त की रचना मानव के एक वैज्ञानिक एवं विवेकपूर्ण अध्ययन के आधार पर करना चाहता है जिसमें धार्मिक तथा आध्यात्मिक विचारों का कोई सम्मिश्रण न

हो, तो निस्सन्देह आधुनिक राजनीतिक विचार के इतिहास को यह एक मूल्यवान् देन है। यह कहा जा सकता है कि मैकियावेली ने राज्य को एक प्राकृतिक वस्तु समझने की परम्परा का शिलान्यास किया, जिसे बोदाँ, हॉब्स, लॉक, बैन्थम तथा अन्य विचारकों ने क़ायम रखा। मरे (Murray) के शब्दों में 'यह परम्परा वह है जोकि सामाजिक शक्तियों तथा सरकार के उद्देश्यों की सफल साधना को विवेकपूर्ण समझने की कुंजी विज्ञान में पाती है, नीति में नहीं। मैकियावेली का यह विश्वास कि "प्राकृतिक शक्तियों से ही राज्य का जन्म होता है और उन्हीं के बीच में रहता है, और यदि एक शासक और राज्य जीवन रूपी घोर प्रतिस्पर्धा से बच जाना चाहते हैं तो शासक को उन शक्तियों को समझना चाहिये तथा उनसे लाभ उठाना चाहिये", मार्क्स की पूर्वसूचना देता है।

यह सत्य है कि मैकियावेली का विचार उन आर्थिक शक्तियों की ओर नहीं गया जोकि समस्त राजनीतिक, सामाजिक तथा बौद्धिक परिवर्तनों के आधार पर मार्क्स को दीख पड़ीं; परन्तु उसने उस विचार का खण्डन किया (जिसे आगे चल कर मार्क्स ने भी ठुकराया) कि राज्य ईश्वरीय व्यवस्था का एक अंग है और मनुष्य तथा विश्व के लिये दैविक योजना के प्रकाश में ही उसे समझा जा सकता है। राजनीति को धर्म के बन्धन से स्वतन्त्र कर देना मैकियावेली की एक महान् देन है। इस दृष्टिकोण से उसे पुनर्जागरण की सृष्टि कहा जा सकता है। मैकियावेली की यह बुद्धिमत्तापूर्ण धारणा कि राज्य को समझने के लिए हमें मानवी वासनाओं और तृष्णाओं को समझना चाहिये, और इसी धारणा के पूरक स्वरूप उसका यह कहना कि एक सफल शासक को इन शक्तियों के ऊपर नियन्त्रण करना सीखना चाहिये, राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में एक युग की सूचना देता है और सम्पूर्ण आधुनिक विकास के लिए एक आधार प्रस्तुत करता है।

एक दूसरे दृष्टिकोण से भी मैकियावेली ने आधुनिक राजनीतिक विचार का शिलान्यास किया है। स्मरण रहे कि आधुनिक राजनीतिक विचार का केन्द्र-बिन्दु राष्ट्र-राज्य है, जिस प्रकार कि मध्यकालीन विचार का केन्द्र-बिन्दु सार्वभौमिक समाज था और प्राचीन विचार का नगर राज्य। अब राष्ट्र-राज्य की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता है उसकी सार्वभौमिकता (sovereignty)। सार्वभौमिकता, उसकी परिभाषा, उसका समर्थन, उसकी सीमायें, अथवा उसका निरस्तरण, वे कुछ समस्यायें हैं जो कि आधुनिक राजनीतिक दार्शनिकों के अध्ययन का प्रथम विषय हैं। यद्यपि मैकियावेली ने न तो इस विचार की परिभाषा दी है और न उसके ऊपर कुछ प्रकाश डाला है जैसा कि उसके बाद में बोदाँ और हॉब्स ने किया है, तथापि वह इसकी ओर तथा इसके अनुरूप क्षेत्रीय राष्ट्र-राज्य के विचार की ओर उत्सुकतापूर्ण दृष्टि से देख रहा है। मध्य काल में समाज के शिखरोन्मुखी संघटन और राजाओं तथा सम्राटों की सामन्ती सरदारों के ऊपर

निर्भरता ने इस विचार के विकास को कठिन बना दिया। शिखरोन्मुखी संघटन के सामन्तवादी विचार का खण्डन करके और उसके स्थान में समस्त नागरिकों तथा समुदायों के ऊपर एक सर्वशक्तिमान् केन्द्रीय शक्ति को प्रतिष्ठित करके उसने स्पष्ट रूप से सार्वभौमिकता के विचार के आविर्भाव के लिये मार्ग प्रशस्त कर दिया। "प्राचीन सिद्धान्त को नवीन सिद्धान्त से अलग करने वाली कोई भी अन्य धारणा इतनी स्पष्ट नहीं है। यह धारणा उस अत्यन्त विकसित, औद्योगिक तथा पूँजीवादी समाज, जिसमें कि हम आज रहते हैं, के स्वरूप को प्रतिविम्बित करती है और उसे सम्भव बनाती है।" *

अन्तिम उल्लेखनीय बात यह है कि यह कह कर कि एक राज्य को अपनी सीमाओं को जातीय एकतत्त्वीयता तक प्रसरित करना चाहिए और उससे आगे नहीं, मैकियावेली राष्ट्र-राज्य की धारणा का पूर्व सूचक बन गया। निस्सन्देह यह तो सत्य है कि मैकियावेली कहीं भी शब्द राष्ट्रीयता का प्रयोग उसके आधुनिक अर्थ में नहीं करता, किन्तु वह उन शक्तियों से भली-भाँति परिचित था जो कि एक राज्य को अन्य राज्यों के विरुद्ध संगठित रखती है। ये हैं: एक सामान्य परम्परा, एक सामान्य भाषा, तथा एक सामान्य क़ानून प्रणाली। मैकियावेली अपने समकालीनों को चेतावनी देते हुए कहता है कि उस राज्य पर जिसमें ये शक्तियाँ पाई जाती हैं, आक्रमण नहीं करना चाहिये, चाहे उसमें आपसी फूट ही क्यों न दिखाई पड़ती हो, क्योंकि एक विदेशी शत्रु की उपस्थिति एकदम नागरिकों को अपने परस्पर मतभेद को भूल जाने तथा विदेशी शत्रु के समक्ष संगठित हो जाने के लिए प्रेरित करेगी। इससे ज़ाहिर है कि मैकियावेली उन शक्तियों को अच्छी तरह से समझता था जिन्होंने कि आधुनिक काल में राष्ट्रीयता की भावना को जन्म दिया है। हाँ, इतना अवश्य है कि इस धारणा के एक निश्चित रूप धारण करने तथा राजनीति में एक महान् शक्ति बनने में कुछ समय लगा।

———

Select Bibliography

Cambridge Modern History, Vol. I, Chapter VI.
Cook : History of Poiltical Philosophy, Chapter X.
Doyle : History of Political Thought, Chapter VIII.
Foster : Masters of Political Thought, Vol. I.

* Nothing so clearly separates ancient from modern theory as the appearance on the scene of this concept, which at once reflects the nature of, and makes possible, the highly developed, industrial and capitalistic society in which we live today."

—Jones, *op. ct.*, page 51.

Hearnshaw : Social and Political Ideals of the Renaissance and Reformation, Chapters I and IV.
Jones : Masters of Political Thought, Vol. II, Chapter I.
Maxey : Modern Philosophies, Chapter IX.
Murray : An Introduction to Political Philosophy, Chapter VI.
Sabine : History of Political Theory, Chapter XVII.

अध्याय २

सुधार आन्दोलन (Reformation) के राजनीतिक विचारक : लूथर तथा काल्विन

परिचयात्मक— उस महान् बौद्धिक उथल पुथल ने जोकि रैनेसाँ (Renaissance) के नाम से विख्यात है और जिसका फल मैकियावेली था, मध्य काल को जीवन के प्रायः समस्त क्षेत्रों में समाप्त कर दिया। १६वीं शताब्दी के आरम्भ से आर्थिक, राजनीतिक तथा बौद्धिक क्षेत्रों में नवीन शक्तियाँ कार्य कर रही थीं और नवीन पद्धतियाँ प्रयोग की जा रही थीं। परन्तु रोमन चर्च एक ऐसी महान् संस्था थी जिस पर इन बातों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। मध्यकालीन यूरोप का आधुनीकरण तब तक पूर्ण नहीं हो सकता था जब तक कि **रोमन चर्च** मध्यकालीन था। "शासन में, सिद्धान्त में, तथा जीवन में यह अब भी सब से अधिक ज़ोर उन्हीं परम्पराओं पर देता था जिन्हें कि प्रारंभिक ईसाइयत के आधार पर मध्य-काल की विशेष स्थितियों ने बनाया था, और वह अपरिवर्तित रहने के लिये ही कटिबद्ध था।"* **रोमन चर्च** में परिवर्तन लाना, इस सिद्धान्त को कि सम्पूर्ण यूरुप एकल ईसाई समाज है और जिसका कि पोप सर्वोपरि प्रधान है, नष्ट कर देना **रिफॉर्मेशन** का एक महान् कारनामा था। परोक्ष रूप से इसने इस धारणा को भी नष्ट कर दिया कि मानवीय विषयों का अन्तिम स्वामी चर्च है। जब तक ये विचार प्रचलित थे तब तक वह राष्ट्र-राज्य, जिसका प्रादुर्भाव फ्रांस के राजा फिलिप दी फ़ेयर (Philip the Fair) के समय से होना आरम्भ हुआ था, अपना पूर्ण तथा परिपक्व रूप धारण नहीं कर सकता था। रिफॉर्मेशन (सुधार आन्दोलन) ने इन मध्यकालीन धारणाओं को नष्ट कर दिया और राष्ट्र-राज्य की रचना करने तथा आधुनिक यूरोप को जन्म देने में रैनेसाँ (पुनर्जागरण) के कार्य की पूर्ति की।

रिफॉर्मेशन (Reformation)— रिफॉर्मेशन जिसे प्रोटेस्टेएट रिफॉर्मेशन भी कहा जाता हैं के जन्मदाता **मार्टिन लूथर** थे जिन्होंने इसे ईसाई धर्म-ग्रन्थों की पुनर्व्याख्या तथा सुधार के रूप में आरंभ किया था। जहाँ तक कि इसका उद्देश्य चर्च के संगठन का सुधार करना (Reforms of the Church in head and members),

---

* "In government, in doctrine, and in life it still placed the greatest emphasis upon those traditions which the peculiar conditions of the middle ages had built upon the foundations of the primitive Christianity, and it was determined to remain unchanged."

—Adams : *Civilisation during the Middle Ages*, page 406.

चर्च में पोप की निरपेक्ष शक्ति के दावे को ठुकराना तथा चर्च के प्राधिकार के लिए एक व्यापकतर आधार की मांग करना था, इसे **कन्सीलियर** आन्दोलन की ही प्रत्यावृत्ति कहा जा सकता है। यदि **कन्सीलियर** आन्दोलन सफल हो जाता तो **रिफॉर्मेशन** का जन्म ही न होता। परन्तु यद्यपि कन्सीलियर आन्दोलन विफल हो गया था, तथापि उसकी प्रेरक शक्ति का अन्त नहीं हुआ। लूथर से पहिले भी चर्च के सुधार के लिए आन्दोलन चले थे, परंतु उनका प्रभाव सीमित था और वे सफल नहीं हुए। लूथर से पहिले सौ वर्षों में बौद्धिक जगत में जो क्रांति हुई और **रिफॉर्मेशन** के समय यूरोप की राजनीतिक स्थिति ने, इसके प्रादुर्भाव और सफलता के लिए अत्यन्त अनुकूल भूमि प्रस्तुत कर दी।

मार्टिन लूथर (Martin Luther)— इस महान् आन्दोलन का प्रवर्त्तक था मार्टिन लूथर जिसके व्यक्तित्व की उस पर गहरी छाप पड़ी थी। इसलिये उसके जीवन के विषय में दो शब्द कह देना आवश्यक प्रतीत होता है। उसका जन्म १४८३ में और देहावसान १५४६ में हुआ। वह मैकियावेली से केवल १४ वर्ष छोटा था और इस प्रकार उसका लगभग समकालीन था। इसका अर्थ यह है कि उस पर भी **पुनर्जागरण** (Renaissance) का प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। निस्सन्देह ऐसा हुआ भी, किन्तु केवल थोड़ी ही सीमा तक। अपनी भावना और पद्धति के दृष्टिकोण से लूथर एक मानवतावादी और इसलिए **पुनर्जागरण** का शिशु है। परन्तु यह स्मरण रहे कि वह जिस धार्मिक स्थिति पर पहुँचा और जिसके फलस्वरूप उसने **रोमन चर्च** के विरुद्ध विद्रोह किया उसके मूल में **पुनर्जागरण** का कोई प्रभाव नहीं था। यदि हम उसे **पुनर्जागरण** का शिशु ही कहते हैं तो हमें उसे उसका केवल दत्तक शिशु ही कहना पड़ेगा। "स्वभावतः उसकी भावना का वह उत्तराधिकारी नहीं था, और न ही उसकी समस्त प्रवृत्तियों का। वह उसकी पद्धतियों और सिद्धान्तों को केवल इसलिए स्वीकार करता था, क्योंकि वे उसके लिए आवश्यक थे।"* उस प्रधान समस्या का जिसने कि उसके ध्यान को आकृष्ट किया और जिसके कारण उसको रोमन कैथोलिक चर्च से अपना सम्बन्ध विच्छेद करना पड़ा पुनर्जागरण की प्रवृत्ति तथा भावना से कोई सम्बन्ध न था। उसका मुख्य प्रश्न था कि प्रभु की अनुकम्पा आन्तरिक आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा प्राप्त होती और उसमें अभिव्यक्त होती है, या कि वह चर्च द्वारा निर्धारित नियमों का पालन करने और कुछ धार्मिक संस्कारों को सम्पन्न करने का फल है। दूसरे शब्दों में, वह जानना यह चाहता था कि मुक्ति प्राप्त करने के लिए विश्वास आवश्यक है या कर्मकाण्ड।

प्रारम्भ से ही लूथर की प्रवृत्ति धार्मिक थी और वह पाप से किसी प्रकार का कोई समझौता नहीं करना चाहता था। १५०७ में वह एक पादरी के रूप में प्रतिष्ठित हुआ और विटेनबर्ग के विश्वविद्यालय में एक प्राध्यापक बना दिया गया। १५११ ई० में उसे कार्यवश रोम जाना पड़ा। उसके जीवन में यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना थी;

* Adams : *op. ct.*, page 422.

क्योंकि वहाँ पर उच्चतर पादरियों के व्यवहार और आचार को देख कर उसे गहरा आघात लगा। चर्च में सुधार करने की तीव्र इच्छा को मन में लिये वह वापिस लौटा। उस समय उससे सम्बन्ध विच्छेद करने का कोई विचार उसके मन में न था। थोड़ा आगे चल कर उसे एक और धक्का लगा। टेटज़ेल (Tetzel) नामक एक पादरी विटेनबर्ग में आये और पाप क्षमा कराने के लिये क्षमा-पत्र (Indulgences) नामक एक बहुत ही भद्दे और निकृष्ट सिद्धान्त का प्रचार किया; जिसका सार था कि चर्च को कुछ धन देने पर कोई भी व्यक्ति अपने पापों का विमोचन करा सकता था और स्वर्ग में अपने प्रवेश को निश्चित करा सकता था। लूथर उत्तेजित हो उठा। विटेनबर्ग में चर्च के द्वार पर उसने ९५ प्रस्ताव लिख कर चिपकाये। उनमें वे धारणायें थीं जिनका कि वह उन समस्त व्यक्तियों के विरुद्ध अनुमोदन करना चाहता था जो उनका खण्डन करते थे। उन धारणाओं का आधार वह विश्वास था जिस पर कि वह धर्म-ग्रन्थों के काफी चिन्तन, मनन के पश्चात् पहुँचा था। उसका उद्देश्य लोगों के इस भ्रम को दूर करना था कि केवल कर्म-काण्ड का पालन करने से मुक्ति प्राप्त हो सकती है; वह मनुष्य को सच्चे ईसाई धर्म की ओर फिर से लाना चाहता था। उस समय तक वह पोप के प्राधिकार और चर्च की अच्युतता से इन्कार नहीं करता था; ऐसी तथा अन्य बातों पर तो वह पोप के अभिकर्त्ताओं के साथ वाद-विवाद करने में आया। चर्च ने उसका धर्म-बहिष्कार कर दिया और उसका उससे सम्बन्ध विच्छेद हो गया। इस प्रकार रिफॉर्मेशन का जन्म हुआ। रोमन कैथोलिक धर्म के प्रति लूथर का यह विद्रोह तथा तद्जनित रिफॉर्मेशन हमारे यहाँ स्वामी दयानन्द द्वारा पौराणिक धर्म का खण्डन तथा आर्य समाज की स्थापना के कितना निकट है!

रिफॉर्मेशन के राजनीतिक परिणाम— उपरोक्त वर्णन से यह तो स्पष्ट ही हो गया होगा कि अपने आरंभ में और अपने उद्देश्य के दृष्टिकोण से रिफॉर्मेशन विशुद्ध रूप से एक धार्मिक आन्दोलन था; उसका राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं था। परन्तु शीघ्र ही उसका एक बहुत बड़ा राजनीतिक परिणाम निकला। उसका तत्काल प्रभाव हुआ राज्य की शक्ति का बढ़ना और निरंकुश राजतंत्र को यूरोप में एक सामान्य शासन रूप बनाना। यह सब कैसे हुआ? यह देखना रोचक होगा।

याद रहे कि लूथर का आन्दोलन अपने प्रकार का सर्वप्रथम आन्दोलन न था; चर्च को सुधारने के प्रयत्न पहिले भी हुए थे, परन्तु वे सब विफल हो गये। लूथर ने अनुभव किया कि अपने आन्दोलन में सफल होने के लिए रोम के विरुद्ध संघर्ष में राज्य का समर्थन करना आवश्यक है। परन्तु इस आन्दोलन के धार्मिक स्वरूप में राजकीय प्राधिकारियों की कोई रुचि न थी। प्रॉटेस्टेण्ट सुधारकों की इन शिक्षाओं में कि व्यक्ति को पोप के माध्यम के बिना ही ईश्वर से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखना चाहिये और अपने अन्तःकरण के अनुसार धर्म-ग्रन्थों की व्याख्या करने का उसे अधिकार होना चाहिये,

उनका कोई अनुराग न था। परन्तु सुधारकों की अन्य प्रस्थापनाओं के प्रति उनका दृष्टिकोण भिन्न था। उन्होंने इन प्रस्थापनाओं में गहरी दिलचस्पी दिखाई कि पोप का प्राधिकार केवल रोम के चर्च की निजी सम्पत्ति तक ही सीमित रहे और ईसाई जगत के अन्य चर्चों की असीम सम्पत्ति पर उसका कोई अधिकार न रहे। अपने अपने राज्यों में चर्च की सम्पत्ति के एक बड़े भाग पर अपना अधिकार हो जाने की सम्भावना राजाओं के लिये स्वाभाविक रूप से ही आकर्षक सिद्ध हुई। उन्होंने देखा कि चर्च की सम्पत्ति पर या तो स्वयं अधिकार करके या उसे अपने अधीनस्थ किसी धार्मिक निकाय को सौंप कर वे अपने राज्य को अधिक सम्पन्न बना सकते थे। इंग्लैण्ड तथा जर्मनी के शासक प्रॉटेस्टेण्ट सुधारकों के पक्ष में हो गये। इन देशों में राष्ट्रीय प्रॉटेस्टेण्ट चर्चों की स्थापना हुई और नवीन धर्म प्रणाली का प्रधान अथवा संरक्षक वहाँ का शासक बना। इन गति-विधियों का स्वाभाविक परिणाम हुआ राज्य की शक्ति का बढ़ना।

राजा की शक्ति तथा अधिकार में वृद्धि फ्रांस तथा स्पेन जैसे देशों में भी हुई जहाँ कि कैथोलिकवाद ही राष्ट्रीय धर्म बना रहा। समस्त देशों में सफलता उसी धार्मिक दल की हुई, (चाहे वह प्रॉटेस्टेण्ट हो, चाहे कैथोलिक) जिसने कि अपने आपको राज्य की आन्तरिक नीति से सम्बद्ध कर लिया। "इस प्रकार हार चाहे किसी की भी क्यों न हुई हो, विजय राजाओं की हुई, और निरंकुश राजतन्त्र को, जिसका जन्म रिफॉर्मेशन के द्वारा नहीं हुआ था और जिसका स्वाभाविक सम्बन्ध दोनों ही धार्मिक विश्वासों से बराबर था, इसका सबसे अधिक राजनीतिक लाभ पहुँचा।" *

रिफॉर्मेशन से राजतन्त्र को एक दूसरे ढंग से भी सम्बल मिला। इसका आधारभूत और केन्द्रीय बिन्दु था व्यक्ति का सम्मान। लूथर प्राधिकार के सिद्धान्त का विरोध करता था और व्यक्ति के लिये अन्तःकरण की स्वतन्त्रता की माँग करता था। धर्म-ग्रन्थों की वह किसी भी ऐसी व्याख्या को मानने को तैयार न था जो कि उसके व्यक्तिगत निर्णय के विरुद्ध हो चाहे उसे **रोमन कैथोलिक चर्च** की सम्पूर्ण सामूहिक शक्ति का समर्थन ही क्यों न प्राप्त हो। उसने जो स्थिति अपनाई उसका अभिप्राय यह था कि ईश्वरीय क़ानून की व्याख्या करना और उसके ऊपर आचरण करना व्यक्ति के विवेक का कार्य है; उसे चर्च के अत्याचार और धमकी की चिन्ता नहीं करनी चाहिये जो कि एक दैविक संस्था होने का दावा करता था। इससे गम्भीर प्रश्न उत्पन्न हो गये। "यदि धर्म सम्बन्धी उत्कृष्ट विषयों में ईश्वरीय क़ानून के ऊपर व्यक्ति इतने अधिकारपूर्वक ढंग से बोल सकता था तो विशुद्ध रूप से मानवीय सम्बन्धों में ईश्वरीय क़ानून का निर्णय तो

* "Thus, whoever lost, the kings won, and the absolute monarchy, which the Reformation did not originate and which was no more naturally related to one form of religious belief than another, was in the first instance its chief political beneficiary."

—Sabine : *History of Political Theory*, page 356.

वह निश्चित रूप से ही कर सकता था। ……… यदि अपने अन्तःकरण के नाम पर व्यक्ति दैविक संस्थाओं तक की अवहेलना कर सकता था तो केवल मानवीय क़ानूनों की अवज्ञा तो वह और भी अधिक सरलता से कर सकता था क्योंकि आखिर उनका दैविक स्रोत तो अप्रत्यक्ष ही था। लूथर के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक मनुष्य एक धर्म पुरोहित बन गया और राजनैतिक तथा धार्मिक विषयों में प्रत्येक मनुष्य अपना क़ानून स्वयं अपने आप बन गया।" *

मानव समता तथा धार्मिक दोषों को सुधारने के मनुष्य के कर्त्तव्य सम्बन्धी लूथर की शिक्षाओं के परिणामस्वरूप जर्मनी में १५२५ में कृषक युद्ध (Peasants' War) हुआ। अशिक्षित जन-साधारण ने अनुभव किया कि उन्हें उन सामाजिक दोषों को दूर करने का अधिकार है जो कि लम्बे समय से चले आ रहे हैं और जिनके कारण उन्होंने काफी कष्ट उठाया था। उन्होंने न्याय के नाम में विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। लूथर भयभीत हो उठा; उसने देखा कि उसकी शिक्षाओं का परिणाम न्याय नहीं अराजकता निकला। वह कुछ पीछे हटा और उसने राज्य की आज्ञा का पालन करने के कर्त्तव्य का उपदेश देना आरम्भ कर दिया। उसकी धारणा थी कि दोषों का सुधार करना धर्माधिकारियों का कर्त्तव्य था और यदि वे ऐसा करने में विफल रहें तो यह काम राज्याधिकारियों को करना चाहिये जिनकी स्थापना ईश्वर ने इस उद्देश्य के लिये की है। किन्तु व्यक्तिगत रूप से नागरिकों को यह कार्य नहीं करना चाहिये। चर्च को शुद्ध रखने तथा उसके वैभव को क़ायम रखने का कार्य ईश्वर ने राजाओं को सौंपा है, जनता को नहीं। लूथर ने व्यक्तिगत सम्मान और अन्तःकरण की स्वतन्त्रता का पहिले जो प्रतिपादन किया था और राज्य के प्रति उसने पहिले जो भर्त्सनापूर्ण रवैया अपनाया था, उस सब का यह निषेध था। यह राज्य के दैविक मूल तथा राजाओं के महत्त्व और ऐश्वर्य की स्वीकृति थी। इसने प्रजाजन के ऊपर राजाओं के अधिकार को भी अधिक दृढ़ बनाया। यह दूसरा ढंग था जिसमें कि **रिफॉर्मेशन** ने राजतन्त्र को सम्बल पहुँचाया।

अन्तःकरण की स्वतन्त्रता तथा धर्म-ग्रन्थों की व्याख्या अपने ढंग से करने के व्यक्ति के अधिकार पर लूथर ने जो बल दिया उसके फलस्वरूप उत्तरी यूरोप के एक बड़े भाग में असंख्य धार्मिक अल्पमतों का जन्म हो गया। नवीन चर्चों की स्थापना हुई; जिनमें से

* "If the individual could speak so certainly on the Law of God in the high matters of faith, surely he could judge what was the Law of God in purely human relations .... If divine institutions could be defied by the individual in the name of his conscience, how much more so merely human laws only indirectly derived from a divine source. Every man became by Luther's theory a priest, every man he implied became a law unto himself in political as well religious matters.' —Doyle : *History of Political Thought*, page 138.

प्रत्येक दूसरों की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्ट धर्म की झांकी रखने का दावा करता था, सहिष्णुता की भावना का प्रायः अभाव था ; और इसलिये अत्यधिक संख्या में छोटे-मोटे समूहों की उपस्थिति सार्वजनिक व्यवस्था के लिये खतरे का एक सम्भावित स्रोत बन गई। क्योंकि प्रत्येक धार्मिक समूह अपने सदस्यों के लिये कानूनी संस्थाओं के लाभ प्राप्त करने की चेष्टा करता था, इसलिये प्रत्येक धार्मिक प्रश्न एक राजनीतिक प्रश्न बन गया। इस प्रकार धर्म तथा राजनीति का सम्मिश्रण हो गया। कैथोलिक प्रॉटेस्टेएट धर्म विमुख राजाओं को सुधारने का दावा करते थे और प्रॉटेस्टेएट कैथोलिक धर्म विमुख शासकों को सुधारने का दावा करते थे। ऐसी स्थिति में मैकियावेली द्वारा किये हुए राज्य और धर्म के पृथक्करण का कोई अर्थ न रहा। इस प्रकार राजनीतिक सिद्धान्त में रिफॉर्मेशन प्रतिगामी आन्दोलन था ; इसको देखकर ऐसा लगता था कि मैकियावेली के सिद्धान्त के लिये उचित समय अभी नहीं आया था।

धार्मिक संघर्ष तथा कट्टरता को उत्पन्न करके रिफॉर्मेशन ने एक बहुत बड़ा प्रश्न यह पैदा किया कि क्या नागरिकों को अपने शासकों की अवहेलना करने का अधिकार है ? इसके दो विभिन्न उत्तर दिये गये। एक विचार तो यह था कि नागरिकों को ऐसा करने का कोई अधिकार नहीं है ; उन्हें बिना चूं चरां किये हुए राज्य की आज्ञा का पालन करना चाहिये। स्वयं लूथर इसी का उपदेश देता था। आगे चलकर यही बात **राजाओं के दैविक अधिकार** के सिद्धान्त में विकसित हो उठी। दूसरी धारणा यह थी कि नागरिक राजा की शक्ति का विरोध कर सकते थे क्योंकि राजा अपनी शक्ति जनता से प्राप्त करता था, इस लिये उचित कारणों के लिए उससे जवाब तलब किया जा सकता था। वह सत्रहवीं शताब्दी में **संविदा सिद्धान्त** का पूर्व-सूचक बन गया। यद्यपि स्वयं **काल्विन** का, जो कि एक महान् प्रॉटेस्टेएट सुधारक था, यह विचार था कि विधिवत् निर्मित राजकीय शक्ति की अवज्ञा करना ग़लत है, किन्तु फ्रांस तथा स्कॉटलैएड में उसके अनुयाइयों ने इसके विपरीत इस सिद्धान्त को प्रतिपादित किया कि धार्मिक सुधार के हित में राज्य की अवज्ञा की जा सकती है। स्कॉटलैएड के जॉन नॉक्स (John Knox) ने कैथोलिक शासकों के विरुद्ध विद्रोह और यहाँ तक कि आततायी शासक के वध तक का प्रचार किया। दैविक अधिकार के सिद्धांत का खण्डन करने के लिए राज-विरोधी सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया गया। तत्कालीन राजनैतिक सिद्धान्त तथा व्यवहार के ऊपर **रिफॉर्मेशन** का एक अन्य प्रभाव भी उल्लेखनीय है। इससे पूर्व एक प्रभावक संस्था ऐसी थी जिसमें कि राजकीय प्राधिकारियों की सीमा निर्धारित करने तथा उनका निर्णय करने की सामर्थ्य थी। यह संस्था थी **रोमन चर्च** जोकि शक्ति और अधिकार की चरम सीमा पर पहुँचा हुआ था। उसकी शक्ति का ह्रास हो जाने पर भी वह अपनी विहार संस्थाओं, धार्मिक नियमों तथा धार्मिक कानून द्वारा राज्य के ऊपर एक नियंत्रण रखता था। परन्तु विश्वव्यापक चर्च के विघटन हो जाने, विहार संस्थाओं के दलित हो जाने तथा धर्म कानून के रद किये जाने

से यह वांछनीय नियंत्रण भी जाता रहा। लौकिक राज्य के कार्यों को विनियमित तथा नियंत्रित करने वाली कोई उच्चतर अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति न रही। इस उच्चतर शक्ति की आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए एक प्राकृतिक क़ानून (Natural Law) जिसे पोप भी नहीं बदल सकता था, की धारणा को पुनर्जीवित किया गया जिसका मध्य काल में बहुत प्रचार था। यह प्राकृतिक कानून एक विश्वव्यापक आदर्श अथवा मापदण्ड था जिसके द्वारा मानव सम्बन्ध विनियमित होते थे, अथवा जिसके द्वारा वे विनियमित होने चाहियें थे। प्राकृतिक कानून के इस मध्यकालीन विचार को आधुनिक संसार में लाने वाला था **रिचर्ड हूकर** (Richard Hooker) और व्यक्तियों के प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त में इसे क्रियान्वित करने का श्रेय है लॉक को।

रिफॉर्मेशन की अन्य महत्त्वपूर्ण देन है सहिष्णुता (Toleration) जिसे धार्मिक मतभेदों का एकमात्र निराकरण समझा गया। **रिफॉर्मेशन** का तुरन्त परिणाम यह हुआ कि ईसाई जगत दो परस्पर विरोधी गुटों, **प्रॉटेस्टेण्ट** तथा **कैथोलिक**, में विभक्त हो गया। कैथोलिक शासकों ने अपनी प्रॉटेस्टेण्ट प्रजा का और प्रॉटेस्टेण्ट शासकों ने अपनी कैथोलिक प्रजा का दमन करना आरम्भ किया। परन्तु एक सम्प्रदाय का दूसरे को नष्ट कर देने का प्रयास सर्वथा निष्फल रहा। प्रॉटेस्टेण्ट तथा कैथोलिक सरीखे महान् सम्प्रदायों का तो कहना ही क्या, छोटे छोटे सम्प्रदायों को भी दबाने तथा झुकाने में राजकीय अधिकारियों को सफलता प्राप्त न हो सकी। धीरे धीरे और परिस्थितिवश ही यह विचार पनप पाया कि यदि राष्ट्र-राज्य को जीवित रहना है और उसे अपने प्रजाजन को एक क़ानून का शासन तथा व्यवस्था देनी है जिसमें कि जीवन प्रगति कर सके और कला, व्यापार तथा उद्योग फल-फूल सके तो चर्च और राज्य को एक दूसरे से पृथक् करना ही पड़ेगा। राज्य की ओर से अपने नागरिकों को यह पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिये कि वे उसके किसी हस्तक्षेप के बिना अपनी इच्छानुसार किसी भी धर्म का पालन कर सकें। मनुष्य का परमात्मा के साथ सम्बन्ध उसका व्यक्तिगत विषय है जिससे राज्य को कोई सरोकार नहीं होना चाहिये। यदि ऐसा होना सम्भव हो, अर्थात्, यदि राज्य धार्मिक मतभेदों से अलग और ऊपर रहे तो विभिन्न धर्म के अनुयाइयों में एक सामान्य राजनैतिक निष्ठा रखना सम्भव हो सकता है। परन्तु धार्मिक सहिष्णुता के इस पाठ को सीखने के लिये यूरोप को मानव रक्त तथा पीड़ा के रूप में एक भारी मूल्य देना पड़ा।

रिफॉर्मेशन के राजनैतिक परिणामों की इस विवेचना को समाप्त करने से पूर्व फिगिस का निम्नलिखित अवतरण देना अनावश्यक न होगा। "जहाँ तक कि रिफॉर्मेशन ने एक सुसंगठित, सर्वशक्तिमान्, क्षेत्रीय तथा नौकरशाही-प्रधान राज्य की सृष्टि में सहायता दी, जहाँ तक कि प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से उसने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को प्रोत्साहन दिया, वहाँ तक उसे अपने परिणामों में आधुनिक समझा जा सकता है। परन्तु जहाँ तक कि इसकी प्रवृत्ति सामुदायिक आदर्शों, धार्मिक राजनीति, शासन के रूप

के लिए धर्म-ग्रन्थ की अपील को पुनर्जीवित करने की थी, वहाँ तक यह उन मध्यकालीन विचारों की ओर लौट जाना था जो कि अरस्तु तथा पुनर्जागरण के निश्चित प्रभाव के कारण अधिकतर लोप होते जा रहे थे।"*

रिफॉर्मेशन के कुछ महत्त्वपूर्ण नेताओं के राजनीतिक विचार— यद्यपि बहुत से व्यक्ति **मार्टिन लूथर** के नाम तथा **रिफॉर्मेशन** शब्द को प्रायः पर्यायवाची समझते हैं, परन्तु इसके प्रवर्त्तक के अतिरिक्त रिफॉर्मेशन के कई अन्य नेता भी हुए हैं। उनमें से प्रमुख हैं मेलान्क्थन (Melanchthon), ज़ुइंगली (Zwingli), काल्विन (Calvin) तथा नॉक्स (Knox)। धार्मिक तथा राजनीतिक विषयों में इन सब का आपस में मतभेद था। यहाँ हम केवल मार्टिन लूथर तथा जॉन काल्विन के विचारों का वर्णन करेंगे।

मार्टिन लूथर— यद्यपि मार्टिन लूथर रिफॉर्मेशन का प्रवर्त्तक है तथापि उसके राजनीतिक विचारों का अधिक विवरण देना आवश्यक नहीं। उसे इस प्रकार चलता कर देने का कारण यह है कि उसका कोई संगतिबद्ध राजनीतिक दर्शन नहीं है। किसी भी विषय के ऊपर लूथर एक क्रमबद्ध विचारक नहीं था, और न ही वह हो सकता था क्योंकि उसके लिये आवश्यक धैर्य और शीतलता उसमें न थी। वह गर्ममिजाज और धैर्यहीन था। जैसा कि ऐलन का कहना है, लूथर में "विचार की अपेक्षा अनुभूति अधिक थी, और उन बातों की अपेक्षा जिनमें कि उसे विश्वास था उसे उन बातों की अधिक जानकारी थी जिनमें कि उसे विश्वास न था। उसके समस्त ग्रन्थ एक उत्तेजनापूर्ण वाद-विवाद के अंग हैं।" उसके ग्रन्थ किसी गम्भीर चिन्तन की सृष्टि नहीं हैं। वह कोई क्रमबद्ध विचारक नहीं था; वह आवश्यकतानुसार सोचता था। जो कुछ भी राजनीतिक विचार हमें उसकी कृतियों में मिलते हैं, उन सबकी उद्भावना उस गरमागर्म वाद-विवाद में हुई जिसमें कि वह जीवन-पर्यन्त उलझा रहा। अपने उत्तेजनाशील स्वभाव के कारण वह प्रायः अपने विचारों को अतिरंजित भाषा में व्यक्त कर बैठता था जिसका परिणाम यह हुआ कि उसमें प्रायः गम्भीर असंगतियाँ उत्पन्न हो गईं। यदि हम यह मान भी लें कि उसका कोई राजनीतिक दर्शन था तो वह एक विलक्षण विरोधाभास था। उसके

---

* "So far as the Reformation helped to produce the compact, omnicompetent, territorial, bureaucratic state, so far as directly or indirectly it tended to individual liberty, it must be regarded as modern in its results. But so far as it tended to revive theocratic ideals, theological politics, and appeals to scripture in regard to the form of government, it was a reversion to the ideals of the earlier Middle Ages, which were largely disappearing under the combined influence of Aristotle and Renaissance." Quoted by Gettell.

राजनीतिक विचारों का वर्णन करने का सब से अच्छा ढंग होगा उन असंगतियों को व्यक्त कर देना जो कि उसमें पाई जाती हैं।

लूथर का आरम्भ विन्दु है व्यक्तिगत निर्णय तथा अन्तःकरण की स्वतन्त्रता का समर्थन। उसकी आरम्भिक शिक्षा यह थी कि यदि धार्मिक अधिकारी अर्थात् पादरीगण दुराचार की चेष्टा न रोकें तो उसका सुधार करना व्यक्ति का कर्त्तव्य हो जाता है। किन्तु जब उसने जर्मनी के कृषकों को सामाजिक न्याय के नाम में अपने शासकों के प्रति विद्रोह करते हुए और अपने सामाजिक दोषों, जिनसे कि वे इतने दिन से पीड़ित थे, को दूर करने का प्रयत्न करते हुए देखा तो उसने शासकों का पक्ष ग्रहण किया और 'कृषक युद्ध' (Peasants' War) की निन्दा करने लगा। यहाँ तक कि उसने सामन्तों को यह भी सलाह दी कि विद्रोह को कुशलतापूर्वक दबाने के लिए उन्हें निर्दयतापूर्वक विद्रोहियों की हत्या करनी चाहिये। कृषकों को उसने चुपचाप वैधानिक सत्ताधारियों की आज्ञापालन करने का उपदेश दिया।

एक ओर तो लूथर इस बात के ऊपर बल देता है कि व्यक्ति को शासकों की आज्ञा का चुपचाप पालन करना चाहिये; वह सक्रिय विरोध की निन्दा करता है क्योंकि उसके विचार से ईश्वर ने मनुष्य को यह आदेश दिया है कि उसे शासकों की आज्ञा का पालन करना चाहिये, क्योंकि यदि मनुष्यों को यह अधिकार दे दिया गया कि जब भी शासक-गण गलती पर हों वे उनका विरोध कर सकें तो न तो कोई प्राधिकार रहेगा और न आज्ञा-पालन। दूसरी ओर वह इस बात को मानता है कि वे राजा-गण जो कि सम्राट् के अधीन थे सम्राट् की अवहेलना कर सकते हैं यदि वह अपनी शक्ति का उल्लंघन करे। इन दोनों बातों में संगति नहीं हो सकती। इस संगतिहीन परामर्श का कारण यह है कि लूथर सम्राट् की शक्ति को कम करने के लिये और राजाओं को अपने पक्ष में करने के लिए चिन्तित था। हमें याद रखना चाहिये कि ऐसे प्रश्नों के विषय में उसका पथ-प्रदर्शन करने के लिए उसका कोई संगतिबद्ध और सुनिश्चित राजनीतिक दर्शन अथवा राज्य का सिद्धान्त न था; उसके विचार परिस्थितियों द्वारा निर्धारित होते थे।

इस प्रसंग में यह बात उल्लेखनीय है कि लूथर राजाओं को साधारणतया धरती पर सब से बड़े मूर्ख और निकृष्टतम धूर्त समझता था। ऐसे मूर्खों और धूर्तों की आज्ञा-पालन के सर्वसाधारण के अशर्त कर्त्तव्य पर बल देना कहाँ तक संगत है? वह यह भी स्वीकार करता है कि राज्य के प्रति आज्ञापालन का हमारा कर्त्तव्य ईश्वर के प्रति हमारे कर्त्तव्य द्वारा सीमित है। उसके इस विश्वास से भी उसकी उपरोक्त धारणा की संगति नहीं बैठती। उसका कहना था कि यदि कोई राजा किसी व्यक्ति से अपना धर्म छोड़ने के लिए कहे तो उसे राजा की आज्ञा का पालन करने से इन्कार कर देना चाहिये और सहर्ष दण्ड भुगत लेना चाहिये। सारांश यह कि लूथर की विचारधारा में राज्य के प्रति भक्ति ईश्वर के प्रति निष्ठा से सीमित है।

यदि, एक ओर, लूथर ने मानव समानता के सिद्धान्त का प्रचार किया और उसे चर्च संगठन तथा पादरियों के विशेष अधिकारों तथा विमुक्तताओं के ऊपर आक्रमण का आधार बनाया, तो दूसरी ओर, उसका जनसाधारण में कोई विश्वास न था; उन्हें वह शैतान कहकर पुकारता था। जिसका परिणाम उसका यह वाक्य है: "जनता के सही काम करने की अपेक्षा मुझे राजा का गलत काम करना भी अच्छा लगता है।" (I would suffer a prince doing wrong than a people doing right.)

अपने स्वभाव के कारण तथा अन्तःकरण की स्वतन्त्रता में अपने दृढ़ विश्वास के कारण लूथर धर्म-विषयक मामलों में विवशीकरण में विश्वास नहीं कर सकता था। आन्तरिक अनुभूति को वह धर्म का सार समझता था जिसे शक्ति प्रयोग द्वारा कभी उत्पन्न नहीं किया जा सकता। इसीलिये उसने यह कहा कि विधर्म को दबाने के लिए शक्ति का प्रयोग कभी नहीं होना चाहिये। "उसके लिये एक दूसरे यन्त्र की आवश्यकता है। यहाँ ईश्वरीय वाक्य का प्रयोग करना चाहिए। यदि उससे काम न चले, तो लौकिक शक्ति भी उसका निर्णय कभी नहीं कर सकती, यद्यपि वह संसार को रक्त से भर देगी।"* इससे स्पष्ट है कि लूथर के अनुसार विधर्म का विनाश तथा प्राचीन धर्म की स्थापना करना राज्य का कार्य नहीं है। परन्तु परिस्थितियों से विवश होकर लूथर को अपना मत बदलना पड़ा और वह इस परिणाम पर पहुँचा कि राज्य को विधर्म को कुचलना चाहिये और विधर्मी शिक्षाओं को अवैध घोषित कर देना चाहिये। जब उसने यह देखा कि अनाबाप्टिस्ट्स (Anabaptists) की सैद्धान्तिक अतिरंजनायें एक व्यापक पैमाने पर सामाजिक असंतोष उत्पन्न कर रही हैं तो उसने उन्हें सार्वजनिक सुरक्षा तथा शान्ति के हित में कुचलना राज्य का कर्त्तव्य समझा। वह यह भी मानता था कि राज्य को कैथोलिक संस्कारों के सार्वजनिक रूप से सम्पन्न किये जाने को रोकना चाहिये। ज्यों ज्यों समय बीतता गया लूथर के समर्थकों में धार्मिक विषयों में राज्य की परम सत्ता के ऊपर बल देने की प्रवृत्ति बढ़ती गई।

अन्त में हम राज्य तथा चर्च के सम्बन्ध के विषय में लूथर के विचारों का उल्लेख करेंगे। इस क्षेत्र में उसकी देन को भली प्रकार समझने के लिये इन शक्तियों के सम्बन्ध में मध्यकालीन धारणा को ध्यान में रखना आवश्यक होगा। पोप ग्रेगरी सप्तम के समय से राज्य को सामान्यतया चर्च के अधीन समझा जाता था। यह माना जाता था कि पद तथा गौरव के दृष्टिकोण से राज्य के कर्मचारी धर्माधिकारियों से हीन हैं और उत्तरोक्त की आज्ञाओं तथा आदेशों का पालन करना पूर्वोक्त का धर्म है। राज्य का जो कानून चर्च के कानून का उल्लंघन करता था उसे उचित नहीं समझा जाता था।

* "For that another tool is needed. God's word must contend here. If that avails nothing, temporal power will never settle the matter, though it will fill the world with blood."

मार्सीलियो तथा विलियम के सिद्धान्तों ने भी व्यवहार में कोई बड़ा अन्तर नहीं डाला; राज्य न्यूनाधिक चर्च के अधीन ही रहा।

लूथर ने राज्य के ऊपर चर्च के अंकुश को भंग किया और लौकिक शासकों को समस्त उच्चतर अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण से अभिमुक्त कर दिया। उसने इस लक्ष्य की प्राप्ति यह घोषणा करके की कि केवल अदृश्य चर्च ही धर्मानुयायी की निष्ठा और भक्ति का पात्र हो सकता है, दृश्य चर्च नहीं। सच्चे अदृश्य चर्च का कोई औपचारिक संघटन नहीं हो सकता, इसलिये लौकिक अधिकारियों पर नियन्त्रण करने की भी कोई सामर्थ्य उसमें नहीं हो सकती। यदि दृश्य चर्च सच्चा चर्च नहीं है तो पोप को लौकिक अधिकारियों के कार्यों के पुनर्निरीक्षण करने तथा उनकी भर्त्सना करने का कोई अधिकार नहीं हो सकता; वह एक लौकिक शासक को न धर्म-बहिष्कृत कर सकता है, न पदच्युत। वे पादरीगण जो कि अब तक पोप के अधीन थे अब राज्य के अधिकार क्षेत्र में आने थे क्योंकि लूथर उनमें तथा साधारण नागरिकों में कोई अन्तर न देखता था। अन्य नागरिकों की भाँति ही वे भी राजा की प्रजा थे। व्यर्थ होने के कारण धार्मिक न्यायालयों का उन्मूलन होना था।

राज्य को चर्च के नियन्त्रण से स्वतन्त्र करके ही लूथर को सन्तोष नहीं हुआ था; उसने यह भी कहा कि राज्य को दृश्य चर्च पर नियन्त्रण करना चाहिये। उसका तर्क यह था कि धार्मिक पुरोहितशाही के लुप्त हो जाने से दृश्य चर्च के बाह्य तथा भौतिक स्वरूप को विनियमित तथा नियन्त्रित करने के लिए एक शक्ति की आवश्यकता थी। अर्द्ध-लोकतन्त्रीय आधार साइनोड्स (Synods) की स्थापना करने के काल्विन के मत से वह सहमत न था। वह जनतन्त्रवादी नहीं था और जनसाधारण में उसे कोई विश्वास न था। एकमात्र विकल्प था लौकिक शासक का चर्च के ऊपर नियन्त्रण धारण करना। इस प्रकार प्रत्येक राज्य का शासक अपने क्षेत्र के समस्त लूथरवादियों का प्रधान बिशप बन गया। इसके अतिरिक्त, मार्सीलियो तथा कन्सीलियरवादियों के सदृश उसका भी यह विश्वास था कि चर्च पादरीगण तथा जनसाधारण, सभी को मिलाकर बनता है। इसलिये यदि पादरीगण अपने कार्य के अयोग्य सिद्ध हों तो राजा को उनका उत्तरदायित्व वहन कर लेना चाहिये और आवश्यकतावशात् बिशप बन जाना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि आध्यात्मिक तथा लौकिक का वह अन्तर, जो कि मध्यकालवादियों के लिए इतना महत्त्वपूर्ण था, लूथर में धुँधला पड़ गया; लौकिक राज्य निरा लौकिक ही न रहा; उसमें एक अपना आध्यात्मिक मूल्य आ गया। लूथर के इन विचारों का पूरा लाभ उठाने में भला लौकिक शासक क्यों सुस्ती करते। फलतः उन राज्यों में जहाँ कि शासक प्रॉटेस्टेण्ट थे राष्ट्रीय चर्च स्थापित हो गये। ऐसा सोचना अनुचित न होगा कि अपने धार्मिक चिन्तन के प्रारम्भ में लूथर राष्ट्रीय चर्च को एक धार्मिक प्रमाद समझता; क्योंकि सच्ची धार्मिक अनुभूति सर्वव्यापक

है और उसे राज्यों की सीमाओं के अनुरूप सीमित नहीं किया जा सकता।

इस सिद्धान्त ने कि पादरीगण साधारण नागरिक हैं और इसलिए राज्य के क़ानूनों तथा न्यायालयों के अधीन हैं, १६वीं शताब्दी में राजतंत्र को काफी सम्बल पहुँचाया। इसके फलस्वरूप इस सिद्धान्त का निर्माण हुआ कि पद तथा स्थान का भेद किये बिना राजा को अपने समस्त प्रजाजन के लिए कानून बनाने तथा उन पर कर लगाने का अधिकार था; समस्त प्रजाजन राजकीय न्यायालयों के अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत थे। बावजूद इस बात के कि आरम्भ में उसने व्यक्ति के गौरव को बढ़ाया, अन्तःकरण की स्वतन्त्रता तथा मनुष्य की समानता पर बल दिया, आधुनिक यूरोपीय विचार में लूथर उदारवाद का प्रवर्त्तक नहीं बल्कि राज्यवाद (Etatism) का सन्देशवाहक सिद्ध हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि लूथरवाद **पुनर्जागरण** की उदारवादी शक्तियों, उसके मानवतावाद तथा लोकतंत्र की संभावना से दूर ले जाने वाला एक बड़ा प्रतिगामी कदम था। यद्यपि स्वयं जॉन काल्विन निष्क्रिय आज्ञाकारिता का उपदेश देने में लूथर से सहमत था और यद्यपि उसने चर्च में निरंकुशवाद के आन्दोलन को सुदृढ़ किया जो कि कन्सीलियर आन्दोलन की विफलता के पश्चात् आरम्भ हो गया था तथापि फ्रांस तथा स्कॉटलैण्ड में काल्विन के शिष्यों ने जिन्हें हूजीनॉट्स (Huguenots) तथा प्रेस्बीटेरियन्स (Presbyterians) के नाम से पुकारा गया, एक बड़ी हद तक उदारवाद की परम्परा को जन्म दिया। यही कारण है कि कभी कभी यह कहा जाता है कि जब कि रिफॉर्मेशन का तत्कालीन प्रभाव निरंकुश राजतंत्र को सम्बल पहुँचाना हुआ, उसका अन्तिम प्रभाव हुआ व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा जनतंत्र की भावना का पोषण करना। अगले अध्याय में हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि काल्विन-वादी जॉन नॉक्स ने निष्क्रिय आज्ञाकारिता के सिद्धान्त का खण्डन करना और विरोध के अधिकार का समर्थन करना क्यों आवश्यक समझा। यहाँ केवल इतना कहा जा सकता है कि लूथरवाद ने नागरिकों के विरुद्ध राजकीय शक्ति का पक्ष इसलिए ग्रहण किया क्योंकि उसका जन्म और विकास जर्मनी में प्रॉटेस्टेण्ट राजाओं की छत्रछाया में हुआ जबकि फ्रांस, स्कॉटलैण्ड और इंग्लैण्ड में काल्विन के अनुयायी राजनीतिक विरोध में थे और इसलिए उन्होंने आज्ञाकारिता के ऊपर अन्तःकरण को प्रधानता देना आवश्यक समझा और धर्म के हित में राज्याधिकार की अवहेलना के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

जॉन काल्विन (John Calvin) :— रिफॉर्मेशन के राजनीतिक विचार के अधिक संगतिबद्ध, अधिक क्रमबद्ध तथा अधिक गतिशील विवेचन का श्रेय जॉन काल्विन को है जिसे कभी कभी रिफॉर्मेशन का सिद्धान्त-वेत्ता (law-giver) कहा जाता है। अपने 'इन्स्टीट्यूट्स ऑफ क्रिश्चियन रिलीजन' (*Institutes of Christian Religion*) में काल्विन प्रॉटेस्टेण्ट धर्म का एक तर्कपूर्ण, संगतिबद्ध तथा व्यापक वर्णन प्रस्तुत करता है जिसकी तुलना सन्त टॉमस एक्वीनास द्वारा कैथोलिक धर्म की व्याख्या से

की जा सकती है। उसकी सुन्दर लेखन-कला तथा शैली तथा पद्धति का कुछ सीमा तक एक कारण यह भी हो सकता है कि वह एक फ्रांसीसी था और उसने कानून का अध्ययन किया था। उसका जन्म पिकार्डी के एक कैथोलिक परिवार में १५०६ ई० में हुआ और उसका देहान्त १५६४ में हुआ। १५३३ के लगभग प्रॉटेस्टेण्टवाद में परिवर्तित हो जाने के पश्चात् उसे पेरिस से भागना पड़ा और कुछ दिनों तक यत्र तत्र घूमने के पश्चात् वह जेनेवा में आया जहाँ से कि वह स्ट्रेस्वर्ग जाना चाहता था। जेनेवा में उससे ठहरने तथा प्रॉटेस्टेण्टों के संगठन में सहायता देने के लिये कहा गया। वह वहाँ तीन वर्ष तक ठहरा परन्तु अपने कठोर रवैये और बढ़ती हुई अप्रियता के कारण उसे वह नगर छोड़ना पड़ा। किन्तु उसे वापिस बुला लिया गया क्योंकि जेनेवा के नागरिकों ने पाया कि उसके बिना उनका काम नहीं चल सकता था। वह एक माना हुआ कुशल प्रशासक था और जेनेवा-गणराज्य को उस जैसे व्यक्ति की आवश्यकता थी। दिन-प्रति-दिन उसकी शक्ति बढ़ती गई और आगे चलकर वह नगर का वास्तविक तानाशाह बन गया।

'इन्स्टीट्यूट्स' के लिखने में उसके दो उद्देश्य दिखाई पड़ते हैं। पहिली बात तो यह कि उसने फ्रांस के प्रॉटेस्टेण्टों पर किये गये उस आक्रमण का जवाब देना अपना कर्त्तव्य समझा जो कि १५३५ में प्रकाशित हुआ था और जिसमें उन्हें जर्मन नास्तिकों के समकक्ष रखा गया था और उन्हें जनता के शत्रु कहकर पुकारा गया था। प्रॉटेस्टेण्ट धर्म की व्याख्या करके वह अपने प्रॉटेस्टेण्ट देशवासियों की ओर से सफाई पेश करना चाहता था। दूसरी बात यह कि रिफॉर्मेशन के अन्य नेताओं की भाँति वह उन कट्टरपंथियों से बहुत डरता था जो कि धर्म-ग्रन्थों में से क्रांतिकारी सामाजिक सिद्धांत खोज कर निकालते थे। उसका उद्देश्य एक ऐसी शक्ति को खोजना था जो कि प्रॉटेस्टेण्टों के लिए उसी प्रकार काम कर सके जिस प्रकार कि **रोमन चर्च** कैथोलिकों के लिए काम करता था और जो कि उनमें एक प्रकार की एकता तथा व्यवस्था स्थापित कर सके डॉयल के शब्दों में वह "कैथोलिक चर्च के प्राधिकार के स्थान में एक ऐसा विकल्प खोजना चाहता था जो कि उतना ही शक्तिशाली हो और उतना ही विवशकारी जितना कि वह जीवित तथा लचकदार निकाय।" ऐसा विकल्प उसे बाइबिल, ईश्वर-वाक्य, में मिला।

जिस युक्ति से वह अपने इस परिणाम पर पहुँचा वह और उसका समस्त सिद्धान्त 'इन्स्टीट्यूट्स' में पाये जाते हैं। उस प्रणाली की कुछ मुख्य बातें ही यहाँ दी जा सकती हैं जो कि डनिंग के शब्दों में "ईसाई धर्म के ईश्वर की प्रारंभिक धारणा से लेकर लौकिक शक्ति के प्रति आज्ञाकारिता के अन्तिम आदेश तक अपने समस्त अंगों में पूर्ण तथा बुद्धि-गम्य है।" यह प्रणाली दो मान्यताओं के ऊपर खड़ी है। यदि हम उन्हें सत्य मान लें तो हमें काल्विन के सम्पूर्ण सिद्धान्त को स्वीकार करना पड़ेगा। वे मान्यतायें हैं: (१) मनुष्य कानून के एक कठोर नियम के अधीन है जिसका स्रोत परमात्मा की इच्छा है। मनुष्य का काम केवल उन क़ानूनों का पालन करना है। ईश्वर ने प्रत्येक वस्तु की

छोटी से छोटी तफसील के साथ योजना बनाई है। इसे हम काल्विन का 'पूर्व-निर्धारण (Pre-determination)' में विश्वास कह सकते हैं। परन्तु पूर्व-निर्धारण का परिणाम निष्क्रियता नहीं होता। ईश्वर अपनी योजना मनुष्य के लिए बनाता है, इसलिए मनुष्य को भी उस योजना को क्रियान्वित करने में सक्रिय रहना चाहिये। (२) दूसरे, उसका यह दृढ़ विश्वास है कि मनुष्य स्वभावतः और पूर्ण रूप से बुरा है; वह इतना बुरा और ऐसा पापी है कि उसमें दूसरों के प्रति भलाई करने का विचार तथा इच्छा ही उत्पन्न नहीं होती। मानव स्वभाव के विषय में उसके विचार को सर्वोत्तम ढंग से उसी के निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है, "उसका हृदय पाप से इतना पूर्णतया विषाक्त है कि वह भ्रष्टाचार तथा कालुष्य के अतिरिक्त और कुछ अपने स्वांस द्वारा भी बाहर नहीं निकाल सकता; यदि कभी कभी कुछ लोग अच्छाई का दिखावा भी करते हैं तो भी उनके मन पर मिथ्याचार तथा धोखा आच्छादित रहता है; उनकी आत्मा आन्तरिक रूप से दुष्टता की बेड़ियों से जकड़ी रहती है।"* कदाचित् मैकियावेली भी इस सीमा तक नहीं गया। यदि मानव का स्वभाव ऐसा है तो उसका स्वाभाविक परिणाम यह निकलता है कि स्वशासन का कार्य उसे नहीं सौंपा जा सकता। मनुष्यों के शासन के लिए ईश्वर को पहले ही से नियम बनाने पड़े। मानव व्यापार को विनियमित करने के लिए शासन योजना बाइबिल में पाई जाती है जो मनुष्य के लिए अनिवार्य रूप से मान्य है। इसलिए ईश्वर-वाक्य होने के नाते बाइबिल ही वह शक्ति है जिसके अधीन मनुष्य रहने चाहियें। बाइबिल में ही ईश्वर ने शासन के उस रूप को अभिव्यक्त किया है जिसके द्वारा उसकी इच्छा को पूर्ण किया जा सकता है और मोक्ष रूपी परमानन्द की प्राप्ति में मनुष्य की सहायता की जा सकती है।

उस ईश्वरीय क़ानून के जो कि मूसा (Moses) को प्रगट किया गया था, दो भाग हैं। एक भाग में वे नियम हैं जो कि ईश्वर के प्रति मनुष्य के आचरण को निर्धारित करते हैं और दूसरे भाग में वे नियम हैं जिनके द्वारा मनुष्य के साथ मनुष्य के आचरण का निश्चय होता है। इसलिए उन्हें लागू करने के लिये ईश्वर ने दो अलग अलग शक्तियों की स्थापना की है: पादरीगण प्रथम के लिए और राजागण दूसरे के लिए। पादरियों का एक अपना संघटन, चर्च है; उनका कार्य यह देखना है कि शासन का अनुशासन उसके आध्यात्मिक लक्ष्य के अनुरूप ढाला जाये। चर्च लौकिक संघटन से, जो कि मानव कल्याण के लिए उतना ही आवश्यक है, एकदम भिन्न है। यह अपने आपको केवल धार्मिक विषयों तक ही सीमित रखता है; लौकिक अथवा पार्थिव विषयों से इसे कोई

* "His heart is thoroughly envenomed by sin that he can breathe out nothing but corruption and rottenness; that if some men occasionally make a show of goodness, their mind is ever interwoven with hypocrisy and deceit, their soul inwardly bound with the fetters of wickedness."

सरोकार नहीं, वे राज्य के अन्तर्गत हैं। परन्तु काल्विन कहता है कि राज्य और चर्च भिन्न भिन्न होते हुए भी एक दूसरे से पूर्ण रूप से पृथक् नहीं हैं। अपने स्वभाव से ही वे एक दूसरे से सम्बद्ध हैं; दोनों की ही स्थापना ईश्वरीय क़ानून की पूर्ति के लिए हुई है। अपने पड़ोसियों के प्रति हमारे कर्त्तव्य से राज्य का जितना सम्बन्ध है, उतना ही सम्बन्ध उसका हमारे ईश्वर के प्रति कर्त्तव्य से है। काल्विन के अनुसार "लौकिक शासन का उद्देश्य है कि जब तक हम समाज में रहें वह हम में ईश्वर की बाह्य उपासना की भावना प्रेरित करे, विशुद्ध सिद्धान्त तथा चर्च की सत्ता की रक्षा करे, हमारे जीवन को मानव समाज के अनुरूप बनाये, राजकीय न्याय के अनुसार हमारे जीवन को ढाले, हम में परस्पर सामंजस्य उत्पन्न करे, और सामान्य शान्ति क़ायम रखे।"* यह बात ध्यान देने योग्य है कि लौकिक शक्ति, अर्थात् राज्य के उद्देश्यों की उपरोक्त गणना में प्रथम स्थान ईश्वर की बाह्य उपासना से परिपोषण तथा धर्म की रक्षा को दिया गया है। इस प्रकार राज्य का प्रथम कार्य भक्ति तथा धर्म का परिपोषण है, शान्ति और व्यवस्था की रक्षा नहीं। राज्य को मूर्तिपूजा, नास्तिकता तथा सच्चे धर्म की निन्दा का दमन करना चाहिये। इसका अर्थ है राज्य को चर्च के अधीन बनाना और समाज में पादरियों को प्रधान स्थान देना। चर्च सिद्धान्त तथा नीति के अपने मापदण्ड कायम करता है; जनता में उस के अनुशासन को लागू करना राज्य का कर्त्तव्य है। इसका अर्थ है सैद्धान्तिक रूप से राज्य को धर्मतंत्र (Theocratic) बनाना। वास्तव में जहाँ जहाँ भी काल्विनवादियों को शक्ति प्राप्त थी, जैसे कि जेनेवा गणराज्य में जहाँ कि काल्विन तानाशाही शक्तियों का प्रयोग करता था, पादरीगण राजकीय अधिकारियों को निर्देशित करते थे और शासन तथा जनता पर भारी प्रभाव रखते थे। वे आचार-विचार तथा धर्म सिद्धान्त पर कठोर नियन्त्रण तथा अनुशासन रखते थे। काल्विनवाद में धर्म के उस आन्तरिक तथा रहस्यमयी पक्ष पर कोई ज़ोर नहीं था जो कि हमें लूथरवाद में मिलता है; इसमें ज़ोर था अनुशासन तथा आत्मसंयम के ऊपर जो कि प्योरिटेनिज़्म (Puritanism) के आधारभूत गुण बन गये। अनुशासन और पादरियों के श्रेष्ठतर पद पर इतना बल देने का परिणाम हुआ "सन्त पादरियों का एक असहनीय शासन, अत्यन्त व्यक्तिगत विषयों का घोर विनियमन जिसका आधार थी विश्वव्यापक जासूसी, जिसमें सार्वजनिक व्यवस्था की स्थापना, व्यक्तिगत आचार के ऊपर नियन्त्रण, तथा विशुद्ध सिद्धान्त और उपासना के प्रतिरक्षण में अन्तर केवल एक

* "It is the purpose of temporal rule, so long as we live among men, to foster and support the external worship of God, to defend pure doctrine and the standing of the church, to conform our lives to human society, to mould our conduct to civil justice, to harmonise us with each other, and to preserve the common peace and tranquillity."

छाया मात्र था।"† राज्य विषयक यह धारणा लूथर के विचारों से बहुत भिन्न है।

ऐसे मानसिक वातावरण में संविधानवाद तथा उदारवाद की भावना, अर्थात् व्यक्ति के गौरव के लिए सम्मान की भावना नहीं पनप सकती थी। वास्तव में हम देखते हैं कि जहाँ जहाँ भी काल्विनवाद का स्वतन्त्र हाथ रहा वहीं वहीं साम्प्रदायिक राज्य स्थापित हुए जिनमें पादरीगण तथा सामन्ती वर्गों में गठ-बन्धन हुआ और जिससे सर्वसाधारण को बिल्कुल अलग रखा गया। उसका परिणाम हुआ एक ऐसे वर्गतन्त्र की स्थापना जो कि 'अनुदार, दमनकारी तथा प्रतिक्रियावादी' था। काल्विन द्वारा शासकों के प्रति निष्क्रिय आज्ञाकारिता के सिद्धान्त को स्वीकार करने तथा उनकी अवज्ञा की निन्दा करने का परिणाम भी उसके सिद्धान्त को अनुदार तथा रूढ़िवादी बनाना हुआ। शासकों के प्रति अवज्ञा की निन्दा उसने इसलिए की क्योंकि वह राज्य को दैविक रचना और मोक्ष-प्राप्ति के लिए एक बाह्य साधन समझता था। राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है; उसकी अवज्ञा करना ईश्वर की अवज्ञा करना है। किन्तु राजनीतिक अवज्ञा के काल्विन के सिद्धान्त का एक स्वरूप ऐसा है जो कि उसके लेखों में नगण्य होते हुए भी कालान्तर में उसके अनुयायियों द्वारा विकसित किया गया। उसकी धारणा थी कि छोटे छोटे न्याय-रक्षकों का कर्त्तव्य राजा की शक्तियों को संयत रखना है और यदि वे उसकी आततायी प्रवृत्तियों को न रोक सके और उसके विरुद्ध जनता की रक्षा न कर सके तो वे कर्त्तव्यहीनता के दोष के भागी हैं। इसके अतिरिक्त उसकी स्पष्ट उद्घोषणा है कि ईश्वर का आदेश निष्क्रिय आज्ञाकारिता के कर्त्तव्य की एक निश्चित सीमा निर्धारित करता है। उसने घोषणा की कि यदि शासक-गण कोई ऐसा कार्य कराना चाहें जो कि ईश्वर के आदेश के विरुद्ध हो तो जनता को उसके ऊपर तनिक भी ध्यान नहीं देना चाहिये। स्कॉटलैण्ड तथा फ्रांस में उसके अनुयायियों ने जहाँ कि निर्दयी शासक उनका दमन कर रहे थे, इन दो अपवादों का पूरा पूरा लाभ उठाया और इसलिये उन्होंने आज्ञाकारिता के कर्त्तव्य को तिलांजलि दे दी और अवज्ञा के अधिकार की घोषणा कर दी।

काल्विनवाद की एक बहुत बड़ी कमज़ोरी इस बात में थी कि विभिन्न व्यक्ति बाइबिल की विभिन्न ढंग से व्याख्या कर सकते थे, प्रत्येक अपनी व्याख्या विशेष को सही समझता था और दूसरों की व्याख्याओं को ठुकराता था। और क्योंकि यह एक सर्वमान्य बात थी कि ईश्वरीय क़ानून को मानना एक धार्मिक कर्त्तव्य है और न मानना एक पाप

† "...... an intolerable rule of the saints, a meticulous regulation of the most private concerns founded upon universal espionage, with only a shadowy distinction between the maintenance of public order, the control of private morals, and the preservation of pure doctrine and worship." —Sabine : *op. ct.*, page 363.

है, प्रत्येक शासक यह दावा करता था कि उसके द्वारा बनाये हुए क़ानूनों को मानना और जो लोग बाइबिल की एक विभिन्न व्याख्या करते थे और अपनी व्याख्या के अनुसार अपने जीवन का निर्माण करने की स्वतन्त्रता चाहते थे, उनका दमन करना उसकी प्रजा का धार्मिक कर्त्तव्य है। इसने राज्य की साम्प्रदायिक धारणा के साथ मिलकर राजनीतिक विशृङ्खलता को बढ़ाया तथा धार्मिक दमन की नीति को तीव्र किया। एक देश में एक ही धर्म को लादने के प्रयत्न ने वहाँ के दूसरे धर्म के मानने वालों में विद्रोह की भावना उत्पन्न की। लोग धीरे धीरे यह अनुभव करने लगे कि एक राज्य में एक ही धर्म को लादने का प्रयत्न शांति तथा व्यवस्था के लिए हितकर नहीं है, और इसलिए एक ऐसे सबल धर्म-निरपेक्ष राज्य की बहुत बड़ी आवश्यकता महसूस की जाने लगी जिसमें धर्म तथा न्याय पर्यायवाची शब्द न हों। उन व्यक्तियों में जो कि यह सोचते थे कि किसी धर्म विशेष के आधार के बिना भी राज्य स्थापित हो सकता है महान् विचारक जीन बोदाँ (Jean Bodin) का नाम सर्वोत्कृष्ट है। परन्तु बोदाँ तथा उन अन्य विचारकों, जिन्होंने धर्म-निरपेक्ष राजसत्ता के सिद्धान्त को पुष्ट किया और प्रचार किया, के सिद्धान्तों का वर्णन करने से पूर्व राजा-भक्त तथा राजा-विरोधी सिद्धान्तों, जो कि रिफॉर्मेशन के प्रत्यक्ष परिणाम थे, का एक संक्षिप्त विवरण देना आवश्यक प्रतीत होता है। ऐसा हम अगले अध्याय में करेंगे। लूथर तथा काल्विन के सिद्धान्तों की इस विवेचना का उपसंहार हम निम्नलिखित उद्धरण के साथ करेंगे जिसमें उनके अन्तरों को स्पष्ट तथा सुन्दर भाषा में व्यक्त किया गया है :—

"तब, जहाँ तक राज्य धर्म-तंत्र की आज्ञा का पालन करने को तैयार था, काल्विन उसके पक्ष में था, किन्तु जहाँ जहाँ सरकार उसकी विरोधी थी काल्विनवाद उसके ऊपर आक्रमण करने लगता था। फ्रांस के राजतन्त्र के नियंत्रण को उखाड़ फेंकने तथा स्कॉटलैण्ड में कैथोलिक और कुलीनतंत्रीय अल्पमतों की शक्ति को भंग करने में उसने मध्य वर्ग के प्रयास को सम्बल पहुँचाया; उसने **इलेक्ट** (Elect) के विरोध को सुदृढ़ किया और स्कॉट लोगों को पहिले की अपेक्षा अधिक अशासनीय बनाया। लूथरवाद के विपरीत, जो कि राजकीय शक्ति के प्रति श्रद्धा भाव उत्पन्न करता था, काल्विनवाद ने, अपने प्रवर्त्तक की युक्तियों के बावजूद, अन्तःकरण को आज्ञाकारिता से ऊँचा स्थान दिया, और मध्यकालीन पोपवाद के सदृश, एक नैतिक अधिकार-क्षेत्र का दावा किया जिसमें राजनीतिक क्षेत्र सम्मिलित था। लूथरवाद के सदृश काल्विन का सिद्धान्त महान् यूरोपीय संस्थाओं, **साम्राज्य** तथा **पोपशाही** के विरुद्ध है, जो कि इतने अपर्याप्त रूप से ईसाई जगत की टॉमसवादी व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करने का दावा करते थे।"*

* "As long, then, as the secular arm was willing to obey the theocracy, Calvin is on the side of authority, but where the government was hostile, Calvinism developed into an attack on the secular autho-

Select Bibliography

Cook : *History of Political Philosophy*, Chapters XI and XII.
Doyle : *History of Political Thought*, Chapter VIII, pages 136, 144.
Dunning : *History of Political Theories*, Vol. II, Chapter I.
McGovern : *From Luther to Hitler*, Chapter II.
Sabine : *History of Political Theory*, Chapter XVIII.

———

rity. It reinforced the middle-class attempt to throw off the control of the French Monarchy and to break the power of the Catholic and Aristocratic minorities in Scotland ; it toughened the resistance of the Elect and made the Scots more ungovernable than they were before. Contrary to Lutheranism, which made for docility towards the lay power, Calvinism, in spite of its founder's arguments, put conscience before obedience, and like the mediaeval Papacy, asserted a moral jurisdiction which included the political sphere. In common with Lutheranism, Calvin's doctrine is hostile to the great European institutions, Empire and Papacy, which claimed, so inadequately, to represent the Thomist order of Christendom."

—John Bowle : *Western Political Thought*, page 280.

अध्याय ३

१६वीं शताब्दी में निरंकुशवादी तथा निरंकुश-विरोधवादी सिद्धान्त

परिचयात्मक— गत अध्याय में लूथर तथा काल्विन के राजनीतिक विचार का वर्णन करते हुए हमने कहा था कि वह अनुदार तथा रूढ़िवादी था। राज्य की दैविक उत्पत्ति को स्वीकार करके उसने राजकीय अधिकारियों के गौरव को बढ़ाया और निष्क्रिय आज्ञाकारिता का उपदेश देकर उसने राजकीय निरंकुशवाद के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया। उदारवाद, संविधानवाद तथा प्रतिनिधित्व के सिद्धान्तों की ओर उसका कोई झुकाव न था। परन्तु आदि प्रॉटेस्टेण्ट सुधारकों के इस अनुदार तथा प्रतिक्रियावादी चरित्र में काल्विन के स्कॉटिश तथा फ्रांसीसी अनुयाइयों ने बहुत बड़ा संशोधन कर दिया। स्कॉटलैण्ड, फ्रांस तथा नीदरलैण्ड में काल्विनवादियों पर किये गये अत्याचार के कारण उन्होंने राज्य के प्रति निष्क्रिय आज्ञाकारिता के सिद्धान्त का परित्याग करना आवश्यक समझा और अन्तःकरण को आज्ञापालन से ऊपर रखते हुए उन्होंने राज्य की अवज्ञा करने के व्यक्ति के अधिकार का दावा किया। इस प्रकार प्रॉटेस्टेण्टवाद आक्रमणकारी तथा सेनानी हो उठा। फ्रांस में कुछ काल्विनवादियों ने काल्विनवाद को **प्राकृतिक क़ानून** से सम्बद्ध कर दिया, शासक तथा शासित दोनों जिसके अधीन थे, और इसके द्वारा उन्होंने राजा की निरंकुश शक्तियों के ऊपर एक नियन्त्रण प्रस्तुत किया। उदाहरण के लिए *The Grounds of Rights against Tyrants* के लेखक ने राजतंत्रीय शासन के आधार का परीक्षण किया और एक ऐसा मन्तव्य प्रस्तुत किया जो कि आदि सुधारकों के विचार से एकदम भिन्न है। **प्राकृतिक क़ानून** (Natural Law) के विचार की शरण लेते हुए वह कहता है कि प्रजा राजा से जवाब तलब कर सकती है, और यदि वह क़ानून को तोड़ता है तो प्रजा का उसकी अवज्ञा करना क़ानून विहित होगा। **बूकानन** (Buchanan) एक अन्य काल्विनवादी भी **प्राकृतिक क़ानून** की आड़ लेते हुए आततायी राजा के वध को उचित ठहराता है। उसका तर्क यह है कि **प्राकृतिक क़ानून** को ईश्वर ने समस्त मनुष्यों के हृदय में आरोपित किया है और क़ानून के पीछे जन-इच्छा को ही राजा के कार्यों पर नियंत्रण रखना चाहिये। वह यह संकेत करता है कि राजा का प्राधिकार उसके तथा उसकी प्रजा के बीच एक समझौते पर आधारित है और यदि राजा क़ानून का अतिक्रमण करता है तो प्रजा उसे सिंहासन से हटा सकती है। इस प्रकार काल्विन के अनुयाइयों ने विभिन्न रूप से राज्य की शक्तियों पर सीमायें लगाईं जो कि उनके लिए एक खतरा बन रहा था। यहाँ हम राजा की शक्ति की अवज्ञा करने के अधिकार के सम्बन्ध में कुछ शब्द कहेंगे जिसका प्रचार स्कॉटिश

काल्विनवादियों के नेता **जॉन नॉक्स** (John Knox) ने किया था। फ्रांसीसी विचारकों द्वारा प्रस्तुत किये गये आधारों का उल्लेख भी हम यहाँ करेंगे।

जॉन नॉक्स (John Knox)— जॉन नॉक्स का महत्त्व इस बात में है कि जॉन काल्विन की शिक्षाओं का समर्थन करते हुए भी वह उसके निष्क्रिय आज्ञाकारिता के सिद्धान्त की अवहेलना करता है और इस सिद्धान्त का समर्थन करता है कि अपने कैथोलिक शासकों की अवज्ञा करना प्रॉटेस्टेएट प्रजाजन का अधिकार तथा कर्त्तव्य है। उसकी युक्ति को उसके ही ज़ोरदार शब्दों में व्यक्त करना अधिक अच्छा होगा: "अब चारों ओर यही राग सुनाई देता है कि हमें अपने शासकों की आज्ञा का पालन करना चाहिये, चाहे वे अच्छे हों, चाहे बुरे, क्योंकि ईश्वर का ऐसा ही आदेश है। परन्तु ईश्वर, उसके पवित्र नाम तथा आदेश का ऐसा अनर्थ करने वाले घोर कोप के भाजन होंगे। क्योंकि यह कहना कि ईश्वर ने राजाओं की आज्ञापालन का आदेश दिया है चाहे वे अधर्म करने की ही आज्ञा क्यों न दें इतना ही पापपूर्ण है जितना कि यह कहना कि ईश्वर ही अपने प्रत्यादेश द्वारा समस्त अन्याय का रचयिता तथा पोषक है।"*

यह बात ध्यान देने योग्य है कि नॉक्स जिस आधार पर राज्य की अवज्ञा का समर्थन करता है वह धार्मिक है। एक प्रतिमापूजक अर्थात् कैथोलिक शासक की आज्ञा का पालन करना एक सच्चे प्रॉटेस्टेएट का धार्मिक कर्त्तव्य नहीं हो सकता; ऐसा करना अधर्म होगा। इस सिद्धान्त में नागरिकों के जनाधिकारों का कोई उल्लेख नहीं है और न ही इससे इस सिद्धान्त का कोई सम्बन्ध है कि राजकीय शक्ति का स्रोत जनता है जिसके ऊपर फ्रांसीसी प्रॉटेस्टेएटों ने, जिन्हें सामान्यतया ह्यूजीनॉट्स (Huguenots) कहा जाता है, बहुत ज़ोर दिया था। निरंकुशवाद के ऊपर उनके आक्रमण का क्या तर्क था, इस विषय में कुछ शब्द कह देना अनावश्यक न होगा।

निरंकुशवाद के ऊपर ह्यूजीनॉट्स का प्रहार— जिस मुख्य आधार पर ह्यूजीनॉट्स फ्रांसीसी राजाओं की निरंकुश शक्ति का विरोध करते थे, वह दार्शनिक था। उनकी धारणा थी कि निरंकुश राजतन्त्र धर्म के उन विश्वव्यापक नियमों के विरुद्ध है जो कि समस्त शासन के मूल में वर्तमान हैं; यह **प्रकृति के क़ानून** के विरुद्ध था जिसकी

* "...... now the common song of all men is, we must obey our kings, be they good, or be they bad; for God has so commanded. But horrible shall the vengeance be, that shall be poured forth upon such blasphemers of God, his holy name and ordinance. For it is no less blasphemy to say that God hath commanded kings to be obeyed when they commanded impiety, than to say that God by his precept is the author and maintainer of all inequity."

परम्परा स्टोइक्स से लेकर १६वीं शताब्दी तक चलती रही। एक ह्यूजीनाट लेखक, हॉटमैन (Hotman), का विश्वास था कि राजनीतिक संस्थाएँ अपना बल तथा औचित्य उन अगणित आचारों से प्राप्त करती हैं जो कि जाति में प्रचलित रहते हैं। इन आचारों में सन्निहित जन-इच्छा राजनीतिक शक्ति का वास्तविक आधार है। राजा की शक्ति का स्रोत राष्ट्र के प्रतिनिधि के रूप में उसकी क़ानूनी स्थिति है। अन्य फ्रांसीसियों की धारणा यह थी कि राजा की शक्तियाँ सीमित होनी चाहियें क्योंकि जनता ने उनका प्रतिष्ठान समाज की सेवा करने के लिए ही किया है। इस प्रकार की युक्तियाँ एक क्रमबद्ध रूप में और योग्यतापूर्वक *Grounds of Rights against Tyrants* नामक पुस्तक में दी गई हैं जो कि १५७६ में प्रकाशित हुई थी। राजा और प्रजा के विरोध ने एक संकट का रूप धारण किया। यह पुस्तक इङ्गलैण्ड तथा अन्यत्र प्रकाशित की गई।

कैथोलिकों का निरंकुश विरोधी राजनीतिक दर्शन— १६वीं शताब्दी में राजा-विरोधी अथवा निरंकुश-विरोधी विचार को विकसित करने वाले केवल प्रॉटेस्टेण्ट ही नहीं थे, रोमन कैथोलिकों, विशेष रूप से जेसुइट्स (Jesuits), ने भी ऐसा ही किया। उनके ऐसा करने के कई ध्येय थे। उनमें से कुछ पर उसी प्रकार के सांविधानिक विचारों का प्रभाव हो सकता है जिनसे प्रेरित होकर प्रॉटेस्टेण्टों ने निरंकुशवाद पर आक्रमण किया था; इस प्रकार की बातों में धार्मिक मतभेद अप्रासंगिक होते हैं। कुछ अन्य नैतिक तथा आध्यात्मिक प्रश्नों में राष्ट्रीय राज्यों के शासकों को **पोप** की अधीनता में लाने की इच्छा से प्रेरित हो सकते हैं। इस उद्देश्य के लिए उन्होंने पोप की प्रभुता के पुराने सिद्धान्त को फिर से उठाया। हाँ, १६वीं शताब्दी की राजनीतिक स्थिति के अनुकूल बनाने के लिए उसमें कुछ संशोधन अवश्य कर लिया गया। यह दृष्टिकोण जेसुइट्स का था, राष्ट्रीय कैथोलिकों का नहीं जो कि निरंकुशवाद के सिद्धान्त का प्रचार करते थे।

जेसुइट्स (Jesuits)— सुधार आन्दोलन की सफलता ने चर्च को अपनी व्यवस्था को दृढ़ करने तथा उन दोषों को दूर करने पर जिन्होंने कि प्रॉटेस्टेण्ट चुनौती को जन्म दिया था, विवश कर दिया। उसे सुधारने का बीड़ा **आर्डर ऑफ दी जेसुइट्स** (Order of the Jesuits) नामक संघ ने उठाया जो १५३४ में स्थापित किया गया। इसमें चर्च के कुछ सर्वोत्कृष्ट मस्तिष्क और प्रशासक सम्मिलित थे, और इसके सदस्यों में सच्ची प्रचार भावना की ज्वाला धधक रही थी। इस **आर्डर** द्वारा प्रचलित आन्दोलन को कभी कभी सुधार-आन्दोलन-विरोध (Counter-Reformation) भी कहा जाता है; इसकी सफलता आश्चर्यजनक थी। दो पीढ़ियों के अल्प काल में ही इसने कुछ उन निकृष्टतम दोषों को दूर कर दिया जिनके कारण ईसाई जगत में प्रॉटेस्टेण्टवाद का एक अलग टुकड़ा बन गया था। इसने सिद्धान्तों की बहुत सी परिभाषाओं को अधिक सुनिश्चित बनाया, पोप के सिंहासन पर इसने एक नवीन प्रकार के शासक को बैठाया, और निम्न पद के पादरियों के ऊपर संशोधित पोपशाही का अधिक

कठोर अनुशासन उत्पन्न किया। जेसुइट्स के कार्यों ने प्रॉटेस्टेण्टवाद को आगे बढ़ने से रोक दिया और उनमें से कुछ तो ऐसे राज्यों को, जो कि **रोमन चर्च** से अलग हो गये थे, पुनः अपने पक्ष में लाने की सोचने लगे। इस लक्ष्य को दृष्टि में रखते हुए उन्होंने यह घोषणा की कि लौकिक विषयों में राज्य स्वतंत्र हैं, वे अपनी शक्ति पोप से प्राप्त नहीं करते और इसलिए सांसारिक विषयों में पोप का उनके ऊपर कोई प्रत्यक्ष प्राधिकार नहीं। परन्तु वे इस बात को मानते थे कि ईसाई राज्य मिलकर एक प्रकार का कुटुम्ब बनाते हैं जिसका **पोप** आध्यात्मिक प्रधान है और जिसके नैतिक तथा आध्यात्मिक विषयों में उसका अनुशासन है। परोक्ष रूप से वह लौकिक विषयों पर भी नियंत्रण रख सकता है किन्तु केवल आध्यात्मिक उद्देश्यों के लिये ही।

उनका विश्वास था कि नैतिक तथा आध्यात्मिक विषयों में **पोप** के द्वारा इस प्रकार का सामान्य नियंत्रण आवश्यक तथा वांछनीय है क्योंकि लौकिक शक्ति को नागरिकों के ऊपर निरंकुश प्राधिकार की अनुमति नहीं दी जानी चाहिये। उसकी शक्ति का स्रोत जनता है और लौकिक विषयों में जन-कल्याण के लिए ही उसका प्रयोग किया जाना चाहिये। यदि शासक आततायी अथवा विधर्मी हो जाता है तो उसे पदच्युत करने तथा प्रजा को उसके प्रति भक्ति से अभिमुक्त करने का अधिकार है। यह वही पुरानी मध्यकालीन परम्परा थी जिसे उस समय की परिस्थितियों के अनुकूल बनाने के लिए संशोधित रूप में पेश किया गया था।

निरंकुश-विरोधी सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले जेसुइट लेखकों में रॉबर्ट बेलार्मीन, जॉन ऑफ़ मेरियाना तथा फ्रांसिस्को सुआरेज़ के नाम अग्रगण्य हैं। इनमें से फ्रांसीसी कार्डिनल बिलार्मीन ने पोपशाही के उपरोक्त जेसुइट सिद्धान्त को एक सुनिश्चित रूप दिया। मेरियाना के चिन्तन पर संविधानवाद आच्छादित था; जब कि सुआरेज़ का चिंतन न्यायशास्त्र के अध्ययन से प्रभावित था। ये दोनों स्पेन के निवासी थे। राजनीतिक विचार के इतिहास में मेरियाना का महत्त्व इसलिये है क्योंकि उसने समाज के जन्म की एक प्रकृतिवादी व्याख्या की और राजा की शक्तियों का स्रोत उसका जनता के साथ संविदा बताया। उसका विश्वास था कि राजनीतिक समाज की स्थापना करने से पूर्व मनुष्य एक प्रकार से पशु जीवन व्यतीत करता था जिसमें सभ्य जीवन के न गुण थे न दोष। शासन तथा क़ानून की स्थापना तब हुई जबकि निजी सम्पत्ति के संस्थान का प्रादुर्भाव हुआ। सरकार की स्थापना सभ्य जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करने तथा सम्पत्ति की रक्षा करने के हेतु हुई। इसलिए सम्पूर्ण समाज के हितों की रक्षा करना राज्य का परम धर्म होना चाहिये; वे एक निरंकुश राजा की सनक तथा आवश्यकताओं के अधीन नहीं रहने चाहियें। समाज को राजा की शक्तियों के ऊपर नियंत्रण रखना चाहिये; यदि वे आततायी बन जायें तो प्रजा को उन्हें पदच्युत करने का अधिकार है। अत्याचार का उपचार करने के लिये मेरियाना ने आततायी राजा की हत्या का भी समर्थन किया।

राजकीय शक्तियों के ऊपर रोक लगाना राजनीतिक विकास का स्वाभाविक परिणाम है। यहाँ पर यह बात उल्लेखनीय है कि फ्रांसीसी कार्डिनल बिलार्मीन (स्पेनिश जेसुइट) की भांति मेरियाना शासकों के ऊपर पोप के आध्यात्मिक नियंत्रण के ऊपर बल नहीं देता; वह समाज द्वारा लगाये गये सांविधानिक नियंत्रण पर अधिक बल देता है। जहाँ तक कि वह पोप द्वारा आध्यात्मिक नियंत्रण की अवहेलना करता है उसे हम एक सामान्य जेसुइट नहीं समझ सकते।

इस दृष्टिकोण से स्पेनिश जेसुइट सुआरेज़ तथा फ्रांसीसी कार्डिनल में अधिक समानता है। बिलार्मीन की भांति सुआरेज़ पोप को 'ईसाई राष्ट्रों के परिवार का आध्यात्मिक नेता तथा फलतः मानवता की नैतिक एकता का अधिवक्ता' समझता था। उसकी तरह सुआरेज़ पोप को लौकिक शासकों के आचरण को केवल आध्यात्मिक लक्ष्य की पूर्ति के लिए नियंत्रित करने की शक्ति प्रदान करता है। फिर, उसी के सदृश स्पेन का यह न्यायविद् (Jurist) राज्य को विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया की सृष्टि समझता है जिसमें मानव-आवश्यकताओं ने आधारभूत भाग लिया है। वह यह बात नहीं मानता कि राज्य एक दैविक सृष्टि है और इसलिये ईश्वरेच्छा के ऊपर निर्भर है। राजनीतिक शक्ति का स्वामी वह सम्पूर्ण समाज को समझता है और सामान्य हित के लिये उसको अपने सदस्यों (जिसमें शासक भी सम्मिलित हैं) को नियंत्रित करने की शक्ति प्रदान करता है। यहाँ हम लोक-प्रिय राजसत्ता के सिद्धान्त का श्रीगणेश देखते हैं। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन उसने राजा को **प्रकृति के क़ानून** तथा पोप के नैतिक आधिपत्य में लाने के लिए किया।

परन्तु जो चीज़ सुआरेज़ को राजनीतिक विचार के इतिहास में एक अमर स्थान प्रदान करती है वह उसका निरंकुशता का विरोध नहीं है बल्कि उसकी उस अपरिवर्तनीय **प्राकृतिक क़ानून** की धारणा है जिसके अनुसार व्यक्तियों तथा राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध विनियमित होने चाहियें। **प्राकृतिक क़ानून** को वह मानव आत्मा में ईश्वर द्वारा प्रस्थापित तथा धर्माधर्म के विवेक का स्रोत समझता था। धर्माधर्म का आधार यही **प्राकृतिक क़ानून** है, राज्य का मनमाना क़ानून या ईश्वरेच्छा नहीं। यह क़ानून समस्त व्यक्तियों के लिये तथा प्रत्येक देश और काल में एकसा ही रहता है। उससे अगली शताब्दी में तो **प्राकृतिक क़ानून** को राजनीतिक समस्याओं को हल करने का एकमात्र वैज्ञानिक साधन समझा जाने लगा। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के समर्थकों और प्रतिपोषकों के हाथ में यह एक प्रधान शस्त्र बन गया। निस्संदेह ह्यूगो ग्रोशियस ने इस विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया परन्तु इसके ऊपर ध्यान केन्द्रित करने का श्रेय सुआरेज़ को है।

मॉनार्कोमेक्स तथा पॉलिटीक्स— जिन फ्रांसीसी विचारकों ने राजा-विरोधी या निरंकुशता-विरोधी सिद्धान्त को विकसित किया उन्हें कभी कभी मॉनार्कोमेक्स (Monarchomachs) कहकर पुकारा गया है। इस शब्द का अर्थ हमें अच्छी तरह

समझ लेना चाहिये। हमें याद रखना चाहिये कि मॉनार्कोमेक्स का राजतंत्र से कोई विरोध न था; वे तो केवल निरंकुश राजतंत्र से घृणा करते थे। राजतन्त्र को वे शासन का अवांछनीय रूप नहीं मानते थे; इसके विपरीत उनका पूर्ण विश्वास यह था कि अराजकता का एकमात्र विकल्प राजतन्त्र है। परन्तु उनका आग्रह यह था कि राजा का आचरण राष्ट्रीय हित का पोषक होना चाहिये और उसे अपने राजकीय कर्त्तव्यों का पालन करने में सामन्तों तथा अन्य विशिष्ट प्रजाजन का परामर्श लेना चाहिये तथा उसका पालन करना चाहिये। दूसरे शब्दों में, वे एक सांविधानिक अथवा सीमित राजतन्त्र चाहते थे। वे शान्ति तथा प्रॉटेस्टेण्ट धर्म को कैथोलिक शासकों की ओर से किसी दमन के भय के बिना पालन करने की स्वतन्त्रता चाहते थे और इसीलिए वे उनकी मनमानी करने की शक्तियों को सीमाबद्ध करना चाहते थे। यद्यपि वे कोई लोकतन्त्रवादी नहीं थे और न ही उन्होंने लोकप्रिय राजसत्ता के सिद्धान्त का कभी प्रतिपादन किया तथापि उनमें से कुछ ने इस बात पर ज़ोर अवश्य दिया कि फ्रांस के राजतन्त्र का आधार दैविक क़ानून नहीं बल्कि जनता की इच्छा है। इस बात में लोकतन्त्र के कीटाणु निहित थे।

मॉनार्कोमेक्स के निरंकुशता-विरोध के उत्तर के रूप में पॉलिटीक्स (Politiques) नामक फ्रांसीसी कैथोलिक्स के एक समूह ने, जो कि धार्मिक युद्धों के युग में थे, एक ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जो कि कुशल शासन तथा आन्तरिक शान्ति तथा सुरक्षा को कायम रखने के लिये राजा की सर्वोच्च तथा निरंकुश शक्ति के ऊपर ज़ोर देता था। यह देख कर कि धर्म के नाम में दमन तथा हत्याकाण्ड फ्रांस की सभ्यता को नष्ट कर रहे हैं तथा वहाँ के निवासियों को कमज़ोर बना रहे हैं उन्होंने धर्म को राजनीतिक क्षेत्र से बाहर निकाल लेने का प्रयास किया। जहाँ तक कि धर्म गृह-युद्ध तथा कलह उत्पन्न करता था वे उसे अभिशाप समझते थे। उनकी दिलचस्पी लौकिक थी, धार्मिक नहीं। यूरोप में वे सब से पहिले व्यक्ति थे जिन्होंने यह कहा कि राज्य को धार्मिक विषयों की ओर से उदासीन रहना चाहिये और उसका सच्चा ध्येय समाज कल्याण की अभिवृद्धि होना चाहिये, किसी धर्म का प्रचार करना नहीं। एक अच्छा नागरिक बनने के लिये यह आवश्यक नहीं कि कोई व्यक्ति कैथोलिक हो या प्रॉटेस्टेण्ट। उनमें महानतम था जीन बोदाँ (Jean Bodin)। उसके विचारों का अध्ययन हम अगले अध्याय में करेंगे। यहाँ पर हम राजाओं के दैविक अधिकार (Divine Right of Kings) के सिद्धान्त के विकास का उल्लेख करेंगे जो कि राजतंत्रवादियों अथवा निरंकुशतावादियों का अपने विरोधियों को प्रमुख उत्तर था।

राजाओं के दैविक अधिकार का सिद्धान्त— राजकीय निरंकुशवाद का जो समर्थन फ्रांस में हुआ वह राजतन्त्र के दैविक जन्म के प्राचीन सिद्धान्त का ही एक संशोधित रूप था। अंग्रेज़ तथा स्कॉट विचारकों ने इसे और अधिक विकसित किया और १७वीं शताब्दी में यह राजाओं के दैविक अधिकार के सिद्धान्त के नाम से व्यापक

रूप से प्रचलित हो गया। निरंकुश राजतन्त्र के पक्ष में यह सब से ज़ोरदार युक्ति थी जिसे शासन का सर्वश्रेष्ठ एवं सब से अधिक मेधावी रूप समझा जाता था। इसकी व्यापक मान्यता का कारण यह था कि यह उस युग की मुख्य आवश्यकता की पूर्ति करता था। वह आवश्यकता थी एक मज़बूत एवं कुशल सरकार की जो कि आन्तरिक शान्ति तथा व्यवस्था को क़ायम रख सकती और राज्य की आन्तरिक एकता को क़ायम रख सकती जिसे उस समय धर्म-युद्धों ने खतरे में डाल दिया था। जैसा कि प्रोफेसर मैक्सी का कहना है, जो एकात्मीयता, स्थिरता, आन्तरिक शान्ति, सुरक्षा तथा शासनकुशलता जो कि आधुनिक राष्ट्र-राज्यों के गुण हैं, उनके शैशव काल में थे, अधिकतर इसी सिद्धान्त के कारण पाये जाते थे। आज चाहे हमें यह एक तर्कहीन एवं आधारहीन सिद्धान्त क्यों न दिखाई पड़े, परन्तु उस युग के प्रॉटेस्टेण्ट तथा कैथोलिक समाजों के योग्यतम तथा सर्वाधिक मेधावी व्यक्तियों ने इसे स्वीकार किया था। मध्यकालीन विश्वव्यापक चर्च-राज्य की धारणा के लोप हो जाने से प्रॉटेस्टेण्ट विचारकों के चिन्तन में जो एक शून्य उत्पन्न हो गया था, उसकी इस सिद्धान्त ने पूर्ति की। प्रॉटेस्टेण्ट लोगों की धर्म भावना इस विचार से सन्तुष्ट तथा हर्षित हो गई कि उसका राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है। इसी के कारण कैथोलिक लोग **रोमन चर्च** के भक्त रहते हुए भी उस राष्ट्रीय भावना की लहर का आनन्द उठा सके जो कि उस समय सम्पूर्ण यूरोप में आ रही थी। वह महसूस कर सकता था कि उसका अपना राजा पोप से कुछ कम दैविक नहीं है। मैक्गवर्न ने ठीक ही कहा है: "यदि राजाओं के दैविक अधिकार के सिद्धान्त का बहुत बड़ा महत्त्व अन्तर्राष्ट्रवाद से राष्ट्रवाद की ओर लाने में था तो उसका उतना ही महत्त्व इस बात में था कि उसने राज्य की समस्त आन्तरिक शक्ति को केन्द्रीभूत करने, सामन्तों के विशेषाधिकार कम करने तथा नगरपालिकाओं को अर्द्ध-स्वतंत्र बनाने में योग दिया।"*

इस सिद्धान्त को सुनिश्चित शब्दों में व्यक्त करना बहुत कठिन है। इसका एक तो यह अर्थ हो सकता है कि राजा दैविक पूर्वज की सन्तान है, और उसका दूसरा अभिप्राय केवल यह भी हो सकता है कि वह शासन करने का अधिकार ईश्वर से प्राप्त करता है। पहिली धारणा की पुष्टि हेब्रू (Hebrew) इतिहास से होती है और दूसरे विचार का समर्थन धर्म-ग्रन्थों में मिलने वाले कतिपय लेख करते हैं। मध्यकालीन लेखक इन लेखों का प्रयोग पोप—सम्राट् विवाद में सम्राट् की ओर से प्रायः करते थे। इस सिद्धान्त की एक तीसरी व्याख्या यह भी हो सकती है कि राजतन्त्र की संस्था मानवीय

* "If the doctrine of the divine right of kings was of great importance in transition from internationalism to nationalism, it was of equally great importance in tending to centralise all power within the state, minimising feudal privileges, and abolishing municipalities to a semi-independent existence." —McGovern : *From Luther to Hitler*, page 350.

विषयों के संचालन की दैविक योजना का ही एक सोपान है। परन्तु इस सिद्धान्त की महत्ता इसके तात्विक सत्य अथवा दार्शनिक औचित्य के ऊपर निर्भर नहीं करती। समस्त सामाजिक वर्गों तथा विभिन्न धार्मिक विश्वासों के लोग बड़ी तीव्रता से इसमें विश्वास करते थे, क्योंकि "यह देश-भक्ति की भावना तथा नागरिक कर्त्तव्य के धार्मिक बौद्धिकरण के लिये एक केन्द्रीय बिन्दु का काम करता था। इसका बौद्धिक पक्ष नितान्त कमज़ोर था।"*

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन सबसे पहले फ्रांस में हुआ जहाँ कि हैनरी ऑफ नैवरे (Henry of Navarre) को फ्रांस के राजा के रूप में अपने पिता का उत्तराधिकारी मानने से पोप ने इसलिए इन्कार कर दिया क्योंकि वह एक प्रॉटेस्टेएट था। यद्यपि आगे चलकर हैनरी कैथोलिक हो गया, इस सिद्धान्त को लागू करके उसने फ्रांस के कैथोलिकों की एक बड़ी संख्या को अपने पक्ष में कर लिया। उसके पक्ष में बिलौयी (Belloy) ने यह कहा कि मुकुट किसी व्यक्ति विशेष को ईश्वरीय क़ानून के द्वारा मिलता है। जिस चीज़ को ईश्वर ने दिया है उसे लेने का पोप को कोई अधिकार नहीं हो सकता, और न ही पोप राजा को सिंहासन से उतार सकता है क्योंकि राजा मुकुट को प्रत्यक्ष रूप से ईश्वर की अधीनता में और ईश्वर के प्राधिकार द्वारा धारण करता है। बिलौयी का तर्क यह भी था कि शासन का आधार शासित की इच्छा नहीं बल्कि ईश्वर द्वारा अपने उपाधिकारी के रूप में नियुक्त राजा की आज्ञापालन करने का प्रजाजन का धार्मिक कर्त्तव्य है। लौकिक क्षेत्र में अपने बदले में कार्य करने के लिए ईश्वर ने राजाओं को नियुक्त किया है। बिलौयी ने जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन यह सिद्ध करने के लिए किया था कि हैनरी का फ्रांस के सिंहासन पर अधिकार दैविक है, उसे अन्य लेखकों ने अपनाया और उसका क्षेत्र व्यापक बनाया। उन्होंने दावा किया कि समस्त राजा दैविक अधिकार द्वारा ही शासन करते हैं। स्कॉटलैएड के एक कैथोलिक, विलियम बार्कले (William Barclay) (जिसने फ्रांस में शरण ले ली थी) ने भी काल्विनवादियों के निरंकुशता-विरोधवादी तथा जेसुइट्स के पोपवादी सिद्धान्त के विरुद्ध दैविक अधिकार के सिद्धान्त का समर्थन किया। उसका कथन था कि समस्त राजनीतिक शक्ति ईश्वर, और केवल ईश्वर, द्वारा प्राप्त होती है; जनता से यह कभी नहीं आ सकती।

दैविक अधिकार के सिद्धान्त का सबसे विख्यात समर्थक है इंग्लैएड का जेम्स प्रथम (१५६६–१६२५)। उसके कुछ समकालीन उसे 'ईसाई जगत का सबसे विद्वान मूर्ख (The most learned fool in Christendom)' कह कर पुकारते थे। निस्सन्देह

* "........ It served as a focus for patriotic sentiment and as a religious rationalisation of civic duty. On the side of intellectual construction it was hopelessly weak." Sabine : *op. ct.*, page 393.

राजतंत्र की प्रेरणा और गौरव को उससे पहिले किसी राजा ने इतना कम नहीं किया जितना कि उसने, और तथापि केवल वही शायद एक ऐसा राजा था जिसने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि राजाओं को शासन करने का दैविक अधिकार प्राप्त है और इसलिये प्रजाजन को उनकी आज्ञा का पालन करना चाहिये, उनका सम्मान करना चाहिये तथा उनके प्रति भक्ति भाव रखना चाहिये। उसके विचारों को उसी के शब्दों में व्यक्त करना अच्छा होगा।

"प्रजाजन को राजा की आज्ञाओं का इस प्रकार पालन करना चाहिये और उसके प्रति इस प्रकार की भक्ति भावना रखनी चाहिये, मानो कि वह ईश्वर का प्रतिनिधि हो। उसे एक ऐसा न्यायाधीश समझना चाहिये जिसे उनके ऊपर स्वयं ईश्वर ने नियुक्त किया है; किन्तु स्वयं उसका निर्णय केवल ईश्वर ही कर सकता।"*

उसके सिद्धान्त का मूल तत्त्व यह है कि प्रजा को राजा की अवज्ञा करने का कोई अधिकार नहीं है; उसकी आज्ञा की अवहेलना करना ईश्वर की अवज्ञा करना है और इसलिये पाप है क्योंकि राजा का शासन करने का अधिकार प्रजा की इच्छा के ऊपर आधारित नहीं है बल्कि उसका प्रत्यक्ष स्रोत ईश्वर है। और न ही पोप को राजा को सिंहासन से उतारने का कोई अधिकार है। राजा के कार्यों की आलोचना करने का अधिकार न प्रजा को है, न पोप को। वह स्वतंत्र है; इस वसुन्धरा पर वह किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं है; वह ईश्वर के प्रति और केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है। इसका यह अर्थ नहीं कि राजा अत्याचार और दमन कर सकता है; इसका अभिप्राय केवल यह है कि यदि वह ऐसा करे भी तो भी प्रजा को उसका प्रतिरोध करने का अधिकार नहीं है। इन दावों से जेम्स ने यह परिणाम निकाला कि संसद राजा के हाथ का केवल एक यंत्र है जिसका कार्य उसके मार्ग को सरल बनाना है और प्रजाजन का कर्त्तव्य अपने राजा पर विश्वास रखना और उसकी आज्ञा का पालन करना है। इसमें यह बात स्पष्ट रूप से निहित है कि जेम्स के अनुसार आततायीतंत्र अराजकता से श्रेष्ठ है और यदि राजा के हाथ कमज़ोर हो गये तथा समाज में फूट फैल गई तो अराजकता का फैलना अवश्यम्भावी है।

राजा जेम्स के पक्ष में सबसे अधिक प्रभावक विवादकर्त्ता शायद सर रॉबर्ट फिल्मर था, जिसकी दैविक अधिकार के पक्ष में युक्तियों का लॉक ने खण्डन किया। उसके विचारों में कोई नई बात नहीं है, इसलिए उनका वर्णन करना यहाँ आवश्यक नहीं।

* "The duties and allegiance of the people to their lawful king ought to be to him as to God's lieutenant on earth, obeying his commands in all things as the commands of God's minister, acknowledging him a judge set by God over them, having power to set them, but to be judged only by God."

इस सिद्धान्त के बौद्धिक आधार का विश्लेषण करना निरर्थक होगा। किसी सिद्धान्त के समर्थन के लिए धर्म-ग्रन्थों के ऊपर निर्भर करने का जमाना अब नहीं रहा; और वह धार्मिक मानसिक प्रवृत्ति भी अब बीत चुकी जिसके कारण १६वीं शताब्दी के लोग इस सिद्धान्त को स्वीकार करते थे। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन एक स्थिति विशेष का सामना करने के लिए किया गया था और जब उसकी कोई उपयोगिता न रही तो वह समाप्त हो गया। ज्योंही उसकी आवश्यकता समाप्त हुई उसे रद्दी की टोकरी में फेंक दिया गया। किन्तु इस कारण इस सिद्धान्त की वह महत्ता कम नहीं हो जाती जो कि इसकी अपने काल में थी। धार्मिक युद्धों ने यूरोप में जो अव्यवस्था उत्पन्न कर दी थी उसे नियंत्रित करने का श्रेय इसी सिद्धान्त को है; राष्ट्र-राज्य में एक बद्धता लाने में भी यह एक महत्त्वपूर्ण यंत्र सिद्ध हुआ। इसके अभाव में राष्ट्रवाद की भावना यूरोपीय राजनीति में शायद वह परिवर्तन न ला पाती जो कि वह लाई। सर्वोच्च राजनीतिक राजसत्ता की पवित्रता के ऊपर इसके ज़ोर देने का आज भी कुछ मूल्य हो सकता है। आज हम राजा में नहीं तो जनता में दैविकता प्रस्थापित करते हैं।

Select Bibliography

Cook : *History of Political Thought,* Chapters XIII & XV and the section on King James I and Divine Right in Chapter XVII.

Dunning : *History of Political Theories, Vol. II,* Chapters II & IV.

Maxey : *Political Philosophies,* Chapter XII.

McGovern : *From Luther to Hitler,* Chapter III.

(The last two references contain a very good account of the theory of Divine Right of Kings.)

Sabine : *History of Political Theory,* Chapter XIX.

अध्याय ४

राजसत्ता का सिद्धान्त : बोदाँ तथा ग्रोशियस

परिचयात्मक— कैथोलिक शासक अपने राज्यों में से प्रॉटेस्टेण्टवाद को उखाड़ फेंकने में निष्फल रहे तथा प्रॉटेस्टेण्ट शासक कैथोलिक धर्म का अपने राज्यों में उन्मूलन करने में विफल रहे। इससे विचारशील व्यक्तियों को यह विश्वास हो गया कि राज्य का केवल एक ही धर्म को अपने समस्त प्रजाजन पर लादने का प्रयास न तो शांति तथा प्रगति के लिए हितकर है और न सम्भव तथा व्यावहारिक है। इसलिए उन्होंने यह सोचा कि राजनीति को धर्म से अलग कर देना चाहिये तथा राज्य को धार्मिक मतभेदों से अलग रहना चाहिये। पॉलिटीक्स इस बात पर ज़ोर देते थे कि राज्य का उद्देश्य तथा लक्ष्य जनता का कल्याण करना होना चाहिये न कि किसी धर्म विशेष की प्रतिष्ठा करना। पोप सरीखी किसी बाहरी शक्ति पर निर्भर न रहकर अपने बल बूते पर ही शांति तथा व्यवस्था बनाये रखने की सामर्थ्य रखने वाली एक मज़बूत एवं सर्वोच्च शक्ति की आवश्यकता भी तीव्रता से महसूस की गई। दैविक अधिकार का सिद्धान्त जनता को इसलिए अपील करता था कि वह राजा को राष्ट्रीय एकता का केन्द्र-विन्दु तथा राज्य की शक्ति का सर्वोच्च एवं निरंकुश वाहक बनाता था। इसलिए यह कहा जा सकता है कि एक प्रकार से राजा की प्रभुता (Sovereignty) का विचार उसमें निहित था। परन्तु राजसत्ता की यह धारणा धार्मिक मान्यताओं में अभिनिहित थी, इसलिये इसका विश्लेषण करना सरल नहीं था और इसे राज्य का अभिन्न अंग नहीं बनाया जा सकता था। राज्य के सिद्धान्त को प्रतिपादित करने का महान् श्रेय जीन बोदाँ को है जो कि फ्रांसीसी पॉलिटीक्स के समूह में सबसे अधिक विख्यात व्यक्ति था। उसने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन अपने महान् तथा युग-निर्मायक ग्रन्थ (*Six Books Concerning the Republic*) में किया जिसे संक्षेप में **'रिपब्लिक'** भी कहते हैं और जो १५७६ ई० में प्रकाशित हुआ था। इस ग्रन्थ में बोदाँ ने एक उच्च कोटि की धार्मिक उपरामता दिखाई है और एक ऐसी विचार पद्धति को विकसित किया है जो उसे विवादग्रस्त साहित्य की श्रेणी से बाहर निकाल लेती है। प्रोफेसर मैक्सी ने इसे 'राजनीति विज्ञान के ऊपर सर्वप्रथम सच्चा आधुनिक ग्रन्थ' कहकर पुकारा है क्योंकि इसने राजनीतिक व्यापार की एक वैज्ञानिक व्याख्या करने का प्रयास किया है। यहाँ पर पाठकों को भ्रांति से बचाने के लिये यह उल्लेख करना अनावश्यक न होगा कि मैकियावेली, जिसे सामान्यतया प्रथम आधुनिक राजनीतिक दार्शनिक समझा जाता है, के ग्रन्थों में शासन यंत्र का निरूपण किया गया है, राज्य के सिद्धान्त का नहीं। राज्य के सिद्धान्त की रचना का सर्वप्रथम आधुनिक प्रयास हमें बोदाँ में मिलता है। यह बात भी उल्लेखनीय है कि वही पहिला आधुनिक लेखक है जिसने कि राजसत्ता के सिद्धान्त का विकास किया जो कि आधुनिक राष्ट्र-राज्य की सब से महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

मैकियावेली के लेखों में राजसत्ता का कोई उल्लेख नहीं है।

जीन बोदाँ (Jean Bodin)— जीन बोदाँ (१५३०-१५९६) को सभी लोग १६वीं शताब्दी का एक महानतम व्यक्ति समझते हैं; राजनीतिक विचार को उसकी महत्त्वपूर्ण तथा स्थायी देन है। यद्यपि अपने समय की राजपक्षी तथा राजविरोधी सिद्धान्तों के बीच में चल रहे विवाद में वह लगा था और उसने राजा की निरंकुश शक्तियों के पक्ष में लिखा, तथापि उसकी कृतियाँ क्षणभंगुर नहीं हैं।

बोदाँ का अध्ययन तथा ज्ञान बड़ा व्यापक था। राजनीति, न्यायशास्त्र तथा इतिहास तो उसके विशेष क्षेत्र थे ही, किन्तु इनके अतिरिक्त उसने मुद्रा, सार्वजनिक वित्त तथा शिक्षा और धर्म के ऊपर भी रचना की। इन समस्त विषयों के ऊपर उसने महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किये हैं। "वह एक विद्वान था जो एक विचारक होना चाहता था; एक न्यायविद् था जो क़ानूनी नियमों के मूल में भी उतनी ही दिलचस्पी रखता था जितनी कि स्वयं नियमों में; वह एक संसार-कुशल व्यक्ति था जिसने राजनीतिक समस्याओं के अनुसंधान में अपनी समस्त चतुर सहज बुद्धि का प्रयोग किया; वह एक समाजशास्त्री था जो न तो नामों में ही व्यवहार करता था और न ही शब्दों के साथ खिलवाड़ करता था।"* अपने बहुत से विचारों में वह बहुत ही अधिक आधुनिक है, और अपने समकालीनों से कहीं आगे है। जबकि उसके समकालीन निरे रोमन लॉ के ही भक्त थे, उसने क़ानून के ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक अध्ययन का अधिवक्तन किया। उसने कहा कि क़ानून के स्वरूप तथा मूल का पता किसी एक ही देश, जैसे कि रोम, की क़ानून पद्धति का अध्ययन करके नहीं लगाया जा सकता; उसके लिये समस्त देशों की पद्धतियों का एक तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक है। एक विश्वव्यापक क़ानून ऐसा है जिसमें कि समस्त देशों की विधियों का मूल मिलता है, और जिसकी कि ये अपूर्ण अभिव्यंजनायें हैं। इस विश्व-व्यापक क़ानून के खोजने के लिये हमें समस्त देशों की पद्धतियों का अध्ययन करना चाहिये और न्यायशास्त्री तथा इतिहासकार दोनों से परामर्श करना चाहिये। यही कारण है कि उसे कभी-कभी तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक न्याय शास्त्र का जनक कहकर पुकारा जाता है। क़ानून को ऐतिहासिक रूप से अध्ययन करने की आवश्यकता पर तो उसने ज़ोर दिया ही किन्तु इससे भी एक क़दम वह और आगे बढ़ा और उसने कहा कि क़ानून का अध्ययन देश के भौतिक परिवेश, जलवायु, भौगोलिक

* "He was a scholar, who strove to be a thinker; a lawyer, who was interested in the origin of legal rules as in the rules themselves; a man of the world, who brought all the resources of his shrewd common-sense to the investigation of political problems; a sociologist, who neither dealt in names nor played with words."

—Murray : *History of Political Science*, page 172.

स्थिति तथा प्रजातीय विशेषताओं के प्रकाश में होना चाहिये।

धार्मिक कट्टरता तथा दमन के उस युग में बोदाँ ने धार्मिक सहिष्णुता का पक्ष पोषण किया और यह तर्क किया कि राज्य का कार्य सामान्य कल्याण की अभिवृद्धि करना है, किसी धर्म विशेष की प्रतिष्ठा करना नहीं। विभिन्न सम्प्रदायों का वह इतना संतुलित समालोचक था कि कोई भी व्यक्ति निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकता था कि वह कैथोलिक है या प्रॉटेस्टेएट। कुछ का सन्देह तो यह भी था कि वह एक विधर्मी या यहूदी था। तथापि उसमें गहरी धार्मिक आस्था थी।

किन्तु अपनी पद्धति तथा दृष्टिकोण में बोदाँ चाहे कितना ही सच्चा आधुनिक क्यों न रहा हो, वह अपने आपको अपने युग में प्रचलित पक्षपातों तथा अन्धविश्वासों से पूर्ण रूप से मुक्त नहीं रख सका। हमें याद रखना चाहिये कि १६वीं शताब्दी न तो पूर्ण रूप से आधुनिक थी और न पूर्णरूपेण मध्यकालीन; अतीत के बहुत से अवशेष इसमें थे, जैसे कि ज्योतिष, इन्द्रजाल, प्रेत विद्या इत्यादि में विश्वास। बोदाँ को पूर्ण विश्वास था कि नक्षत्र मानव के लक्ष्य तथा राष्ट्रों के भाग्य को बनाते और प्रभावित करते हैं। पिशाचिनियों का पता लगाने तथा उन पर अभियोग चलाने में न्याय-रक्षकों के प्रयोग के लिए उसने एक पुस्तिका लिखी। उसका विश्वास था कि मानव प्राणियों के साथ साथ इस संसार में भूत-प्रेत भी निवास करते हैं जिनके कामों के ऊपर मानव जीवन निर्भर करता है। इसी कारण सैबाइन बोदाँ के राजनीतिक दर्शन को 'प्राचीन तथा नवीन का एक विलक्षण सम्मिश्रण' कहकर पुकारता है, और कहता है कि 'अपने विचारों में वह मध्यकालीन तो नहीं रहा किन्तु आधुनिक भी नहीं हो पाया।' यदि आधुनिकता का अर्थ ज्योतिष विद्या तथा शरीरहीन आत्माओं के अस्तित्व में अविश्वास है तो आज के संसार में भी बहुत बड़ी जनसंख्या को हमें अनाधुनिक समझना पड़ेगा। यह कहना अधिक सत्य होगा कि राजनीतिक समस्याओं तथा उनके निराकरण के प्रति बोदाँ का दृष्टिकोण आधुनिक था, यद्यपि उसके कुछ विश्वास मध्यकालीन थे। यह कहना भी ठीक ही होगा कि १६वीं शताब्दी का समस्त राजनीतिक विचार प्राचीन तथा नवीन का सम्मिश्रण था।

बोदाँ का राजनीतिक विचार उसके ग्रंथ 'The Six Books on the Republic or State' में संकलित है। उसका दूसरा ग्रन्थ 'A Method for the Easy Understanding of History' नामक भी महत्त्वपूर्ण है। इसमें उस पद्धति का विवरण है जिसका प्रयोग उसने अपने राजनीतिक कल्प-विकल्प में किया और जिसे वह नवीन समझता था। यह पद्धति थी दर्शन तथा इतिहास का सम्मिश्रण। हम पहिले ही देख चुके हैं कि बोदाँ के अनुसार क़ानून के वास्तविक स्वरूप तथा मूल को समझने के लिए न्यायशास्त्री को इतिहासकार से सहायता लेनी चाहिये और विभिन्न देशों की

क़ानून प्रणालियों का अध्ययन करना चाहिये। इस प्रकार उसे दर्शन तथा इतिहास का सम्मिश्रण करना चाहिये। बोदाँ के अनुसार मैकियावेली में सब से बड़ा दोष यही था कि उसने अपनी पद्धति में दर्शन को बिल्कुल ही भुला दिया। उसका विचार था कि मैकियावेली ने नीतिशास्त्र तथा राजनीति में विच्छेद इसलिये किया क्योंकि उसकी पद्धति विशुद्ध रूप से अनुभवप्रधान थी; उसे दर्शन द्वारा परिष्कृत नहीं किया गया था। दूसरी ओर बोदाँ ने अफ़लातून तथा मोर सरीखे कोरे आदर्शवादियों (Utopians) की आलोचना इसलिये की कि उन्होंने इतिहास की पूर्णरूपेण अवहेलना की; उनके दर्शन अयथार्थवादी थे क्योंकि उनका आधार ऐतिहासिक तथ्य न थे। बोदाँ की धारणा थी कि आदर्श पद्धति में दर्शन तथा इतिहास दोनों का प्रयोग होना चाहिये। दर्शन इतिहास के तथ्यों को अर्थ प्रदान करता है तथा इतिहास दार्शनिक धारणाओं के लिये सामग्री प्रस्तुत करता है। "तथ्य ठोस बनाते हैं और विवेक सारगर्भित।" अपनी राजनीतिक सामान्यताओं को इतिहास के तुलनात्मक अध्ययन पर आधारित करके बोदाँ ने अरस्तु की पद्धति को अपनाया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बोदाँ के सामने अपने कार्य का चित्र अपने समकालीनों की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक था। परन्तु जैसा कि सैबाइन का कहना है, बोदाँ में उस कार्य के सम्पन्न करने की पूर्ण क्षमता न थी; उसके राजनीतिक दर्शन में काफी प्रवंचना पाई जाती है। "उसके पास कोई स्पष्ट प्रणाली न थी जिसके द्वारा वह अपनी ऐतिहासिक सामग्री को व्यवस्थित कर सकता।" उसने ऐतिहासिक आन्दोलनों के कारणों को खोजने का प्रयास नहीं किया और न ही उसने उन सामान्य सिद्धान्तों का पता लगाने की चेष्टा की जिनके अनुसार मानवता प्रगति की ओर अग्रसर होती है। अपने ग्रन्थ में उसका ध्येय इतिहास के एक सामान्य दर्शन का पता लगाना नहीं था; बल्कि केवल उसे सरलतापूर्वक समझने की एक पद्धति का पता लगाना था। इसका परिणाम यह हुआ कि उसके ग्रन्थों में पाई जाने वाली अतुल ऐतिहासिक सामग्री में कोई व्यवस्था नहीं पाई जाती। उसमें असम्बद्धता है। उसकी पुस्तकों में पुनरावृत्ति भी बहुत है। परन्तु इतना तो हमें मानना ही चाहिये कि इस बात पर ज़ोर देना कि क़ानून तथा राजनीति में घनिष्ट सम्बन्ध है और दोनों का अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टिकोण से होना चाहिये बोदाँ का एक बड़ा गुण था। उसकी दार्शनिक अन्तर्दृष्टि तथा प्राकृतिक क़ानून में उसके विश्वास (जोकि समस्त मानवीय सम्बन्धों को निर्धारित करता है) ने उसे मैकियावेली के नैतिक उपरामवाद (Moral Indifferentism) से बचा लिया। एक फ्रांसीसी विद्वान, मेस्नार्ड (Mesnard) ने बोदाँ के अनुभववाद को 'एकबद्ध' (Integral) कह कर पुकारा है, जिससे उसका अभिप्राय यह है कि वह इतिहास की तीन महान् नैतिक शक्तियों— आचार शास्त्र, क़ानून तथा न्याय— पर पूरा ध्यान देता है। बोदाँ के विचार की प्रेरक शक्ति वह न्याय की धारणा में देखता है। बोदाँ तथा मैकियावेली और बोदाँ तथा हॉब्स में यह एक आधारभूत अन्तर है।

अब हम बोदाँ के उस राजनीतिक दर्शन पर आते हैं जो उसके ग्रन्थ 'Six Books Concerning the State' में हमें मिलता है। कई बातों में उसमें राज्य के मूल, स्वरूप तथा राजनीतिक आज्ञापालन (Obligation) के विषय में हमें मौलिक विचार मिलते हैं; परन्तु वे पूर्णरूप से स्पष्ट नहीं; उनमें कहीं कहीं उलझनें पाई जाती हैं। सब से पहिले हम उसके राज्य के मूल तथा सामाजिक आधार के विवरण को देंगे; फिर उसके राजसत्ता के सिद्धान्त तथा अन्य विषयों का उल्लेख करेंगे और अन्त में यह देखेंगे कि राजनीतिक विचार के इतिहास में उसका क्या स्थान है।

राज्य का मूल तथा आधार— राज्य के सम्बन्ध में बोदाँ के नवीन सिद्धान्त तथा नवीन मूल्यों को भली प्रकार समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम यह जान लें कि उसने किन परिस्थितियों में और किस उद्देश्य को लेकर अपनी रचनायें कीं। स्मरण रहे कि प्रॉटेस्टेएटों तथा कैथोलिकों के बीच धार्मिक संघर्ष ने राज्य की एकता तथा शक्ति को बड़ा धक्का पहुँचाया और शान्ति तथा व्यवस्था क़ायम रखने और जन-कल्याण की अभिवृद्धि करने की उसकी क्षमता को बहुत घटा दिया। इसलिये बोदाँ राज्य को धार्मिक विवादों से अलग रखना और यह सिद्ध करना चाहता था कि राज्य की शक्ति निरपेक्ष है जो उसके समस्त नागरिकों को नैतिक रूप से मान्य है। वह यह भी दिखाना चाहता था कि राज्य का समुचित कार्य सामाजिक कल्याण की अभिवृद्धि करना है, अपने मतानुसार सच्चे धर्म को क़ायम रखना नहीं। इस ध्येय की पूर्ति के लिये उसे उस सिद्धान्त को जो कि राज्य को एक दैविक संस्था समझता है और उस सिद्धान्त को जो कि शासन को जन-इच्छा के ऊपर आधारित करता है, खण्डन करना पड़ा।

यह भी याद रखना चाहिये कि फ्रांसीसी तथा स्कॉटिश काल्विनवादी अन्तःकरण के नाम पर राज्य की शक्ति की अवज्ञा करते थे और व्यक्ति को राज्य से कहीं अधिक महत्ता देते थे। राजनीतिक शक्ति के प्रति काल्विनवादियों का यह दृष्टिकोण बोदाँ के उद्देश्य से ताल नहीं खा सकता था जो कि राज्य के प्राधिकार की महत्ता सिद्ध करना था, व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओं और अधिकारों की रक्षा करना नहीं। अपने कतिपय उद्देश्यों की पूर्ति उसने राज्य की यह परिभाषा देकर की कि राज्य 'परिवारों तथा उनकी सामान्य सम्पत्ति का एक समुदाय है जिसके ऊपर सर्वोच्च शक्ति तथा विवेक का शासन है', तथा उसे शक्ति के ऊपर आधारित करके की। इस परिभाषा की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन नीचे किया जाता है।

सब से पहिली बात तो यह कि बोदाँ राज्य को परिवारों तथा उनकी सामान्य सम्पत्ति का समुदाय बतलाता है, व्यक्तियों का नहीं। व्यक्ति का सम्बन्ध राज्य से परिवार जो कि आधारभूत समूह है, तथा ट्रेड गिल्ड सरीखे अन्य छोटे समूहों की सदस्यता द्वारा है। बोदाँ के राजनीतिक दर्शन में व्यक्ति का व्यक्ति के नाते अधिक महत्त्व नहीं है।

दूसरी बात यह कि यद्यपि अरस्तु का अनुकरण करते हुए बोदाँ राज्य को परिवारों का समुदाय बतलाता है किन्तु उसे वह परिवार का स्वाभाविक विकास तथा मनुष्य की स्वाभाविक सामाजिकता की स्वाभाविक अभिव्यंजना नहीं मानता जैसा कि महान् यूनानी दार्शनिक मानता था; उसके अनुसार राज्य शक्ति की उपज है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जो सूत्र व्यक्तियों को परिवार, व्यापार संघ अथवा चर्च जैसे समुदायों में बाँधता है वह उससे कहीं भिन्न है जोकि व्यक्तियों को राज्य के सदस्यों के रूप में एकबद्ध करता है। कुटुम्ब इत्यादि समुदायों में इस सम्बन्ध का आधार रक्त, मित्रता अथवा पारस्परिक समझौता हो सकता है; किन्तु राज्य में यह बन्धन शक्ति का है। इसका अर्थ यह है कि बोदाँ समाज को राज्य से एक भिन्न चीज समझता है; समाज का विकास मनुष्य के सामाजिक स्वभाव पर आधारित है, राज्य का आधार शक्ति है। उसके राज्य के जन्म के विवरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि बोदाँ की धारणा यह थी कि वह एक परिवार जिससे मानव जाति का प्रारंभ हुआ आगे चल कर प्राकृतिक कारणों से कई परिवारों में विभक्त हो गया। समुचित स्थानों पर उन्होंने अपने घर बसा लिये। सामान्य लाभ और हित के लिये एक दूसरे से मिलने की प्रवृत्ति मनुष्य में स्वाभाविक होती है; इसी प्रवृत्ति के कारण बहुत से परिवार एक ऐसे स्थान पर बस गये जिसे उन्होंने जल, रक्षा इत्यादि के दृष्टिकोण से दूसरों की अपेक्षा अच्छा समझा। ऐसे अच्छे स्थानों की संख्या सीमित थी। इसलिये परिवार उन पर अधिकार जमाने के लिये आपस में लड़े। उस संघर्ष में सबल की विजय हुई; निर्बल परास्त हो गये। विजेताओं ने हारे हुओं पर अपना स्थायी प्रभुत्व कायम करना चाहा और इस प्रक्रिया में वे स्वयं उन सरदारों की अधीनता में आ गये जिन्होंने कि लड़ाई में उनका नेतृत्व किया था। इस प्रकार राज्य का जन्म हुआ। मानव इतिहास में इस बात का काफ़ी प्रमाण है कि शक्ति को राज्य के जन्म का मुख्य आधार समझने में सत्य का काफ़ी अंश है। राज्य के विकास में शक्ति चाहे एकमात्र या मुख्य साधन न रही हो, किन्तु एक महत्त्वपूर्ण साधन वह अवश्य रही है। सामाजिक शक्तियों का बोदाँ एक तीक्ष्ण विश्लेषण-कर्ता था।

बोदाँ द्वारा की गई राज्य की परिभाषा में तीसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि राज्य पर सर्वोच्च शक्ति का शासन होता है। सर्वोच्च शक्ति राज्य का सार है; यह राज्य को अन्य समुदायों से अलग करती है; इसे खो देने पर राज्य टूट कर गिर पड़ेगा। राज्य की इस विशेषता को बोदाँ राजसत्ता (Sovereignty) कह कर पुकारता है। राजसत्ता का सिद्धान्त राजनीतिक दर्शन को बोदाँ की सबसे बड़ी देन समझी जाती है। उसका वर्णन करने वाला तथा उसका विश्लेषण करने वाला वह प्रथम लेखक था। इसका वर्णन हम एक अलग वर्ग में करेंगे। यहाँ पर केवल इतना ही कहना काफी होगा कि क़ानूनों को बनाने तथा उन्हें लागू करने की राज्य की शक्ति ही राजसत्ता है।

चौथी बात यह कि बोदाँ के अनुसार राज्य के निर्देशन में विवेक (Reason) का भी बड़ा हाथ होता है। यह एक महत्त्वपूर्ण विचार है। इसका अर्थ यह है कि राज्य में सर्वोच्च शासन अधिकार को जो चीज न्यायसंगत बनाती है वह है उसका विवेकसम्मत* होना, अन्यथा राज्य और लुटेरों के एक गिरोह में भेद करने वाली इसके अतिरिक्त अन्य कोई चीज़ नहीं है। विवेक के क़ानून से बोदाँ का अर्थ कदाचित प्रकृति के क़ानून (Law of Nature) से था। इसका अर्थ यह है कि यद्यपि वह राज्य का मूल शक्ति में देखता था किन्तु उसके अनुसार शक्ति स्वयं अपना औचित्य नहीं है। राज्य के बन जाने के पश्चात् शक्ति उसका आधारभूत गुण नहीं रह जाती। अपने आपको न्यायसंगत (Lawful) बनाने के लिए राजसत्ताधारी को विवेक तथा नैतिक नियंत्रण के अधीन रहना चाहिये। इस प्रकार बोदाँ ने उस रिक्त स्थान को भरने का प्रयत्न किया जोकि दैविक अधिकार सिद्धान्त के तिरस्कार से उत्पन्न हो गया था।

इस प्रसंग में यह बात भी उल्लेखनीय है कि अरस्तु के विपरीत बोदाँ राज्य के लक्ष्य का कोई उल्लेख नहीं करता। वह अरस्तु को अपना पथप्रदर्शक नहीं बना सकता था और आनन्दमय अथवा शुभ जीवन को राज्य का लक्ष्य नहीं बना सकता था क्योंकि यूनानी नगर-राज्यों और नवविकसित राष्ट्र-राज्यों के बीच गहरे अन्तरों ने राज्य के उस लक्ष्य को अव्यवहारिक बना दिया था। प्रॉटेस्टेण्ट तथा कैथोलिक शुभ जीवन की व्याख्या भिन्न भिन्न करते थे। बोदाँ राज्य के कार्य-क्षेत्र को शांति तथा व्यवस्था क़ायम रखने और भौतिक कल्याण की अभिवृद्धि करने तक सीमित नहीं रख सकता था, क्योंकि उसका विश्वास था कि राज्य की एक आत्मा होती है इसलिये केवल भौतिक सुरक्षा से बढ़कर उसका कोई उच्चतर उद्देश्य होना चाहिये। परन्तु राज्य के इस उच्चतर उद्देश्य का उसने कोई स्पष्ट विवरण कभी नहीं दिया। उसके राजनीतिक दर्शन में यह एक बहुत बड़ी कमी है; नागरिकों के राज्य की आज्ञापालन के कर्त्तव्य का भी कोई सन्तोषजनक उत्तर वह न दे सका।

अन्त में उसकी परिभाषा में इस वाक्यांश 'तथा उनकी सामान्य सम्पत्ति' की ओर ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है। अरस्तु की परिभाषा में ऐसी कोई चीज़ नहीं है। इन शब्दों का प्रयोग जान बूझ कर किया गया दिखाई पड़ता है; ऐसा करने में उसका उद्देश्य यह था कि निजी सम्पत्ति को, जोकि परिवार का एक आवश्यक तथा अपरिहार्य अंग है, राजसत्ताधारी शक्ति की पहुँच से बाहर रखा जावे। अफ़लातून तथा मोर तथा अनाबाप्टिस्ट्स में पाए जाने वाले साम्यवाद से बोदाँ घृणा करता था और उसकी उसने कटु आलोचना की है। सम्पत्ति परिवार की होती है जिसका क्षेत्र राज्य के क्षेत्र से भिन्न होता है; इसलिए यह राज्यसत्ता के अधिकार क्षेत्र से बाहर है।

* मूल पुस्तक के वाक्यांश (Subject to the law of reason) का अनुवाद अधिक समुचित शब्दों के अभाव में 'विवेकसम्मत' शब्दों में किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बोदाँ की योजना में परिवार का सम्पत्ति पर अधिकार राजसत्ता के प्राधिकार को निश्चित रूप से सीमित करता है। किन्तु यह उसकी प्रणाली में एक गम्भीर कठिनाई उत्पन्न करता है। निजी सम्पत्ति का अधिकार एक प्रकार से परिवार का प्राकृतिक अधिकार है (यद्यपि व्यक्ति का नहीं) जिसका राज्य को सम्मान करना पड़ता है। तथापि बोदाँ राज्य को प्रभुतासम्पन्न बनाता है और प्रभुता अर्थात् राजसत्ता को निरपेक्ष तथा अपरिमित बनाता है। राज्य की निरपेक्ष तथा अपरिमित शक्ति तथा निजी सम्पत्ति के अदेय अधिकार में संगति उत्पन्न करना निस्सन्देह एक ऐसी तार्किक कठिनाई है जिसे पार नहीं किया जा सकता।

नागरिकता के विषय में बोदाँ के विचार— बोदाँ के राज्य की राजसत्ता के सिद्धांत को जो कि राजनीतिक विचार को उसकी प्रमुख देन है, लेने से पूर्व दो शब्द उसकी नागरिकता-विषयक धारणाओं के विषय में कह देना अनावश्यक न होगा। उसकी नागरिकता में भी स्पष्ट आधुनिक तत्त्व मिलते हैं।

प्रारंभ में ही हमें बोदाँ की प्रणाली में एक ऐसी कठिनाई मिलती है जो अन्यत्र नहीं पाई जाती। उसके लिये राज्य का प्रारंभिक तत्त्व परिवार है, व्यक्ति नहीं। जैसा कि पहिले ही कहा जा चुका है व्यक्ति राज्य में अपना भाग आधारभूत सामाजिक समुदायों की अपनी सदस्यता द्वारा अदा करता है। इस कठिनाई को बोदाँ यह कह कर दूर करता है कि परिवार का प्रधान नागरिक का परिधान केवल तभी धारण करता है जब कि वह घरेलू कर्त्तव्यों को छोड़ता है और सार्वजनिक कार्यों के करने के लिये अन्य परिवारों के प्रधानों से मिलने के लिए घर से बाहर निकलता है। जो चीज़ उसे नागरिक बनाती है वह उन अधिकारों तथा विशेषाधिकारों का उपभोग नहीं है जो कि प्राचीन यूनान तथा रोम में नागरिकता की धारणा से सामान्यतया सम्बद्ध थे और जो आज भी इस शब्द के अर्थ का एक भाग हैं, बल्कि वह है उसका राज्य की राजसत्ता की अधीनता स्वीकार करना। नागरिक की जो परिभाषा उसने दी है उससे यह बात पूर्ण रूप से स्पष्ट है। उसके अनुसार नागरिक वह स्वतन्त्र व्यक्ति है जो कि राज्य की प्रभु-शक्ति के अधीन है। (Citizen is the free person subject to the sovereign authority of another.) बोदाँ के विचार में मानव समानता का सिद्धान्त मूर्खतापूर्ण है। वैभव, शक्ति तथा पद के दृष्टिकोण से मनुष्यों को वह असमान समझता है; किन्तु एक सामान्य राजसत्ता के प्रति अधीनता के नाते वे सब समान हैं। नागरिकता की इस प्रचलित परिभाषा में कि नागरिकता राज्य के प्रति भक्ति है बोदाँ के सिद्धान्त का प्रभाव प्रतिबिम्बित है।

बोदाँ का राजसत्ता का सिद्धान्त— नागरिकता विषयक बोदाँ की उक्त धारणा से अब हम उसके राजसत्ता के सिद्धान्त पर आते हैं जोकि उसके राजनीतिक

दर्शन का सब से आधारभूत अङ्ग है। बोदाँ का यह गर्वपूर्ण दावा करना उचित न था कि उससे पूर्व किसी भी दार्शनिक या न्यायविद् (Jurist) ने इस धारणा का प्रतिपादन नहीं किया। अरस्तु ने जिस सर्वोच्च शक्ति का उल्लेख किया है और जिसका निवास-स्थान वह राजतन्त्र में राज्य के शासक में, कुलीनतन्त्र में कुछ व्यक्तियों में और लोकतन्त्र में जनसाधारण में बतलाता था, उसे बोदाँ द्वारा प्रतिपादित राजसत्ता के विचार के अनुरूप नहीं समझा जा सकता; यह कानून द्वारा परिमित था जिसका स्रोत प्रज्ञा (Reason) है। मध्य युग की परिस्थितियाँ इस धारणा के विकास के लिए अनुकूल न थीं; सम्राट् की शक्ति एक ओर तो सामन्त सरदारों के अधिकारों द्वारा सीमित थी और दूसरी ओर पोप के श्रेष्ठतर शक्ति के दावों द्वारा। १६वीं शताब्दी में स्थिति बिल्कुल भिन्न हो गई थी। इंग्लैंड तथा फ्रांस सरीखे राष्ट्र-राज्यों के राजाओं ने अभूतपूर्व एकबद्धता तथा केन्द्रीकरण प्राप्त कर लिया था और अपने आप को पोप के नियंत्रण से मुक्त कर लिया था। निस्सन्देह यह सत्य है कि **होली रोमन सम्राट** का अस्तित्व उस समय था और वह साम्राज्य के ऊपर नाममात्र का अधिकार जताता था। परन्तु बोदाँ के लिये उसका कोई महत्त्व न था जिसके लिए फ्रांस का राजा, हेनरी तृतीय ही सब कुछ था। अपने राजसत्ता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके बोदाँ उस प्रवृत्ति का सैद्धान्तिक औचित्य सिद्ध कर रहा था जोकि पश्चिमी यूरोप में सर्वत्र प्रधान हो उठी थी। फ्रांस, ब्रिटेन तथा स्पेन के राजा बोदाँ के मुख से यह सुन कर बहुत प्रसन्न हुए होंगे कि 'समस्त व्यक्तियों तथा समस्त विषयों' पर उनका नियंत्रण करने का प्रयत्न राजसत्ता के उन अदेय अधिकारों का ही प्रयोग था जोकि प्रत्येक राज्य में स्वाभाविक रूप से सन्निहित रहते हैं।

बोदाँ के अनुसार राजसत्ता 'एक राज्य में शासन करने की निरपेक्ष तथा स्थायी शक्ति' है; वह 'नागरिक तथा प्रजाजन के ऊपर वह सर्वोच्च शक्ति है जिसके ऊपर क़ानून की कोई सीमायें नहीं हैं'। यदि इन परिभाषाओं का हम विश्लेषण करें तो ज़ाहिर है कि वह सर्वोच्च शक्ति जो राज्य को अन्य समुदायों से विशेषता प्रदान करती है, निरपेक्ष तथा स्थायी होनी चाहिए; उसके ऊपर क़ानून की कोई सीमायें नहीं होनी चाहियें। इन शब्दों से बोदाँ का क्या तात्पर्य था, यह समझना आवश्यक है।

यह कह कर कि राज्य अपने क्षेत्र के अन्तर्गत रहने वाले समस्त नागरिक तथा प्रजाजन पर निरपेक्ष तथा अन्तिम शक्ति रखता है बोदाँ दो उद्देश्यों की सिद्धि करना चाहता था। प्रथम, वह पोप तथा होली रोमन सम्राट सरीखे किसी भी वाह्य प्राधिकारी के राज्य के लौकिक विषयों के ऊपर अधिकार करने के दावे को निश्चित रूप से ठुकराता था। सारांश यह कि उसने राज्य की वाह्य राजसत्ता अथवा स्वतन्त्रता की प्रतिघोषणा की। दूसरे, उसने सामन्त सरदारों, नगरों तथा निगमों के किसी भी अदेय अधिकारों तथा अभिमुक्तियों को मानने से इन्कार कर दिया; उसके अनुसार वे सब साधारण

नागरिकों के सदृश राजा की शक्ति के अधीन थे। उन्हें ऐसे अधिकार देना जिनसे राजा भी उन्हें वंचित न कर सके राज्य की राजसत्ता की निरपेक्षता को कम करना था। इसे हम राजसत्ता का आन्तरिक स्वरूप कह सकते हैं।

राजसत्ता को स्थायी बताकर बोदाँ यह सिद्ध करना चाहता था कि उसका प्रयोग समय विशेष से सीमित नहीं है। उसके अनुसार रीजेण्ट, वाइसरॉय तथा प्राचीन काल के रोमन अधिनायक, जिनमें सर्वोच्च शक्ति एक निश्चित समय के लिए ही निहित होती थी, प्रभुतासम्पन्न शासकों की श्रेणी में नहीं आते। वह राजा जो कि अपने जीवनपर्यन्त निरंकुश शक्तियों का उपभोग करता है बोदाँ के अनुसार प्रभुसत्ताधारी है; उसके विषय में यह कहा जा सकता है कि वह ईश्वर को छोड़कर किसी को भी अपने से बड़ा नहीं समझता। एक रीजेण्ट अथवा एक निश्चित समय के लिए बना हुआ अधिनायक इस प्रकार का कोई दावा नहीं कर सकता; उसका प्राधिकार समय की सीमाओं के अधीन होता है।

अन्तिम बात यह है कि बोदाँ के अनुसार राजसत्ता पर क़ानूनों की कोई सीमायें नहीं होती। इसका अर्थ यह कि वह व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह जो कि राज्य में सर्वोच्च शक्ति का उपभोग करता है स्वयं उन क़ानूनों से बाधित नहीं होता जिन्हें वह जनता के लिए बनाता है; वह क़ानून के ऊपर होता है। कारण स्पष्ट है। यदि शासक क़ानूनों से बाधित है तो फिर वह निरंकुश और सर्वोच्च कहाँ रहा क्योंकि आख़िर एक चीज़ (क़ानून) उसे बाधित और सीमित करती है। सचमुच निरंकुश तथा सर्वोच्च होने के लिए उसे क़ानूनों से ऊपर होना चाहिये। परन्तु बोदाँ एक क्षण के लिए भी यह नहीं सोचता कि राजा की प्रभुसत्ता समस्त क़ानूनों से ऊपर है। वह केवल अपने बनाये हुए क़ानूनों के ऊपर है; अन्य प्रकार के क़ानूनों के नहीं। "समस्त शासक दैविक क़ानून, प्राकृतिक क़ानून (Law of Nature) तथा इनसे निःसृत राष्ट्रों के सामान्य क़ानून से बाधित हैं।" उसके यह मानने से कि राजसत्ता दैविक तथा प्राकृतिक क़ानून द्वारा सीमित है बोदाँ के सिद्धान्त में एक ऐसा तत्त्व आ जाता है जो उसे हॉब्स से एकदम भिन्न कर देता है जिसका सिद्धान्त अन्य बातों में उसके बहुत निकट है। इस से ज़ाहिर है कि वह अब भी उस महान् मध्यकालीन परम्परा के निकट था जो कि राज्य तथा उसके कानूनों को न्यूनाधिक उस पूर्ण न्याय, शुभ तथा सत्य के प्रतिबिम्ब के रूप में देखती है जो कि प्रभु की नैतिक व्यवस्था में अभिव्यक्त होते हैं। बोदाँ ने राजसत्ता के ऊपर जो सीमायें लगाई हैं उन्हें हम अगले वर्ग में देखेंगे; यहाँ पर तो हमारा मुख्य प्रयोजन इस धारणा का विश्लेषण करना तथा उसकी मुख्य विशेषताओं का वर्णन करना है। जिस विशेषता का उल्लेख हमने गत पृष्ठों में किया है वह निश्चित रूप से आधारभूत है; राजसत्ता के ऊपर किसी भी मानवीय अथवा विधेयात्मक कानून की

सीमायें नहीं हैं; प्रभुसत्ताधारी शासक कानूनों का स्रोत है, अतः वह उनसे बाधित नहीं है।

अब तक जो कुछ कहा गया है उससे हम राजसत्ता की एक दूसरी विशेषता पर पहुँचते हैं। यह है नागरिकों की व्यक्तिगत रूप से तथा सामूहिक रूप से कानून बनाने की शक्ति जिसके लिए किसी श्रेष्ठतर, हीनतर तथा समान की अनुमति की आवश्यकता नहीं है। राजसत्ता ही कानूनों का एकमात्र स्रोत है जिनके द्वारा समाज के व्यापार शासित तथा विनियमित होते हैं। बोदाँ के सिद्धान्त का यह एक आवश्यक तत्त्व है कि प्रत्येक राज्य में एक ऐसा व्यक्ति अथवा व्यक्तिसमूह होना चाहिये जो कि उसकी विधायक क्रियाओं के ऊपर पूर्ण अधिकार रखता हो। अपने विधि-निर्माण के अधिकार के प्रयोग करने में प्रभुसत्ताधारी शासक को संसद सरीखे हीनतर अभिकरण के परामर्श को मानना आवश्यक नहीं है; उसके ऊपर कोई ऐसी उच्चतर शक्ति नहीं है जिसकी अनुमति उसके लिए अपरिहार्य हो या जो उसके बनाये हुए कानूनों को रद्द कर सके।

गत वर्णन से हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि बोदाँ के लिए कानून मूलतः एक उच्चतर मानव का आदेश है और उसके लागू करने के लिए निश्चित शक्तियाँ होती हैं। यह कोई बुद्धि की अभिप्रेरणा नहीं है; इसका औचित्य इसके बौद्धिक स्वरूप के ऊपर निर्भर नहीं करता; उसका स्रोत तो यह है कि यह उस उच्चतर व्यक्ति की आज्ञा है जो राज्य में निरंकुश तथा सर्वोच्च शक्ति रखता है। यदि हम यह जानना चाहते हैं कि अमुक राज्य में राजसत्ता का निवास कहाँ है तो बोदाँ के अनुसार हमें यह पता लगाना चाहिये कि उसमें विधि-निर्माण करने की अन्तिम शक्ति कहाँ है।

बोदाँ के राजसत्ता के सिद्धान्त के विषय में भ्रान्त धारणा से बचने के लिए हमें यह याद रखना चाहिये कि बोदाँ के अनुसार सर्वोच्च शक्ति का प्रयोग विवेक के अनुसार होना चाहिये। लुटेरों के एक गिरोह की निरंकुशता तथा राजसत्ता में सब से बड़ा भेद यह है कि इसका प्रयोग प्राकृतिक कानून तथा नैतिकता और न्याय के नियमों के अनुसार होता है। अपने शासन कार्य के लिए शासक ईश्वर के प्रति उत्तरदायी होता है, किन्तु किसी मानवी शक्ति के प्रति नहीं। प्राकृतिक या दैविक उच्चतर कानून का हॉब्स की कृतियों में कोई स्थान नहीं है। राज्य का प्रधान होने के नाते प्रभुसत्ताधारी में अन्य गुण होते हैं, जैसे कि युद्ध की घोषणा करने, शान्ति स्थापित करने, न्यायरक्षकों को नियुक्त करने, मुद्रा बनाने, अपराधियों को क्षमा प्रदान करने तथा करारोपण करने के अधिकार।

इस प्रकार समझने पर राजसत्ता कोई अमूर्त्त अथवा अगम्य चीज़ नहीं रह जाती। यह एक साकार चीज़ है जिसकी परिभाषा की जा सकती है और जिसे व्यक्तियों को प्रदान किया जा सकता है। यह राज्य की समाज को शासित करने वाले कानूनों

को बनाने की कानूनी क्षमता है जो प्रत्येक राज्य में रहती है। यह सम्पूर्ण समाज में सामूहिक रूप से वर्त्तमान रह सकती है और उसी के द्वारा इसका प्रयोग किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में राज्य पूर्णरूपेण लोकतंत्री होगा। अथवा इसका स्वामित्व एक व्यक्ति में हो सकता है और वह वंशानुगत रूप से उसके उत्तराधिकारियों पर अवतरित हो सकती है। ऐसी दशा में राज्य वंशानुगत राजतंत्र हो जायेगा। किन्तु राज्य चाहे राजतंत्री हो, कुलीनतंत्री हो या लोकतंत्री हो, उसमें प्रभुसत्ता अवश्य होगी जो समस्त क़ानूनों का स्रोत है और जो स्वयं अपने बनाये हुए क़ानूनों से बाध्य नहीं है। वह अपनी इच्छानुसार उन क़ानूनों को बदल सकती है, उन्हें रद कर सकती है। यह सर्वोच्च सत्ता अविभाज्य और अदेय है। हथियाने (Prescription) का नियम भी उस पर लागू नहीं होता। समाज की इच्छा की सर्वोच्च अभिव्यंजना होने के नाते यह अविभाज्य है; एक राज्य में दो या अधिक प्रभुसत्ताधारी नहीं हो सकते। यह अदेय है क्योंकि इसे राज्य से अलग करना राज्य को नष्ट कर देना है। अप्रयोग द्वारा भी यह नष्ट नहीं होती।

यह निरपेक्ष तथा सर्वोच्च शक्ति राज्य में स्वभावतः पाई जाती है; यह समाज की अपने हितों के लिए अपने सदस्यों के ऊपर अपनी इच्छा का प्रयोग करने की शक्ति है। यह नहीं कहा जा सकता कि इसे ईश्वर ने अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए मनुष्य को दिया है। सारांश यह कि राजसत्ता मूल रूप से मानव इच्छा की अभिव्यंजना है; समाज के बाहर इसका कोई स्रोत नहीं है।

राजसत्ता की सीमायें— यद्यपि बोदाँ इस बात के ऊपर बहुत ज़ोर देता है कि राजसत्ता निरपेक्ष तथा अपरिमित है तथापि वह यह भी मानता है कि उसकी कुछ सीमायें भी हैं। हम ऊपर कह चुके है कि शासक द्वारा बनाये हुए क़ानून यद्यपि राज्य के समस्त नागरिकों तथा समुदायों के ऊपर लागू होते हैं, किन्तु वह स्वयं उनके ऊपर होता है।* परन्तु वह यह भी मानता है कि एक सर्वोपरि क़ानून ऐसा है जिसके समस्त शासक अधीन होते हैं। यह है ईश्वरीय क़ानून; प्राकृतिक क़ानून को इसी का एक अंग कहा जा सकता है। यह कानून सदाचार के कुछ अपरिवर्त्तनीय मानदण्ड निर्धारित करता है जिनके अनुसार शासक को सदैव चलना चाहिये। इन्हीं मानदण्डों का अनुसरण करना एक राजा की शक्ति को कानूनविहित बनाता है। यदि कोई शासक क़ानून बनाने में इस ईश्वरीय कानून अथवा प्राकृतिक क़ानून को ध्यान में नहीं रखता और अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए कानून बनाता है तो वह आततायी बन जाता है। ध्यान रहे कि एक आततायी भी उतना ही सर्वोच्च है जितना कि एक कानूनविहित शासक; अपनी प्रजा के ऊपर उसका अधिकार भी उतना ही अपरिमित तथा निरंकुश है; किन्तु बोदाँ के अनुसार

* बोदाँ के इस सिद्धान्त का सार उसके द्वारा प्रयुक्त लैटिन भाषा के "Legibus soluta" अर्थात् 'कानूनों से ऊपर होना' में पाया जाता है।

दोनों में एक बड़ा अन्तर है। वह सच्चा राजसत्ताधारी केवल उसी को समझता है जो कि न्याय और विवेक के साथ शासन करता है। ईश्वरीय क़ानून, प्राकृतिक क़ानून तथा इनसे निःसृत अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा लगाई गई राजसत्ता के ऊपर सीमाओं का यही सच्चा अर्थ है। किन्तु इस प्रकार के कानून की व्याख्या करने का अधिकार स्वयं शासक को है; उसे शासक के उपर लागू करने के समुचित साधन नागरिकों के पास नहीं हैं। इसलिये ऐसे कानून द्वारा लगाये गये प्रतिबन्धों का कोई वैधानिक या राजनीतिक महत्त्व नहीं है; वे नैतिक हैं और इसीलिये स्वेच्छापूर्ण लगाये हुए हैं। स्वेच्छापूर्ण लगाये हुए प्रतिबन्ध को पारिभाषिक रूप से प्रतिबन्ध नहीं कहा जा सकता। इसलिये यह स्वीकार कर लेने से कि राजसत्ता ईश्वरीय क़ानून या प्राकृतिक क़ानून के अधीन है उसके निरंकुश तथा अपरिमित होने पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता जोकि बोदाँ के विचार में सबसे प्रमुख तत्त्व है।

तथापि इतना तो मानना ही होगा कि हमने बोदाँ के विचार में कुछ प्रवंचना अवश्य उत्पन्न कर दी है। यथार्थ जगत में अधिकतर शासक ऐसे नहीं होते जैसे कि वे होने चाहियें; उनके बनाये हुए कानून सदैव उस उच्चतर ईश्वरीय कानून के अनुकूल नहीं होते जोकि विश्व में प्रत्येक चीज़ के ऊपर नियन्त्रण रखता है और जो मनुष्य को शुभाशुभ का ज्ञान प्रदान करता है। तब ऐसी स्थिति में जबकि शासक द्वारा बनाये हुए कानून और प्राकृतिक क़ानून में संघर्ष हो तो क्या होगा? क्या न्यायरक्षक को उसे लगू करने से इंकार कर देना चाहिये? क्या नागरिकों को उसकी अवज्ञा करनी चाहिये? बोदाँ ने इन प्रश्नों का कोई प्रत्यक्ष उत्तर नहीं दिया; उसने ऐसी स्थितियों को केवल लघुतम सीमाओं के अन्दर बन्द कर दिया है। किन्तु ऐसा करने से विडम्बना तो दूर नहीं हो जाती, वह तो बनी ही रहती है। "कानून राजसत्ता की इच्छा है और साथ ही साथ शाश्वत न्याय की अभिव्यंजना भी; तथापि दोनों में संघर्ष हो सकता है।"*

राजसत्ता में ऊपर दूसरा प्रतिबन्ध एक भिन्न स्रोत से आता है। बोदाँ का कहना है कि शासक को राज्य के सांविधानिक कानून के विपरीत आचरण नहीं करना चाहिये। इस सिद्धान्त के अनुसार फ्रांस के राजा सिंहासन के उत्तराधिकार के कानून को नहीं बदल सकते थे जोकि सैलिक कानून के अधीन था। यह कानून यह था कि ज्येष्ठतम पुत्र को अपने पिता का सिंहासन उत्तराधिकार में मिलना चाहिये। पुत्रियां उत्तराधिकार से सर्वथा वंचित थीं। राजसत्ता के ऊपर इस प्रतिबन्ध के औचित्य को सिद्ध करना पहिले प्रतिबन्ध से कहीं अधिक कठिन है। बोदाँ ने इस प्रतिबन्ध को इसलिए स्वीकार कर लिया क्योंकि उस ज़माने में प्रचलित कानूनी मत यह था कि राजसत्ता के प्रयोग से सम्बन्धित कुछ ऐसे कानून हैं जिन्हें राजसत्ताधारी नहीं बदल सकता। स्वभाव से तथा कानूनी शिक्षा

* "Law is at once the will of the sovereign and an expression of eternal justice; yet the two may be in conflict."

—Sabine : *op. ct.*, page 408.

दीक्षा के कारण वह संविधानवादी था और इसलिये राज्य के प्राचीन संस्थानों को बनाये रखना चाहता था। परन्तु यदि शासक सचमुच सर्वोच्च है; यदि राजनीतिक समाज का शासक तथा प्रजा के सम्बन्ध के अतिरिक्त कोई अस्तित्व नहीं हो सकता तो समझ में नहीं आता कि शासक को उन कानूनों को बदलने का अधिकार क्यों नहीं होना चाहिए जिनके बनाने में उसका कोई हाथ न था। आगे चलकर हॉब्स ने ऐसा तर्क किया है। इसके विपरीत यदि राज्य एक राजनीतिक समाज है जिसका अपना संविधान है और जिसके अपने कानून हैं जिसे शासक बदल नहीं सकता तो राजसत्ता तथा राजा को हमें तद्रूप नहीं समझना चाहिये जैसा कि बोदाँ समझता था। इस प्रकार सांविधानिक कानूनों के इस बाध्यकारी स्वभाव को स्वीकार करने से बोदाँ के सिद्धान्त में एक दूसरी विडम्बना उत्पन्न हो गई है।

राजसत्ता के ऊपर तीसरा प्रतिबन्ध है निजी सम्पत्ति की अपहरणीयता। बोदाँ निजी सम्पत्ति को पवित्र समझता था; उसका विश्वास था कि शासक सम्पत्ति को उसके स्वामी की इच्छा के बिना नहीं छू सकता। उसका कहना था कि 'किसी न्यायसंगत उद्देश्य के बिना शासक दूसरे की सम्पत्ति को न छीन सकता है और न दूसरों को दे सकता है।' इसका अर्थ यह था कि साधारण समय में बिना उसकी रजामन्दी के राजा को प्रजा के ऊपर प्रत्यक्ष कर लगाने का कोई अधिकार नहीं है। एक ओर तो यह मानना कि राजा को मनमाने कानून बनाने का अधिकार है और दूसरी ओर यह कहना कि उसकी करारोपण की शक्ति बहुत सीमित है, ये दोनों धारणायें एक दूसरे से संगति नहीं खातीं। यह कहना कि शासक की करारोपण की शक्ति सीमित है स्वयं अपना ही विरोध करना है।

बोदाँ ने यह धारणा अपने इस विश्वास के कारण बनाई कि परिवार एक ऐसी इकाई है जिसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है और जिसे कायम रहने के लिए निजी सम्पत्ति आवश्यक है। सम्पत्ति को छीन लेना परिवार को और अन्त में स्वयं राज्य को नष्ट कर देना होगा। इस सम्बन्ध में हमें बोदाँ द्वारा की गई राज्य की इस परिभाषा को याद रखना चाहिये कि राज्य परिवारों तथा उनकी सामान्य सम्पत्ति का एक समुदाय है। जिन इकाइयों से मिल कर राज्य बना है वे अपनी सम्पत्ति सहित परिवार हैं। इस प्रकार बोदाँ की प्रणाली में सम्पत्ति के अधिकार एक आधारभूत महत्त्व रखते हैं। यही कारण है कि बोदाँ सम्पत्ति को राजसत्ता के ऊपर एक स्वाभाविक प्रतिबन्ध समझता है। यह स्वीकार करने से कि निजी सम्पत्ति का अधिकार, सांविधानिक कानून तथा प्राकृतिक कानून शासक की निरपेक्ष शक्ति को सीमित करते हैं, एक आधारभूत प्रश्न खड़ा होता है— 'यदि शासक इन सीमाओं का उल्लंघन करे तो क्या नागरिकों को उसकी अवज्ञा करने का अधिकार है?' उस युग के इस प्रमुख प्रश्न का बोदाँ ने कोई सीधा उत्तर नहीं दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि वह विद्रोह को उचित नहीं समझता था। शायद उसका विचार

यह था कि जैसे जैसे सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं का विकास होता जायेगा वैसे वैसे वे प्राकृतिक कानून के अधिकाधिक अनुकूल होते चले जायेंगे जो कि उसके अनुसार कोई जटिल और कठोर विधि नहीं थी बल्कि अत्यन्त लचीली थी ; नागरिकों का विद्रोह करना आवश्यक नहीं।

राजसत्ता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाला और उसका विश्लेषण करने वाला बोदाँ सर्वप्रथम राजनीतिक दार्शनिक था। इसलिये यदि उसकी इस आधारभूत धारणा की विवेचना में कुछ असंगततायें और कुछ विडम्बनायें आ गई हैं, कुछ अधूरापन रह गया है तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। उसका यह आग्रह ठीक ही है कि राजसत्ता को निरपेक्ष तथा अपरिमित होना चाहिये परन्तु वह यह भी अनुभव करता है कि यदि राज्य के उद्देश्य को समुचित रूप से पूरा करना है तो राजसत्ता के प्रयोग करने वाले व्यक्ति के ऊपर कुछ प्रतिबन्ध लगने चाहियें। दूसरे शब्दों में, उसके विचार की प्रवृत्ति यह थी कि राज्य की निरंकुश राजसत्ता तथा राज्य के प्रधान की सीमित शक्तियों में और प्रभुसत्ताधारी क्राउन (Crown) रूपी संस्था में तथा उसे वहन करने वाले सीमित शक्तियों वाले राजा में भेद है। वह इस महत्त्वपूर्ण विभेद पर इसलिए नहीं पहुंच सका क्योंकि राज्य की प्रभुसत्ता तथा शासक की प्रभुसत्ता को तद्रूप करने में उसने बहुत जल्दबाजी से काम किया।

राज्य तथा सरकार के रूप, सहिष्णुता, इत्यादि— राजसत्ता के सुविख्यात सिद्धान्त के अतिरिक्त बोदाँ के 'रिपब्लिक' में कुछ अन्य विचार भी हैं जिनका कुछ महत्त्व है। उनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है।

राज्य तथा सरकार में बोदाँ विभेद करता है। उसका विचार था कि इस विभेद के न करने के कारण ही अरस्तु तथा अन्य विचारकों के सिद्धान्तों में कुछ दोष आ गये हैं। उसने कहा कि राज्य तथा सरकार, दोनों के कई रूप हैं। राज्य का रूप राजसत्ता के निवासस्थान से निर्धारित होता है ; सरकार का रूप इस बात के ऊपर निर्भर करता है कि राजसत्ता का प्रयोग किस प्रकार किया जाता है। यदि किसी राज्य में राजसत्ता एक व्यक्ति में है तो वह राजतंत्र है ; यदि वह कुछ व्यक्तियों में है तो वह कुलीनतंत्र है और यदि वह समस्त जनसाधारण में है तो वह लोकतंत्र है। इस प्रकार राज्य के तीन रूपों— राजतंत्र, कुलीनतंत्र तथा लोकतंत्र का विभेद राजसत्ता वहन करने वाले व्यक्तियों की संख्या के ऊपर निर्भर करता है। राजसत्ता को राज्य के विभिन्न तत्त्वों में विभाजित नहीं किया जा सकता, इसलिये बोदाँ मिश्रित राज्य की धारणा को स्वीकार नहीं करता। उसका यह कथन बहुत महत्त्वपूर्ण है कि सरकार का रूप राज्य के रूप के ऊपर निर्भर नहीं करता। एक राजतंत्रीय राज्य में एक कुलीनतंत्रीय अथवा लोकतंत्रीय सरकार का होना नितान्त सम्भव है। कुलीनतंत्रीय सरकार वह होती है जिसके अन्तर्गत राज्य के सम्मान तथा पद एक छोटे से वर्ग के सदस्यों को ही प्रदान किये जाते हैं और

सर्वसाधारण को उनसे वंचित रखा जाता है। जनतंत्रीय सरकार वह होती है जिसके अन्तर्गत राज्य के सम्मान तथा पद बिना वर्गगत भेदभाव के गुण के आधार पर प्रदान किये जाते हैं। इस कसौटी के अनुसार ग्रेट ब्रिटेन की सरकार गत शताब्दी के मध्य तक कुलीनतंत्री थी और आज वह जनतंत्री है। पार्लियामेण्ट के प्रभुत्व प्राप्त करने से पूर्व इंग्लैण्ड एक राजतन्त्री राज्य था ; आज वह जनतन्त्री है।

राज्य के तीन रूपों— राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा जनतन्त्र में से बोदाँ राजतन्त्र को, विशेष रूप से फ्रांसीसी ढर्रे के राजतन्त्र को, सर्वश्रेष्ठ समझता था क्योंकि उसके मतानुसार राज्य की सर्वोच्च सत्ता को कुछ नागरिकों अथवा समस्त नागरिकों को सौंप देने में अराजकता आ जाने तथा प्रजा के नष्ट हो जाने का भय है। राजतन्त्र के इस मूल्यांकन को समझने के लिये हमें यह याद रखना चाहिये कि बोदाँ ने १६वीं शताब्दी के फ्रांस में लिखा था।

'सहिष्णुता' (Toleration) वह दूसरा विचार है जिसके लिए बोदाँ सुविख्यात है। उसने धार्मिक सहिष्णुता के सिद्धान्त का प्रचार उस समय किया जब कि धार्मिक दमन अपनी चरम सीमा पर था और कैथोलिकों तथा प्रॉटेस्टेण्टों में निरन्तर संघर्ष चल रहा था। परन्तु सहिष्णुता को उसने एक नीति के रूप में अपनाया, सिद्धान्त के रूप में नहीं। एक ऐसे राज्य में जहाँ कि कैथोलिकों तथा प्रॉटेस्टेण्टों की बड़ी बड़ी संस्थायें हों सरकार की ओर से सम्पूर्ण समाज पर एक ही धर्म को लादने का परिणाम घातक होगा ; उससे गृहयुद्ध छिड़ेगा और राज्य दुर्बल हो जायेगा। इस संकट से बचने के लिये यही उचित है कि राज्य धार्मिक विश्वास की विभिन्नताओं को सहन करे। परन्तु बोदाँ राज्य में नास्तिकों को सहन करने के लिये तैयार नहीं, क्योंकि उसके मतानुसार वे अच्छे नागरिक बन ही नहीं सकते। वह यह भी चाहता है कि राज्य नये नये सम्प्रदायों को न पनपने दे क्योंकि उनसे सामाजिक गड़बड़ी फैल सकती है। इस प्रकार बोदाँ की सहिष्णुता पर बहुत सी सीमायें थीं। जहाँ धार्मिक दमन में सफलता मिलने की बड़ी आशा हो वहाँ वह उसकी अनुमति दे देता है।

'रिपब्लिक' में एक अध्याय क्रांतियों के विषय में भी है जो कि अरस्तु के प्रभाव को लक्षित करता है, किन्तु वह उससे काफ़ी आगे जाता है। बोदाँ का आरंभबिन्दु यह विश्वास है कि मानव प्राणियों की भाँति राज्यों में भी परिवर्तन होते रहते हैं ; वे बढ़ते हैं, परिपक्व होते हैं, क्षीण होते हैं तथा नष्ट हो जाते हैं। ये परिवर्तन अपरिहार्य हैं। इसलिये एक बुद्धिमान् शासक को उन्हें केवल नियमित करने का प्रयत्न करना चाहिये, उन्हें रोकने का नहीं। ये परिवर्तन धीरे धीरे तथा शांतिपूर्वक हो सकते हैं अथवा अकस्मात् और हिंसात्मक हो सकते हैं ; उनका प्रभाव कानून, धर्म, सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं के ऊपर पड़ सकता है या उससे भी आगे जाकर राजसत्ता के निवासस्थान को ही बदल सकता है। बोदाँ के अनुसार केवल उसी परिवर्त्तन को क्रान्ति कहा जा सकता

है जिसके द्वारा राज्य का स्वरूप ही बदल जाता है जैसे कि राजतंत्र का कुलीनतंत्र अथवा लोकतन्त्र हो जाना या उसके विपरीत हो जाना। क्रान्तियों के कारण वह तीन प्रकार के बतलाता है— दैविक, प्राकृतिक तथा मानवीय। दैविक कारण सदा अदृश्य तथा अज्ञात रहते हैं। प्राकृतिक कारणों का जिनमें कि नक्षत्रों का प्रभाव भी सम्मिलित है, हम पता लगा सकते हैं। किन्तु मानवीय कारणों के विश्लेषण में ही बोदाँ ने राजनीतिक चातुर्य का परिचय दिया है और उसने इस बात के बड़े मूल्यवान् सुझाव दिये हैं कि नागरिकों के साथ सम्बन्ध में, अङ्गरक्षकों की नियुक्ति में, धार्मिक मतभेद के विषय में तथा अन्य बहुत सी बातों में शासक को कैसा आचरण करना चाहिये। वादविवाद की असीम स्वतन्त्रता तथा शस्त्र रखने का अधिकार उसे पसन्द नहीं। इसी प्रसंग में वह भौतिक परिवेश तथा राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्ध तथा उपरोक्त के जनता की सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं के ऊपर प्रभाव के अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। प्रोफ़ेसर डनिंग के अनुसार जलवायु तथा भौगोलिक स्थिति के सामाजिक तथा राजनीतिक प्रभाव का उसका अध्ययन सच्चे अर्थों में वैज्ञानिक है। और वह मौलिकता का दावा कर सकता है। मॉन्टेस्क्यू ने इस विचार पद्धति को अपनाया और विकसित किया। उसके इस सिद्धान्त का कि राष्ट्रीय चरित्र की विशेषतायें अक्षांश रेखाओं (Latitudes) तथा देशान्तर रेखाओं (Longitudes) के अनुसार भिन्न भिन्न होती हैं, वर्णन करना आवश्यक नहीं है। क्रांतियों के कारणों के इस संक्षिप्त विवरण को समाप्त करने से पूर्व हम यह कहना चाहते हैं कि यद्यपि बोदाँ कोई समतावादी नहीं था, तथापि धन सम्बन्धी गहरी विषमताओं को वह राज्य के अन्दर विद्रोह का एक प्रमुख कारण समझता था। बोदाँ ने यह भी कहा है कि शासक को क़ानून में बहुत जल्दी जल्दी और बड़े बड़े परिवर्तन नहीं करने चाहियें क्योंकि क़ानून में अत्यधिक हेर फेर करने से क्रान्ति हो सकती है।

अन्त में हम एक बहुत महत्त्वपूर्ण विषय के बारे में बोदाँ के विचारों का उल्लेख करेंगे। वह विषय है: प्रजा को दिये हुए वचन तथा सन्धियों का शासक को कहाँ तक पालन करना चाहिये? इस विषय का महत्त्व इसलिये है क्योंकि राजनीति तथा नीति के पारस्परिक सम्बन्ध पर इसका प्रभाव पड़ता है।

बोदाँ का कहना है कि शासक अपनी ली हुई शपथ तथा किये गये वायदों से बाध्य नहीं है क्योंकि राजसत्ता को शपथ तथा वचन से परिमित नहीं किया जा सकता। परन्तु संविदा (Contract) की बात दूसरी है। संविदा दो पक्षों के मध्य एक समझौता है और वह दोनों के लिये बाध्यकारी है। प्राकृतिक क़ानून का यह एक आदेश है कि संविदा का पालन होना चाहिये। इसलिये शासक को संविदा का पालन करना चाहिये; क़ानून राजसत्ता के क्षेत्र के अन्तर्गत आता है किन्तु संविदा नहीं। इसी प्रकार वह मैकियावेली की इस धारणा का विरोध करता है कि शासक को दूसरे शासकों के साथ की हुई संधियों का पालन करने की आवश्यकता नहीं, यदि वे उसके हितों के विरुद्ध हों। अन्तर्राष्ट्रीय

व्यवहार में शासकों के आचरण को संयत रखने की आवश्यकता को उसने महसूस किया। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि यदि मैकियावेली राजनीति को नीतिशास्त्र से अलग करने का आग्रह करता था तो बोदाँ उन दोनों को मिलाने के लिये उतना ही संकल्पबद्ध था। बोदाँ के विचार के इस पहलू का उल्लेख एक दो बार उपरोक्त विवरण में किया जा चुका है।

बोदाँ का इतिहास में स्थान— बावजूद इस बात के कि 'रिपब्लिक' में व्यवस्था तथा शैली सम्बन्धी कुछ दोष पाये जाते हैं और उसकी विचार पद्धति में कहीं कहीं विचार विभ्रम पाया जाता है, यूरोपीय राजनीतिक विचार के विकास में बोदाँ एक निश्चित स्थान रखता है। जैसा कि डा० मरे का कहना है, जिस समय 'रिपब्लिक' सर्व-प्रथम प्रगट हुई तब उसके प्रशंसकों की कोई कमी न थी; और ज्यों ज्यों समय गुज़रता गया उसका मूल्य और महत्त्व कम होने के बजाय बढ़ते ही गये। इसके कई कारण हैं। सर्वप्रथम, उसने राजनीतिक कल्प-विकल्प को वह ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक पद्धति दी जोकि अरस्तु के बाद लुप्तप्राय हो गई थी। यह सच है कि इस दिशा में मैकियावेली ने कुछ कदम बढ़ाया था परन्तु उसकी पद्धति वास्तव में उतनी ऐतिहासिक न थी जितनी कि देखने में वह लगती थी। बोदाँ में यह अधिक पूर्ण और नियमबद्ध है। स्मरण रहे कि बोदाँ को न्यायशास्त्र के ऐतिहासिक स्कूल का जनक बताया जाता है। राजसत्ता का सिद्धान्त, जिसका प्रतिपादन तथा विश्लेषण करने वाला बोदाँ पहिला व्यक्ति था, ऐतिहासिक पद्धति की अपेक्षा राजनीतिक विचार को कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण देन है। यह समस्या १७वीं, १८वीं तथा १९वीं शताब्दी के राजनीतिक विचार की धुरी है। २०वीं शताब्दी की भी यह एक आधारभूत समस्या है। और जब तक भी संसार में राष्ट्रवाद राजनीतिक संगठन का एक बुनियादी तथ्य रहेगा तब तक राजसत्ता की समस्या भी आधारभूत रहेगी क्योंकि राष्ट्रवाद तथा राजसत्ता को एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। आगे चल कर बहुत बड़े पैमाने पर राष्ट्र-राज्य का जो विकास हुआ उसके मूल में राजसत्ता की धारणा ही काम कर रही थी। ऐसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन करना कोई छोटी बात नहीं है।

पहिले ही कहा जा चुका है कि बोदाँ का यह मानना कि प्राकृतिक कानून, राज्य के उत्तराधिकार सम्बन्धी कानून (Leges imperii) तथा निजी सम्पत्ति का अकाट्य अधिकार सर्वप्रभुत्वपूर्ण शक्ति को परिमित करते हैं उसकी विचार पद्धति में कुछ भ्रम उत्पन्न कर देता है। उसने अपनी पद्धति में केन्द्रीकृत शक्ति तथा संविधानवाद का सम्मिश्रण करने का प्रयास किया; किन्तु वह निष्फल रहा; वे दोनों एक जगह न हो सके। इसका कारण यह है कि ऐसा करने के लिये जो दार्शनिक गहराई अपेक्षित थी वह बोदाँ में न थी; उसने प्राकृतिक क़ानून की धारणा का सांगोपांग विश्लेषण नहीं किया और

न ही उसने राजनीतिक कर्त्तव्य के स्वरूप तथा आधार की विवेचना की और न ही उसने राज्य तथा उसकी निर्मायक इकाइयों के पारस्परिक सम्बन्धों की कोई गहरी परख की। इन दोनों समस्याओं को आने वाले विचारकों ने अपने हाथ में लिया। ग्रोशियस तथा लॉक ने प्राकृतिक क़ानून के प्राचीन सिद्धान्त की आधुनिक तथा धर्म-निरपेक्ष व्याख्या की, और हॉब्स ने राजसत्ता के सिद्धान्त को शक्ति की भाषा में विकसित किया।

ह्यू गो ग्रोशियस (Hugo Grotius):— संप्रभुता के दो स्वरूप होते हैं, आन्तरिक अथवा राष्ट्रीय तथा बाह्य अथवा अन्तर्राष्ट्रीय। जितनी दृढ़ता से जीन बोदाँ ने राष्ट्रीय संप्रभुता का पक्ष पोषण किया उतनी ही दृढ़ता से ह्यू गो ग्रोशियस ने अन्तर्राष्ट्रीय संप्रभुता का आधार रखा। बोदाँ ने राजसत्ता का प्रतिपादन किया और उसे एक सुव्यवस्थित राज्य में शान्ति तथा प्रगति का अपरिहार्य आधार बताया ; ग्रोशियस ने एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की धारणा को जन्म दिया जिसके कि समस्त स्वाधीन राष्ट्र-राज्य सदस्य हैं। उसकी धारणा थी कि विभिन्न राज्य एक ऐसे समाज के अंग हैं जिसका कि युद्ध तथा युद्ध चलाने के विषय में एक सामान्य कानून है। उसके महान् ग्रंथ 'दी लॉ ऑफ वॉर एण्ड पीस (The Law of War and Peace)' का उद्देश्य इसी धारणा को सिद्ध करना था। उसके द्वारा वह अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायशास्त्र का प्रवर्त्तक बन गया।

ह्यू गो ग्रोशियस (१५८३–१६४३) का लीडन के वॉन ग्रूट परिवार में जन्म हुआ। उसका क्रिश्चियन नाम हुइग् वॉन ग्रूट (Huig van Groot) था। वह एक विलक्षण बालक था और आठ वर्ष की अवस्था में वह लेटिन पद्य लिखता था। ग्यारह वर्ष की अवस्था में उसने मेट्रिक की परीक्षा पास कर ली और उसने लीडन विश्वविद्यालय में प्रवेश किया जहाँ उसने अपनी विद्वत्ता के लिये ख्याति प्राप्त की। १५ वर्ष की अवस्था में उसे एक सरकारी पद मिल गया और एक विशेष डच दूतालय के साथ उसे पेरिस भेज दिया गया। घर वापिस आने पर उसने लीडन विश्वविद्यालय से डाक्टर ऑफ लॉज़ की उपाधि प्राप्त की और वकालत करने लगा। ३० वर्ष की अवस्था में उसे रॉटरडम का अंगरक्षक नियुक्त कर दिया गया जिस नाते उसे एक अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण विवाद में भाग लेना पड़ा जिसने राजनीतिक स्वरूप धारण कर लिया। यह विवाद आर्मीनियनिज़्म (Arminianism) तथा गौमेरिज़्म (Gomarism) नामक दो सम्प्रदायों में था। प्रिंस मॉरिस ऑफ ऑरेंज ने गौमेरिस्ट्स का पक्ष लिया और ग्रोशियस तथा एक अन्य अंगरक्षक, बार्नवेल को जिन्होंने कि दंगों को दबाने के लिये सेना का प्रयोग किया था, गिरफ्तार करा लिया। ग्रोशियस पर राजद्रोह का अभियोग लगाया गया और उसे आजीवन कारावास का दण्ड मिला जबकि बार्नवेल को मृत्युदण्ड मिला। अपनी पत्नी के साहस तथा प्रतिभा के कारण वह जेल से निकल भागा और अपने जीवन के शेष दिन उसने एक देशनिर्वासित के रूप में बड़ी दरिद्रता में काटे। अपने देशनिर्वासन के समय

में ही उसने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दी लॉ ऑफ़ वार एण्ड पीस' लिखा।

यद्यपि ग्रोशियस की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी और उसने ज्ञान के कतिपय क्षेत्रों, इतिहास, प्राच्यशास्त्र, काव्य, नाटक तथा धर्मशास्त्र में ख्याति प्राप्त की, किन्तु उसकी ख्याति का मुख्य आधार है अन्तर्राष्ट्रीय न्यायशास्त्र के उस क्षेत्र में उसका महान् ग्रन्थ, 'दी लॉ ऑफ वार एण्ड पीस' जिसे सर्वसम्मति से तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय आचरण के ऊपर एक व्यापक तथा अधिकृत भाष्य समझा जाता है। जिन स्थितियों से प्रेरित होकर उसने यह ग्रन्थ लिखा उनके सम्बन्ध में दो शब्द लिख देना अनावश्यक न होगा; उनसे उसके उद्देश्य तथा लक्ष्य पर भारी प्रकाश पड़ता है।

ग्रोशियस के जन्म लेने से बहुत पहिले ही ईसाई यूरोप की एकता भंग हो चुकी थी; मध्यकालीनवादियों द्वारा प्रतिपादित विश्वव्यापी समाज पूर्ण रूप से लुप्त हो चुका था; उसका स्थान कतिपय राष्ट्र-राज्यों ने ले लिया था जिनमें से प्रत्येक अपने अपने कार्य-क्षेत्र में पूर्ण रूप से स्वाधीन होने का दावा करता था। पवित्र सम्राट् का प्राधिकार जर्मनी से आगे नहीं था और वहाँ भी केवल वह छायामात्र था। सम्पूर्ण प्रॉटेस्टेण्ट यूरोप तथा लगभग आधा कैथोलिक संसार इस बात से इन्कार करता था कि पोप को लौकिक विषयों में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार है। इस प्रकार समस्त अति-राष्ट्रीय नियन्त्रण से विमुक्त होकर राष्ट्रीय राजाओं ने अपनी नवप्राप्त स्वतन्त्रता का पूरा लाभ उठाया और यूरोप को एक प्रकार का सशस्त्र शिविर बना दिया। अपने पड़ौसियों के विरुद्ध अपनी इच्छानुसार लड़ाई छेड़ने और लड़ाई लड़ने में नैतिकता के साधारण नियमों का भी उल्लंघन करने के लिये उन्होंने अपने को स्वतन्त्र समझा। इस स्थिति का सर्वोत्तम वर्णन स्वयं ग्रोशियस के शब्दों में ही किया जा सकता है, "मैंने देखा कि सम्पूर्ण ईसाई जगत में युद्ध छेड़ देने की खुली छूट थी; छोटी छोटी बातों पर या बिना बात भी तलवारें म्यान से बाहर निकल आती थीं। अब जब शस्त्र उठ जाते थे तो दैविक तथा मानवीय कानूनों के लिए सारा सम्मान जाता रहता था; मानो कि मनुष्य को उस समय से कोई भी अपराध करने का अधिकार मिल गया हो।"* चर्च में भी लड़ाई को रोकने तथा उसकी वीभत्सता को नियंत्रित करने की शक्ति न थी; लड़ने वाले पक्ष नैतिक नियमों का प्रायः उल्लंघन करते थे। ग्रोशियस की आकांक्षा थी इस स्थिति में सुधार करना। उस स्थिति का अन्त करने के लिये या कम से कम उसे संयत करने के दृष्टिकोण से वह एक दर्शन की खोज में लग पड़ा जोकि सामाजिक तथा लौकिक उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए युद्ध

* "I saw prevailing throughout Christian world a licence in making war, recourse being had to arms for slight reasons or for no reason, and when arms were taken up, all reverence for divine and human laws was lost, just as if men were henceforth authorised to commit all crimes without restraint."

के संचालन के लिये एक मापदण्ड निर्धारित करे। अपने उद्देश्य में वह सफल हुआ; प्राकृतिक कानून तथा राष्ट्रों के कानून में उसे राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्ध को विनियमित करने तथा युद्ध की वीभत्सता को संयत करने का एक बौद्धिक आधार मिला। यह मानना भूल होगी कि इस समस्या के ऊपर विचार करने वाला और इस बात की समीक्षा करने वाला कि युद्ध का औचित्य क्या है, ग्रोशियस पहिला व्यक्ति था। इस विषय में ग्रोशियस के पूर्ववर्तियों का पता लगाने के लिये हमें चौथी शताब्दी में सन्त ऑगस्टाइन तथा तेरहवीं शताब्दी में सन्त टॉमस एक्वीनास तक जाने की आवश्यकता नहीं; इस विषय की समीक्षा कतिपय स्पेनिश धर्मशास्त्रियों ने १६वीं शताब्दी में की थी। मानव आचरण के व्यावहारिक प्रश्नों पर विचार करते समय उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर सोचना पड़ा और इस प्रकार उन्होंने प्रमाणित अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों की अवतारणा की। उनमें से एक का नाम था फ्राँसिस्को विक्टोरिया, जो कि सलामाँका में धर्मशास्त्र का प्राध्यापक था और जिसने लड़ाई लड़ने के उचित कारणों की समीक्षा की। फ्राँसिस्को सुआॅरेज़ एक अन्य महत्त्वपूर्ण लेखक था जो एक ऐसे प्राकृतिक क़ानून के अस्तित्व पर जोर देता था जिसका पालन समस्त राष्ट्रों को करना चाहिये। जेन्टीलिस ने, जिसे कि अपने देश इटली को छोड़ना पड़ा और जोकि ऑक्सफोर्ड में नागरिक क़ानून का प्राध्यापक था, एक ग्रन्थ की रचना की जिसमें उसने इन प्रश्नों की समीक्षा की कि युद्ध की क्या प्रकृति है, कौन लड़ाई छेड़ सकता है, तथा उसके क्या उचित कारण हो सकते हैं। कैथोलिक न्यायविदों द्वारा विकसित प्रकृति के कानून तथा राष्ट्रों के कानून के इन सिद्धान्तों का प्रॉटेस्टेण्ट देशों में स्वागत नहीं हुआ क्योंकि ये सिद्धान्त स्कॉलिस्टिक दर्शन से सम्बद्ध थे जो कि यूरोप की जनता के एक बड़े भाग को अप्रिय हो चुका था। मैलंक्थोन तथा विंक्लर सरीखे कुछ प्रॉटेस्टेण्ट न्यायविद भी थे जिन्होंने प्रकृति के कानून की समीक्षा की और उसके तत्त्व को सद्विवेक में पाया जिसकी पूर्ति तथा निर्देशन डैकेलॉग (Decalogue) में दिये हुए ईश्वर के स्पष्ट आदेशों द्वारा होता है। उनकी रचनाओं द्वारा यह एक काफ़ी सुनिश्चित विधान बन गया और इसमें काफी साकारता आगई। विंक्लर ने इक्कीस धाराएँ दी हैं जिनमें कि प्रकृति का कानून सन्निहित है और जिनके ऊपर मनुष्य के प्राकृतिक अधिकार आधारित हैं। परन्तु उनके सिद्धान्त में भी वह रागात्मक तत्त्व न था जो कि ग्रोशियस में था क्योंकि उनमें ग्रोशियस जैसा मानवतावाद तथा उदारवाद न था। इसके अतिरिक्त ग्रोशियस की विलक्षण प्रतिभा की ऐसी धाक थी कि जो कुछ भी वह लिखता था उसके पाठक उसे श्रद्धापूर्वक पढ़ते थे। सारांश यह कि प्रकृति के कानून के आधार पर एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायशास्त्र का ढाँचा खड़ा करने में ग्रोशियस को अपने १६वीं शताब्दी के कैथोलिक तथा प्रॉटेस्टेण्ट पूर्ववर्तियों की अपेक्षा अधिक सफलता मिली क्योंकि वह उसे धार्मिक प्रभावों से अलग करके एक ऐसे रूप में रख सका जिसने उस युग के विकासोन्मुख बुद्धिवाद को

संतुष्ट कर दिया।

प्रकृति का कानून— सुआरेज़ सरीखे लेखक प्राकृतिक क़ानून को ईश्वर का आदेश समझते थे; किन्तु ग्रोशियस सरीखे विचारक उसे विवेक की अभिव्यंजना समझते थे। सुआरेज़ की क़ानून सम्बन्धी धारणा का प्रॉटेस्टेण्टों द्वारा तिरस्कार करने का एक कारण यह था कि क़ानून को ईश्वर-वाक्य समझने का परिणाम यह भी होता है कि उसकी व्याख्या करने का अधिकार चर्च को है। कानून की व्याख्या का अधिकार धर्म-शास्त्रियों को न देने के लिये ग्रोशियस कटिबद्ध था और इसी लिये वह इस बात का आग्रह करता था कि कानून ईश्वरीय इच्छा की अभिव्यक्ति नहीं है बल्कि उसका स्वरूप विवेक-सम्मत है, जिसे स्वयं ईश्वर भी नहीं बदल सकता। प्रकृति का क़ानून उतना ही शाश्वत तथा अकाट्य है जितना कि गणित शास्त्र का यह तथ्य कि दो और दो चार होते हैं। विवेकसम्मत होने के कारण बिना धर्म-पुरोहितों की व्याख्या की सहायता के इसे प्रत्येक विवेक-प्रधान व्यक्ति जान सकता है। इस कानून के सिद्धान्त इतने स्पष्ट हैं कि स्वयं अपनी प्रकृति के ऊपर प्रहार किये बिना कोई उसका उल्लंघन नहीं कर सकता। उदाहरण के लिये, इस कानून की एक माँग यह है कि चोरी तथा विश्वासघात हेय हैं। विधेयात्मक शब्दों में यह इस बात की प्रस्थापना करता है कि सम्पत्ति सुरक्षित रहनी चाहिये, वचन का पालन होना चाहिये, सद्व्यवहार किया जाना चाहिये तथा मनुष्य के कार्यों के परिणामों तथा उनकी पात्रता में साम्य होना चाहिये। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रकृति के क़ानून को विवेकसम्मत समझने में तथा उसे ईश्वर-वाक्य से अलग रखने में ग्रोशियस ने स्टोइक्स् (Stoics) तथा सिसरो की परम्परा का निर्वाह किया, सन्त टॉमस एक्वीनास का नहीं। अन्तर्राष्ट्रीय अधिकारों तथा कर्त्तव्यों के लिए एक नवीन तथा धर्म-हीन आधार प्रस्तुत करके ग्रोशियस ने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायशास्त्र की एक महत्त्वपूर्ण सेवा की।

विवेकसम्मत होने के कारण प्रकृति का क़ानून विश्वव्यापक है; समस्त मनुष्यों तथा समस्त राज्यों के ऊपर यह समान रूप से लागू होता है। यह न केवल विश्वव्यापक है, बल्कि परमबुद्धि (Supreme Reason) की तरह यह अधिकारपूर्ण तथा सर्वोपरि है। इसकी मान्यता इसके तत्त्वतः बौद्धिक स्वरूप में पाई जाती है, ईश्वर के भय, निरी उपयोगिता या मसलहत (Expediency) में नहीं। इस पर यह आपत्ति की जा सकती है कि सैद्धांतिक रूप से यह सब कुछ सही हो सकता है किन्तु व्यवहार में यह निरर्थक है। चोरी करने तथा दूसरों को मारने से लोग इसलिये बाज़ रहते हैं और अपने वचन का वे इसलिये पालन करते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि उनकी इच्छा के विरुद्ध दूसरों की सम्पत्ति हरण करने, दूसरों की हत्या करने तथा वचन भंग करने के लिए उन्हें दण्ड दिया जा सकता है। क्योंकि प्राकृतिक क़ानून को तोड़ने के अपराध में राज्यों को दण्ड देने के लिये कोई उच्चतर शक्ति नहीं है इसलिये वह क़ानून प्राणहीन है। भूत में निरंकुश शासकों तथा राज्यों ने सद्विवेक की प्रेरणाओं का घोर निरादर

किया है और हमें भय है कि भविष्य में भी उनके आचरण में कोई परिवर्त्तन नहीं होगा। ग्रोशियस इस आपत्ति को जानता है और उत्तर देने का प्रयत्न करता है। उसका उत्तर देने में वह मानव स्वभाव तथा सामाजिक विकास के आधारभूत तत्त्वों तक पहुँचता है।

ग्रोशियस मानव स्वभाव के विषय में कुछ मान्यताओं को आधार मानकर चलता है। वह अरस्तु की इस बात से सहमत है कि मनुष्य स्वभावतः एक सामाजिक प्राणी है। मनुष्य तथा समाज साथ साथ चलते हैं; एक के बिना दूसरा जीवित नहीं रह सकता। उसकी अगली मान्यता यह है कि समाज का अस्तित्व कानूनों के बिना नहीं हो सकता; समाज तथा कानून उतने ही अभिन्न हैं जितने कि मनुष्य तथा समाज। अपना काम चलाने के लिये डाकुओं के एक गिरोह को भी कुछ सामान्य विनियमनकारी नियम चाहियें। परन्तु मनुष्य न केवल सामाजिक है, वह विवेकपरक (Rational) भी है। यदि वह विवेकपरक है तो वह सामाजिक सम्पूर्ण भी जिसे कि वह विकसित करता है समान रूप से विवेकपरक होना चाहिये। मानव समाज मानव बुद्धि की उत्पत्ति तथा अभिव्यक्ति है। यही बात उन क़ानूनों के विषय में है जोकि समाज के अस्तित्व के लिये अपरिहार्य हैं; मानव बुद्धि की उपज तथा अभिव्यंजना होने के नाते वे भी विवेकपरक हैं।

मानव स्वभाव के विषय में ग्रोशियस की एक अन्य मान्यता है। वह इस बात से इन्कार करता है कि मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी होता है और उसके कार्यों का एकमात्र निर्धारक उसका अपना हित होता है। यदि ऐसा होता तो समाज का अस्तित्व ही असम्भव हो जाता। बुद्धि के अतिरिक्त मनुष्य में अन्तःकरण भी होता है। बुद्धि के आदेश के पालन करने के लिये उसका अन्तःकरण उसे विवश करता है। उनका पालन करने से मानसिक शांति प्राप्त होती है; उनका उल्लंघन करने से पश्चात्ताप होता है। शासक को इस बात का प्रयत्न करना चाहिये कि उसकी प्रजा का अन्तःकरण पूर्ण रूप से सचेत और जागरूक रहे।

ग्रोशियस का विश्वास है कि जन-अन्तःकरण जैसी भी एक चीज़ होती है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में राजनीतिज्ञों का पथ-प्रदर्शन करने के लिये सुनिश्चित नियम हैं तो संसार की जनता का अन्तःकरण उनके अनुसार आचरण करने के लिये भी उन्हें विवश कर देगा। अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों में परमाणु शस्त्रों के प्रयोग को रोकने का एकमात्र साधन उसके विरुद्ध एक ज़ोरदार तथा सुसंगठित जनमत तैयार करना है।

प्राकृतिक क़ानून की धारणा के मूल में पाये जाने वाले आधारभूत सत्य का, जिसे कि १६वीं तथा १७वीं शताब्दियों में उत्तरोत्तर धर्मनिरपेक्षीकृत किया गया, सर्वसुन्दर वर्णन सुआरेज़ के निम्नलिखित शब्दों में किया गया है: "क़ानून के इस अङ्ग का आधार यह सत्य है कि मानव जाति में, चाहे वह कितने ही राष्ट्रों और राज्यों में विभक्त क्यों न हो, एक निश्चित एकता है जो न केवल रूप में एक है बल्कि जो एकदम राजनैतिक एवं नैतिक भी है जैसा कि उस पारस्परिक प्रेम तथा दया की भावना से स्पष्ट है जो कि

सम्पूर्ण जाति, विदेशियों तथा प्रत्येक राष्ट्र के व्यक्तियों के लिये भी पाई जाती है। इसलिये जब कि प्रत्येक सर्वप्रभुत्वपूर्ण राज्य, चाहे वह गणराज्य हो चाहे राजशाही, स्वयं अपने में एक पूर्ण समाज होता है, तथापि मानव जाति को ध्यान में रखते हुए वह इस सम्पूर्णता का केवल एक भाग होता है, क्योंकि ये निकाय इस सीमा तक अकेले और स्वपर्याप्त कभी नहीं होते कि उन्हें पारस्परिक सहायता तथा सहयोग की कोई आवश्यकता ही न हो जो कि कभी कभी उनके महान्तर हित तथा लाभ के लिये होता है और कभी नैतिक तथा व्यावहारिक जीवन की आवश्यकताओं के कारण। इसलिये उन्हें एक क़ानून की बहुत बड़ी आवश्यकता है, ताकि ऐसी एकता तथा सजातीयता से वे शासित हो सकें और व्यवस्थित रह सकें।"*

यह भी कहा जा सकता है कि यद्यपि ग्रोशियस यह तो नहीं मानता कि राष्ट्रीय स्वहित अन्तर्राज्य व्यवहार के विनियमन के लिये कोई पर्याप्त आधार हो सकता है तथापि वह इतना अवश्य स्वीकार करता था कि प्राकृतिक क़ानून के आदेशों का पालन करने के लिये राष्ट्र-राज्यों को यह एक प्रलोभन अवश्य हो सकता है। जिस प्रकार बहुत से व्यक्ति ईमानदारी को एक नीति के रूप में अपनाते हैं, इसी प्रकार राष्ट्र भी यह अनुभव कर सकते हैं कि प्राकृतिक क़ानून की बहुत अधिक अवहेलना न करना स्वयं उनके लिए हितकर है। एक ऐसा राज्य जो कि दूसरों के साथ व्यवहार में इस क़ानून का प्रायः उल्लंघन करता है जल्दी ही कुख्यात हो जायेगा और दूसरों की सद्भावना तथा विश्वास खो बैठेगा और इस प्रकार स्वयं उसकी शांति तथा स्थिरता का एक मुख्य आधार नष्ट हो जायेगा। अत्यधिक शक्तिशाली राजाओं तथा राज्यों को भी दूसरों के साथ संधियाँ करने की आवश्यकता रहती है और यदि वे प्राकृतिक क़ानून के अनुसार आचरण न करें तो अन्तर्राष्ट्रीय संधियाँ निर्मूल्य हो जाती हैं।

*"The ground of this part of the law is the truth that the human race, however much it may be divided into nations and states, possesses nevertheless at all times a certain unity which is not only one in form but is at once political and moral, as is shown by the natural precept of mutual love and mercy which extends to all mankind, even to foreigners and men of every nation. Therefore, while every sovereign state, republic, or princedom is a complete community in itself, it is yet, when mankind is kept in view, a part of this totality, for these bodies are never alone and self-sufficient to the extent of being in no need of the mutual aid and cooperation which are sometimes for their greater good and use, or are sometimes occasioned by moral requirements or the necessities of practical life. They are, therefore, much in need of a law, so that, by such unity and community, they might be rightly governed and set in order."

—Meyer : *The European Tradition*, page 461.

निस्सन्देह यह प्राकृतिक क़ानून जो कि स्वतंत्र राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को विनियमित करने के लिये एक नवीन तथा धर्म-निरपेक्ष मापदण्ड प्रस्तुत करता है, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। एक ऐसे युग में जब कि राज्यों के परस्पर सम्बन्ध बिल्कुल अव्यवस्थित हो उठे थे क्योंकि रोमन चर्च का थोड़ा बहुत नियंत्रण भी लुप्त हो चुका था, और मैकियावेली-वाद का बोलबाला था, ग्रोशियस ने यह घोषणा करके कि प्रकृति का एक आधारभूत क़ानून है जो कि तत्त्वतः न्यायशील होने के कारण समस्त राष्ट्रों, प्रजा तथा शासकों पर समान रूप से लागू होता है, मानव जाति की एक महान् सेवा की। उसने कहा कि जीवन की कुछ न्यूनतम शर्तें और मूल्य ऐसे हैं जिनको हमें मान कर चलना होगा यदि हम मानव समाज को सुरक्षित रखना चाहते हैं। जैसा कि हम पहिले ही कह चुके हैं वे शर्तें और मूल्य हैं 'सम्पत्ति की सुरक्षा, सद्विश्वास, सद्व्यवहार तथा मनुष्यों के आचरणों के परिणामों और पात्रताओं में अनुकूलता'। यद्यपि ग्रोशियस का विचार-विषय मुख्य रूप से अन्तर्राज्य सम्बन्ध था किन्तु प्राकृतिक कानून के सिद्धान्त राज्यों के आन्तरिक जीवन पर भी समान रूप से लागू हो सकते हैं। एक शासक तथा उसकी प्रजा के परस्पर सम्बन्ध न्याय के उन्हीं सिद्धान्तों से अनुशासित होने चाहियें और शासकों को अपने अपने राज्यों में जीवन के उन्हीं मूल्यों की प्राप्ति का प्रयास करना चाहिये।

अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून— प्राकृतिक क़ानून के उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि यह एक आदर्श का वर्णन है; यह स्वाभाविक विवेक के उन सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति है जिनके द्वारा सभ्य राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्ध अनुशासित होने चाहियें; यह उन सिद्धान्तों का वर्णन नहीं है जिनके द्वारा वे वास्तव में अनुशासित होते हैं। आदर्श और यथार्थ में भेद के कई कारण हैं। प्रथम, प्राकृतिक क़ानून के सिद्धान्तों का स्वरूप निराकार तथा सामान्य होता है जो कि साकार तथा जटिल स्थितियों के ऊपर एकदम और प्रत्यक्ष रूप से लागू नहीं होते। दूसरे, यह कि वे केवल उस बात को अभिव्यक्त करते हैं जिसे अधिकतर मनुष्य वांछनीय समझते हैं किन्तु उनके क्रियान्वीकरण के सम्बन्ध में उतना ही मतैक्य होना आवश्यक नहीं। इसलिये ग्रोशियस ने प्राकृतिक क़ानून के साथ साथ एक दूसरा क़ानून भी रक्खा जिसे उसने अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून कह कर पुकारा। ग्रोशियस के अनुसार प्राकृतिक क़ानून 'सद्विवेक का आदेश है जो कि यह इंगित करता है कि अमुक कार्य विवेकपरक स्वभाव के अनुकूल होने के कारण नैतिक रूप से आवश्यक है या उसके प्रतिकूल होने के कारण नैतिक रूप से भ्रष्ट है'। ग्रोशियस द्वारा की गई परिभाषा के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून में वे समस्त व्यवहार सम्मिलित हैं जिनका पालन सभ्य राष्ट्र एक दूसरे के साथ बर्ताव करने में करते हैं। उनका मूल मानव की स्वतन्त्र इच्छा है; सद्विवेक के सिद्धान्तों में से तर्क द्वारा उनका निगमन नहीं किया जा सकता। इस प्रकार ये क़ानून ऐच्छिक होते हैं, अर्थात् ये स्वतन्त्र इच्छा की अभिव्यंजना होते हैं, विवेक की नहीं। "इसका तत्त्व वह है जिसे कि समस्त राष्ट्रों ने या बहुत से राष्ट्रों ने मान्य होना

स्वीकार कर लिया है। इसकी सामग्री में वे बातें शामिल की गई हैं जोकि निरन्तर प्रयोग तथा विद्वानों के साक्ष्य द्वारा प्रमाणित हुई हैं। ऐसे नियमों का उद्देश्य समस्त अथवा बहुत से राष्ट्रों के समूह का कल्याण है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि नागरिक कानून का उद्देश्य उस समूह का कल्याण है जोकि बहुत से व्यक्तियों से मिलकर बनता है।"* इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के अन्तर्गत वे सिद्धान्त आते हैं जिन्हें मनुष्य ने जान बूझकर अपनाया है और जो दार्शनिकों तथा राजनीतिज्ञों के मध्य मतैक्य का परिणाम हैं। वे अपरिवर्तनीय नहीं होते; वे आवश्यकतानुसार बदलते रहते हैं। जिस प्रकार कि प्राकृतिक क़ानून का पालन करने का आधार सामाजिक अस्तित्व है उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून का पालन भी इसी लिये किया जाता है क्योंकि अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया है कि सामाजिक जीवन के लिये वे भी उतने ही आवश्यक हैं।

यहाँ प्राकृतिक क़ानून तथा अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में दो शब्द कह देना अनावश्यक न होगा। यह तो हम पहिले ही कह चुके हैं कि प्राकृतिक कानून वह आधार प्रस्तुत करता है जिसके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय आचरण निर्धारित होना चाहिये, जबकि अन्तर्राष्ट्रीय कानून वह विधान है जिसके अनुसार राष्ट्रों का परस्पर व्यवहार वास्तव में चलता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून प्राकृतिक कानून से निगमित नहीं किया गया है; यह उसके सदृश शाश्वत तथा अपरिवर्तनीय नहीं है। इसलिए इसका प्राधिकार उससे बहुत हीन है। परन्तु यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय कानून प्राकृतिक कानून से नियमित नहीं है, तथापि इसे उसके विपरीत नहीं जाना चाहिये और उसके मूल सिद्धान्तों का बहुत अधिक उल्लंघन नहीं करना चाहिये। सारांश यह कि ग्रोशियस के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून प्राकृतिक कानून के ऊपर आधारित होना चाहिये और उससे हट कर बहुत दूर नहीं जाना चाहिये।

यह कहा जा सकता है कि अपने स्मरणीय ग्रंथ— 'दी लॉ ऑफ वार एण्ड पीस'— की रचना करने में ग्रोशियस के दो उद्देश्य थे। पहिली बात तो यह कि वह तत्कालीन युद्ध सम्बन्धी राष्ट्रों के व्यवहारों को संहिताबद्ध करना चाहता था, और दूसरे, वह स्वाभाविक विवेक के दृष्टिकोण से उनके अन्याय तथा अनैतिकताओं को दूर करना चाहता था। इसलिए यह ग्रंथ प्राकृतिक क़ानून के प्रकाश में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को अनुचालित करने वाले पूर्वस्थापित नियमों की एक आलोचना बन गया। परिणाम यह

---

* "Its content is what has been accepted as obligatory by the consent of all or many nations. What is included under it is proved by constant usage and the testimony of the learned. The occasion for such a body of rights is the welfare of that aggregate which includes all or many nations just as the occasion for civil law is the welfare of the aggregate which consists of many individuals."

—Dunning : *History of Political Theories*, Vol. II, page 174.

हुआ कि प्राकृतिक क़ानून तथा अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के मध्य भेद, जिसके ऊपर उसने इतना अधिक ज़ोर दिया था, धुंधला पड़ गया और दोनों प्रणालियाँ अन्त में जाकर एक ही में विलीन हो गईं जो कि लेखकों तथा न्यायविदों के मत पर आधारित थीं जिनमें ग्रोशियस आज भी प्रथम स्थान रखता है।

अन्तर्राष्ट्रीय आचरण को अनुचालित एवं अनुशासित करने वाले अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून को ग्रोशियस ने जो स्थान दिया है उसकी उपरोक्त समीक्षा में 'जस जेन्टियम' (Jus Gentium) का कोई उल्लेख अभी तक नहीं किया गया जिसे अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के कभी तो तद्रूप बताया जाता है और कभी उससे इसका विभेद किया जाता है।

'जस जेन्टियम' शब्द का प्रयोग उन नियमों तथा कानूनों के लिये किया जाता था जो कि रोम में रोमन नागरिकों तथा विदेशियों के मध्य अथवा स्वयं विदेशियों के मध्य झगड़ों का निर्णय करने के लिये विकसित हो गये थे क्योंकि नागरिक कानून (Jus Civile) उनके ऊपर लागू नहीं होता था क्योंकि रोमन नागरिकता के अधिकार उन्हें प्राप्त नहीं थे। यह महसूस किया जाता था कि विभिन्न कबीलों तथा जातियों के व्यक्तियों के बीच विवादों का निर्णय करने के लिये किसी एक कबीले या जाति विशेष के कानून अथवा परम्पराओं के ऊपर अमल करना अनुचित है; इसलिये रोमन न्यायाधीशों ने ऐसे नियमों को लागू करने का प्रयास किया जो कि उनके सम्पर्क में आने वाली अधिकतर जातियों के लिये सामान्य थे। इसलिये 'जस जेन्टियम' शब्द उन नियमों के लिये प्रयोग होने लगा जो कि विभिन्न जातियों के लिये सामान्य थे किन्तु व्यक्तियों के बीच होने वाले वादों का निर्णय करने के लिये लागू किये जाते थे। किन्तु १६वीं शताब्दी में सुआरेज़ तथा जेण्टाइलिस सरीखे लेखकों के प्रभाव के कारण इस शब्द का अर्थ उन रीतियों तथा परम्पराओं से लिया जाने लगा जो कि राष्ट्रों के बीच आचरण को विनियमित करते थे। यह परिवर्तित धारणा ग्रोशियस की अपनी न थी, यह पहिले से ही प्रचलित थी और उसने उसका अर्थ उन नियमों और परम्पराओं से लगाया जो कि समस्त अथवा अधिकतर राष्ट्रों के लिए सामान्य हैं और जिनके द्वारा उनके पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारित होने चाहियें। उसके हाथों में पड़कर जस जेन्टियम अन्तर्राष्ट्रीय कानून के तद्रूप बन गया।

राज्य की प्रभुता— यद्यपि ग्रोशियस की दिलचस्पी के मुख्य विषय प्राकृतिक कानून तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून थे जिन्हें वह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के आधार समझता था, तथापि राज्य की प्रभुता के सिद्धान्त पर ध्यान देने के लिए भी वह विवश हो गया। उसने देखा कि युद्ध से सदा के लिये बचे रहना असम्भव है। प्रचलित परम्परा के अनुसार कुछ स्थितियों में दूसरे राज्य के साथ युद्ध छेड़ देना एक राज्य के लिये विहित तथा न्यायोचित समझा जाता था, अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के अनुसार युद्ध क़ानून विहित समझे जाते थे। ग्रोशियस ने प्राकृतिक क़ानून के आधार पर भी उन्हें न्यायोचित सिद्ध

करने का प्रयत्न किया। उसने कहा कि अपने उद्देश्यों के ऊपर आधारित राज्यों के प्राकृतिक अधिकार होते हैं जिनकी रक्षा करना उनके लिये आवश्यक है। उनमें से एक है उनके क्षेत्रों के अन्तर्गत रहने वाले लोगों का विवेकपरक कल्याण करना। जब भी कोई दूसरा राज्य इस कल्याण में बाधा डालता है तो उसके विरुद्ध शस्त्र उठाना एक राज्य के लिए पूर्ण रूप से कानून-विहित और न्यायोचित हो जाता है। ग्रोशियस के अपने ही शब्दों में, "युद्ध का उद्देश्य तथा लक्ष्य जीवन की रक्षा करना तथा जीवन के लिये उपयोगी वस्तुओं को प्राप्त करना और उनकी रक्षा करना है। इसलिये युद्ध प्रकृति के प्रथम सिद्धान्तों के पूर्ण रूप से अनुकूल है। यदि उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए शक्ति का प्रयोग करना पड़े तो उससे उन प्रथम सिद्धान्तों की कोई अवहेलना नहीं होती क्योंकि प्रकृति ने प्रत्येक प्राणी को आत्मरक्षा तथा स्वसहायता के लिये काफी शक्ति प्रदान की है। ...... इसके अतिरिक्त सद्विवेक और समाज का स्वभाव शक्ति के समस्त प्रयोग का निषेध नहीं करते, बल्कि केवल उस बल प्रयोग का निषेध करते हैं जोकि समाज के प्रतिकूल है।"* इसका अर्थ यह है कि ग्रोशियस के अनुसार केवल वे युद्ध न्यायोचित और प्राकृतिक कानून के अनुकूल हैं जो कि आत्मरक्षा के लिए लड़े जाते हैं और सामाजिक उद्देश्यों के अनुकूल होते हैं; अन्य उद्देश्य के लिये लड़े गये युद्ध अनुचित हैं। ग्रोशियस के लिए यह विभेद महत्त्वपूर्ण है परन्तु इसकी व्यावहारिक उपयोगिता के विषय में गम्भीर सन्देह हो सकता है। प्रत्येक युद्धग्रस्त राष्ट्र यह विश्वास करता है और दूसरों को यह विश्वास दिलाने का प्रयास करता है कि वह केवल आत्मरक्षा के लिये एक धर्मोचित युद्ध कर रहा है, और वह एक ऐसे आक्रांता के विरुद्ध लड़ रहा है जो कि राज्य के स्वयं जीवन को ही चुनौती दे रहा है।

ग्रोशियस की इस धारणा के विषय में कि सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही शस्त्र उठाना न्यायोचित है एक प्रश्न उठता है : इस बात का निर्णय करने का अधिकार किसे है कि एक स्थितिविशेष में शक्ति का प्रयोग समाज के अनुकूल है या नहीं? राष्ट्रीय स्तर पर युद्ध तथा शान्ति के प्रश्नों का कौन निर्णय करता है? ऐसे ही प्रश्नों का उत्तर देने तथा शक्ति-प्रयोग का अधिकार रखने वाली एकमात्र सामाजिक शक्ति की

* "The end and aim of war being the preservation of life and limb, and the keeping and acquiring of things useful to life, war is in perfect accord with those first principles of nature. If in order to achieve those ends it is necessary to use force, no inconsistency with the first principles of nature is involved, since nature has given to each animal strength sufficient for self-defence and self-assistance .... Right reason, moreover, and the nature of society......... do not prohibit all use of force, but only that use of force which is in conflict with society........."

—Quoted by Maxey: *Modern Philosophies*, pages 180–81.

व्याख्या करने तथा उसका स्थान निर्धारित करने के प्रयास में ग्रोशियस ने राज्य की प्रभुता के सिद्धान्त को प्रविष्ट किया। उसका कहना था कि युद्ध कानून-विहित केवल तभी हो सकता है जब कि वह उस व्यक्ति के प्राधिकार के अन्तर्गत लड़ा जाये जिसके हाथ में राज्य की सर्वप्रभुत्वपूर्ण शक्ति हो और कुछ निश्चित नियमों के अनुसार उसे चलाया जाये।

राज्य में प्रभुता के स्वरूप तथा निवासस्थान की विवेचना करते करते ग्रोशियस राज्य के जन्म के प्रश्न पर आया। इस विषय में उसके विचारों में दो अनमेल प्रवृत्तियों का गड़बड़ीपूर्ण सम्मिश्रण पाया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि एक ओर तो उसका विश्वास यह है कि समूहों तथा समुदायों में रहने के लिए मनुष्य अपनी सामाजिकता द्वारा प्रवृत्त होते हैं। दूसरी ओर वह राज्य के जन्म की संविदा सम्बन्धी धारणा का समर्थन करता हुआ दिखाई पड़ता है जैसा कि निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट है: 'प्रारम्भ में मनुष्य, अपने अनुभव से यह जान लेने पर कि अलग अलग परिवार हिंसा के विरुद्ध अपनी रक्षा नहीं कर सकते, स्वयं अपनी इच्छा से, ईश्वर के आदेश से नहीं, नागरिक समाज में संगठित हो गए जिसमें से शासन शक्ति का उदय हुआ।'† सारांश यह कि ग्रोशियस के अनुसार जब कि समाज स्वाभाविक और प्रवृत्ति पर आधारित है, राज्य कृत्रिम है और मनुष्यों के बीच हुए एक प्रकार के समझौते पर आधारित है। इस युक्ति से ही यह धारणा उत्पन्न होती है कि नागरिक समाज के स्थापित हो जाने के बाद शान्ति एवं व्यवस्था कायम रखने का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व एकमात्र राज्य पर आ जाता है। सामाजिक समझौते द्वारा जनता प्रभुता को स्वयं अपने ही हाथों में रख सकती है या उसे एक राजा को प्रदान कर सकती है जो कि उसका अपने विवेक के अनुसार प्रयोग कर सकता है। परन्तु सामान्यतया यह राजा को ही प्रदान कर दी जाती है जो कि जनता का एकमात्र प्रतिनिधि बन जाता है और उच्चतम राजनीतिक शक्ति का प्रयोग करता है। ग्रोशियस प्रभुता को इसी उच्चतम राजनीतिक शक्ति के तद्रूप मानता है जिसका प्रयोग किसी व्यक्ति के नियन्त्रण के अधीन नहीं है। यह बोदाँ द्वारा दी गई परिभाषा के समरूप प्रतीत होती है किन्तु तफ़सील की बातों में दोनों विचारकों में काफ़ी मतभेद है। ग्रोशियस एक विभाजित तथा सीमित प्रभुता की सम्भावना को स्वीकार करता है, और कहता है कि उस पर एक भूखण्ड अथवा पथाधिकार की भांति, या तो पूर्ण स्वामित्व के साथ, या कब्ज़े के कारण, या केवल एक निश्चित काल के लिए आधिपत्य हो सकता है। परन्तु ऐसी सीमाओं से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। हमारा

† 'Originally men, not by the command of God, but of their own accord, after learning by experience that isolated families could not secure themselves against violence, united in a civil society, out of which sprang government power.'

सम्बन्ध तो राजा की प्रभु-शक्ति के ऊपर उन सीमाओं से है जो कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों, प्राकृतिक क़ानून तथा अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून से उत्पन्न होती हैं। ग्रोशियस कहता है कि ठीक जिस प्रकार प्रत्येक नागरिक व्यक्ति राज्य की प्रभुता तथा उसके क़ानून के अधीन रहता है क्योंकि राज्य का मूल उसकी स्वतन्त्र इच्छा तथा विवेक में है, उसी प्रकार प्रत्येक राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय समाज की प्रभुता स्वीकार करनी चाहिये और स्वेच्छा-पूर्वक अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा प्राकृतिक न्याय के अनुसार आचरण करना चाहिये। कारण यह है कि जो आधारभूत सामाजिक आवश्यकताएँ व्यक्तियों के लिए एक राज्य की सदस्यता आवश्यक बनाती हैं वैसी ही अन्तर्राष्ट्रीय समाज को जन्म देती हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि ग्रोशियस ने अन्तर्राष्ट्रीय प्रभुता का शिलान्यास किया।

ग्रोशियस की युक्ति की आलोचना करना और यह कहना आवश्यक नहीं है कि प्राकृतिक विवेक तथा न्याय के सूत्र में स्वेच्छापूर्वक आबद्ध एक अन्तर्राष्ट्रीय समाज की कल्पना १७वीं शताब्दी की वास्तविक स्थिति के अनुरूप नहीं थी और आज भी उसकी प्राप्ति कोई बहुत बड़ी हद तक नहीं हो पाई है। अन्तर्राष्ट्रीय समाज की राष्ट्रीय राज्य से तुलना करना कुछ जंचता नहीं; अन्तर्राष्ट्रीय संघटन का सदस्य बनकर राष्ट्रीय राज्य अपनी प्रभुता नहीं खो देते जिस प्रकार कि व्यक्ति एक राज्य का सदस्य होते हुए अपनी प्रभुता के समस्त अधिकारों से वंचित हो जाता है। उसकी महानता इस सुन्दर विचार पर ज़ोर देने में है कि अन्तर्राष्ट्रीय समाज के सदस्य होने के नाते स्वतन्त्र तथा प्रभुतासम्पन्न राज्यों के कुछ कर्त्तव्य होते हैं और युद्ध काल तथा शान्ति काल दोनों में ही उन्हें एक दूसरे के साथ बर्ताव करने में विवेक तथा न्याय के कुछ सिद्धान्तों का पालन करना चाहिये।

राजनीतिक विचार को ग्रोशियस की देन— ग्रोशियस की समीक्षा के उपसंहार स्वरूप हम इस बात पर विचार करेंगे कि मानव जाति के विचार को उसकी क्या देन है। यहाँ पर हमें यह याद रखना चाहिये, जैसा कि हम पहिले ही कह चुके हैं, कि ग्रोशियस का विशेष कार्यक्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय कानून था, राजनीतिक सिद्धान्त नहीं; उसे उचित रूप से 'अन्तर्राष्ट्रीय कानून का जनक' कहा जाता है। उसके महान् ग्रन्थ के प्रकाशन ने राज्यों के जीवन में, जहाँ तक कि उनके परस्पर सम्बन्धों का सम्बन्ध है, एक युग का सूत्रपात किया। परन्तु इस क्षेत्र में भी उसकी कोई मौलिक देन नहीं है। उसको श्रेय केवल इस बात का मिलना चाहिये कि उसने 'प्रत्येक पीढ़ी के न्यायविदों तथा धर्मशास्त्रियों, आचारशास्त्रियों तथा दार्शनिकों, कवियों तथा इतिहासज्ञों' के परिश्रम के परिणामों को एक संगतिबद्ध रूप दिया। उसका 'लॉ आफ़ वार एण्ड पीस' प्राचीन पीढ़ियों की बुद्धि का सार था और वह उसे 'पुनर्जागरण' तथा 'सुधार' युग के संसार की अभूतपूर्व स्थितियों पर लागू करता था। "उसका ग्रंथ **'वार एण्ड पीस'** बुद्धिमत्ता का सार था और इसे वह **पुनर्जागरण** तथा **सुधार युग** की अभूतपूर्व स्थितियों

के ऊपर प्रयोग करता था। जो कुछ भी स्टोइक दार्शनिक, रोमन न्यायविद, स्कॉलिस्टिक धर्मशास्त्री तथा जेसुइट लोग प्राकृतिक क़ानून तथा अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के सम्बन्ध में लिख चुके थे, उस सब का लघु रूप इसमें मिलता था और इस सब के सम्मिश्रण से वह अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता तथा परम्पराओं के लिये एक अत्यन्त मूल्यवान भवन के लिए एक ठोस आधार तैयार करता था।"* परन्तु इस बात से उसकी महान् कृति का मूल्य कुछ कम नहीं हो जाता। मौलिकता जितनी किसी सामग्री के खोजने में होती है उतनी ही उसकी एक नवीन व्यवस्था करने में भी होती है। यह सच है कि जहाँ तक अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के तत्त्व का सम्बन्ध है ग्रोशियस ने अपनी ओर से उसमें कुछ नहीं बढ़ाया। ग्रोशियस का कार्य यह था कि उसने राजनीतिक व्यवस्थाओं तथा विधेयात्मक क़ानून के आधार में निहित धारणाओं को निर्धारित करने के लिए एक विवेकपरक और ऐसी पद्धति प्रदान की जिसे १७वीं शताब्दी वैज्ञानिक समझ सकती थी। उसकी अपील तत्त्वतः 'तर्कविवेक (Reason) के लिये थी जैसा कि प्राकृतिक क़ानून के प्राचीन कथन सदैव करते थे; परन्तु उसने विवेक के अर्थ को एक ऐसी सुनिश्चितता दी जैसी कि प्राचीन काल में उसे कभी प्राप्त न हुई थी। ग्रोशियस ने गणित शास्त्र का जो प्रायः उल्लेख किया है वह महत्त्वपूर्ण है।' उसका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के क्षेत्र में उसी प्रकार की स्पष्टता, स्वतःसाध्य तथा निश्चितता लाना था जिस प्रकार कि गणित शास्त्र में पाई जाती है। सारी १७वीं शताब्दी में ग्रोशियस द्वारा इंगित सुपद्धति का विचार छाया रहा और इस बात का प्रयत्न किया गया कि दर्शन शास्त्र, आचार शास्त्र तथा राजनीति शास्त्र को उस रूप तथा पद्धति के अनुकूल बनाया जाये जिनके कारण रेखागणित के परिणाम सुनिश्चित होते हैं। फ्रांस में डेकार्टे (Descartes) ने, इङ्गलैण्ड में हॉब्स ने, हॉलैण्ड में स्पिनोज़ा (Spinoza) ने तथा जर्मनी में लीबनिज़ (Leibnitz) ने अपनी प्रणालियों को प्रदर्शनात्मक (Demonstrative) बनाने का प्रयास किया। किन्तु सामाजिक तथा नैतिक क्षेत्रों में गणितशास्त्र के जैसी स्पष्टता तथा निश्चितता लाना सम्भव नहीं है जैसा कि आगे आने वाली घटनाओं ने सिद्ध कर दिया।

ग्रोशियस की दूसरी महान् सेवा यह थी कि उसने न्याय, सद्विश्वास तथा सदा-

---

* His *Law of War and Peace* "summed up the accepted wisdom of the ancients and applied it to the unprecedented conditions of the Renaissance and Reformation world; it epitomized all that had been written by Stoic philosophers, Roman lawyers, scholastic theologians and Jesuitical casuists, concerning the Law of Nature and the Law of Nations, and combined it into a solid foundation for an incalculably valuable superstructure of international morality and custom."

—*The Social and Political Ideas of the Sixteenth and Seventeenth Centuries*, edited by Hearnshaw, page 137.

चरण जैसे मूल्यों के रूप में प्राकृतिक क़ानून की धारणा में एक आदर्श तत्त्व को दाखिल कर दिया जिसकी कसौटी पर राज्य द्वारा निर्मित क़ानूनों की परख की जा सकती है। प्राकृतिक क़ानून वह आदर्श है जिसके अधिकाधिक अनुकूल अन्य प्रकार के क़ानूनों को होना चाहिये परन्तु जो स्वयं निरपेक्ष है और जिसका औचित्य तथ्यों के अनुरूप होने पर निर्भर नहीं करता। प्राकृतिक क़ानून के इस स्वरूप में भी कुछ अनिश्चिततायें थीं जैसा कि आगे आने वाली घटनाओं ने ज़ाहिर किया।

इस प्रसंग में अन्तिम उल्लेखनीय बात है अन्तर्राष्ट्रीय समाज के सदस्य होने के नाते समस्त राष्ट्रों की औपचारिक समता की धारणा। यह क़ानूनी समता राज्य की प्रभुता का स्वाभाविक परिणाम है। सर्वप्रभुत्वपूर्ण होने के नाते प्रत्येक राज्य अपरिमित तथा निरंकुश शक्ति का स्वामी है और इसलिए किसी भी राज्य से, चाहे वह कितना ही बड़ा और शक्तिशाली क्यों न हो, हीन नहीं हो सकता। राज्यों की क़ानूनी समता का यह सिद्धान्त आगे चल कर अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून का एक मूल अंग बन गया। लीग असेम्बली की शक्तियों के सम्बन्ध में लीग ऑफ़ नेशन्स के कुछ उपबन्धों का आधार यही सिद्धान्त था और आज यह राष्ट्र संघ के चार्टर तथा राष्ट्र संघ की महासभा की विधि के मूल में है।

———

Select Bibliography

Cook : *History of Political Thought*, Chapters XIV and XVI.

Dunning : *History of Political Theories, Vol. II*, Chapters III & V.

Maxey : *Political Philosophies*, Chapter XI.

Sabine : *History of Political Theory*, Chapters XX and XXI.

अध्याय ५

टॉमस हॉब्स (Thomas Hobbes)

परिचयात्मक— जीन बोदाँ (Jean Bodin) से, जिसे सामान्यतया राज्य की सार्वभौमिकता (Sovereignty) के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाला सर्वप्रथम आधुनिक विचारक समझा जाता है, अब हम टॉमस हॉब्स पर आते हैं जिसके महान् ग्रंथ **लेवियाथान** (Leviathan) में राज्य की निरंकुश तथा अपरिमित सार्वभौमिकता के सिद्धान्त की सर्वप्रथम तथा पूर्ण रूप से अभिव्यक्ति हुई है। हमें याद होगा कि यद्यपि बोदाँ के अनुसार सार्वभौमिकता अथवा राजसत्ता राज्य की वह सर्वोच्च शक्ति है जिसके ऊपर क़ानून का कोई बन्धन या सीमा नहीं है तथापि वह इतना अवश्य मानता था कि प्राकृतिक क़ानून, सांविधानिक क़ानून, ईश्वरीय क़ानून तथा अपनी सम्पत्ति की रक्षा करने का व्यक्ति का अधिकार, ये सब राजसत्ता की सीमायें निर्धारित करते हैं। इस प्रकार उसके सिद्धान्त में हम एक अस्पष्ट किन्तु निश्चित असंगति पाते हैं। इस असंगति का प्रमुख कारण यह दिखाई पड़ता है कि उसने राजसत्ता की धारणा का पूर्ण रूप से विश्लेषण नहीं किया तथा राज्य और उसकी निर्मायक इकाइयों के पारस्परिक सम्बन्ध एवं व्यक्ति द्वारा राजाज्ञा के पालन करने के आधार का विवेचन नहीं किया। इस कमी की पूर्ति हॉब्स ने की जिसने उससे ६० वर्ष पश्चात् अपनी रचनायें कीं। हॉब्स के समय में भी गृह-कलह की लगभग वैसी ही परिस्थितियाँ वर्तमान थीं जैसी कि बोदाँ के समय में। हॉब्स ने राज्य के निरंकुशवाद का एक सांगोपांग तथा क्रमबद्ध सिद्धान्त विकसित किया और राजसत्ता को उन समस्त बाधाओं और सीमाओं से मुक्त कर दिया जो फ्रांसीसी विचारक ने उस पर लगाई थीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्र राज्य तथा उसकी सार्वभौमिकता के सिद्धान्त के, जिसका सूत्रपात मैकियावेली तथा बोदाँ ने कर दिया था, विकास में टॉमस हॉब्स की राजनीतिक विचारधारा एक अगला कदम है और एक अगली मंजिल तक हमें ले जाता है।

टॉमस हॉब्स का जीवन तथा परिस्थितियाँ— हॉब्स के राजनीतिक विचारों को अच्छी तरह से समझने के लिये उन महान् और महत्त्वपूर्ण घटनाओं का जानना नितान्त आवश्यक है जो कि उसके दीर्घ जीवन काल (९१ वर्ष १० मास) में विचार तथा राजनीति के जगत में हुई। उसका जन्म १५८८ ई० में मैल्मसबरी (Malmesbury) में हुआ और १६७९ ई० में उसका देहान्त हो गया। इस प्रकार उसने ब्रिटिश इतिहास के एक सबसे अधिक रोमांचकारी युग अर्थात् अंग्रेज़ी क्रान्ति के युग को अपनी आँखों से देखा। जब जेम्स प्रथम ब्रिटिश सिंहासन पर बैठा और उसने संसद की अवहेलना करके 'राजा के दैविक अधिकार' के सिद्धान्त के प्रश्रय द्वारा निरं-

कुश राजतंत्र को पुनर्जीवित करने का विचार किया तो हॉब्स १५ वर्ष की किशोरावस्था में था। जेम्स की कौशलहीनता ने उस स्थिति को और भी ख़राब कर दिया जो कि उसके पूर्ववर्ती ट्यूडर वंश के राज्यकाल के अन्तिम दिनों में ही बिगड़ने लगी थी। स्पेन के आर्मेडा के पराजित हो जाने से देश की सुरक्षा तथा स्वतन्त्रता के लिये जो ख़तरा था वह टल गया था और रानी एलिज़ाबेथ की मृत्यु के साथ ही साथ राजा के प्रति व्यक्तिगत भक्ति का भाव नष्ट हो गया था। संसद में असन्तोष बढ़ता जा रहा था और वह जेम्स प्रथम के निरंकुश शक्ति के दावों को मानने के लिये तय्यार न थी। उसकी मांग यह थी कि उसे राज्य की सामान्य नीति को निर्धारित करने का अधिकार होना चाहिये और करारोपण में उसकी आवाज़ का सम्मान होना चाहिये। जेम्स ने इन मांगों पर कोई ध्यान नहीं दिया और अपने व्यवहार में कोई परिवर्तन नहीं किया। उसने तो किसी न किसी तरह अपना काम चला ही लिया, किन्तु अपने पुत्र और उत्तराधिकारी चार्ल्स जो कि एक प्रतिभाहीन व्यक्ति था के लिये एक बुरी थाती छोड़ गया। चार्ल्स प्रथम अपने आपको सदा ठीक तथा अपने विरोधियों को सदा ग़लत समझता था। परस्पर आदान-प्रदान की कला वह न जानता था। उसका परिणाम यह हुआ कि अंग्रेज़ी चर्च की प्यूरिटन (Puritan) तथा रूढ़िवादी (Conservative) शाखाओं में जो दराड़ उसके पिता की बुद्धिहीनता ने खोल दी थी, वह और भी बड़ी हो गई और कैथोलिक प्रश्न और भी अधिक बिगड़ उठा। उन लड़ाइयों के कारण जिन्हें देश नहीं चाहता था, जिन पर भारी खर्च हो रहा था और जो पिता तथा पुत्र की विवेकहीन विदेश नीति के कारण देश के ऊपर थोपी गई थीं, देश की आर्थिक स्थिति दुष्कर हो उठी। देश में विक्षोभ फैल गया और राजा तथा संसद में संघर्ष तथा प्यूरिटन क्रान्ति के लिये भूमि तैयार हो गई। यह संघर्ष १६४२ ई० में आरम्भ हुआ और १६८८ तक चलता रहा जबकि विलियम ऑफ़ ऑरेंज तथा उसकी पत्नी मेरी की अधीनता में एक सांविधानिक यंत्र की स्थापना की गई। इस संघर्ष के प्रारंभिक चरण में तो दोनों पलड़े बराबर रहे; किन्तु ओलिवर क्रॉमवैल ने संसदीय दल का कुशलता तथा बुद्धिमत्तापूर्वक नेतृत्व करके संतुलन राजा के एकदम विरुद्ध कर दिया। चार्ल्स प्रथम का सिर क़लम कर दिया गया, राजतन्त्र को विनष्ट कर दिया गया और क्रॉमवैल की अधीनता में प्रोटक्टोरेट (Protectorate) की स्थापना कर दी गई। परन्तु यह गणतन्त्री शासन अधिक दिन न टिका; प्रोटक्टोरेट समाप्त हो गया और १६६० ई० में चार्ल्स द्वितीय की अधीनता में राजतंत्र की पुनः स्थापना हो गई। हॉब्स ने यह सारा आवेशजनक नाटक अपनी आँखों से देखा जिसका उसके विचार पर गहरा प्रभाव पड़ा। इसी के कारण उसने एक ओर तो इस बात पर ज़ोर दिया कि सभ्य तथा प्रगतिशील जीवन के लिए एक दृढ़ तथा शक्तिशाली सरकार का होना पहिली शर्त है और दूसरी ओर राज्याधिकार के प्रति प्रजाजन की समर्पण भावना

की आवश्यकता पर बल दिया। चार्ल्स द्वितीय तथा उसके पुत्र जेम्स द्वितीय का शासन भी उनके पूर्ववर्तियों के शासन से कुछ अच्छा न निकला; दुबारा उथल पुथल हुई और अन्त में देश ने विलियम ऑफ़ ऑरेंज की छत्रछाया में एक सांविधानिक राजतन्त्र को अपना लिया। उपरोक्त राजनीतिक घटनाओं तथा उथल पुथल से भी महत्त्वपूर्ण था वह परिवर्तन जो कि तत्कालीन वैज्ञानिक जगत में हुआ। "तरुण हॉब्स ने जब विश्वविद्यालय में प्रवेश किया तो मध्य काल का मिथ्या अरस्तुवाद कक्षा-कक्षों में अभी तक अधिकृत रूप से पढ़ाया जाता था; उसके मरने से पूर्व ही यांत्रिक विज्ञान (Mechanical Science) को केप्लर, गेलीलियो तथा डेकार्टे सुप्रतिष्ठित कर चुके थे, शरीरशास्त्र (Physiology) तथा चुम्बकत्व (Magnetism) के वैज्ञानिक अध्ययन की सुदृढ़ आधारशिला हार्वे तथा गिल्बर्ट द्वारा रक्खी जा चुकी थी, प्रकृति का प्रयोगात्मक अनुसंधान करने के लिए रॉयल सोसाइटी की स्थापना एक पीढ़ी पहिले हो चुकी थी, डेकार्टे विश्लेषणात्मक ज्यामिति की तथा लीबनिज़ और न्यूटन कैल्कुलस की सृष्टि कर चुके थे, जब कि उसके मरने के केवल आठ वर्ष पश्चात् ही न्यूटन के ग्रन्थ प्रिंस्पिया ने ब्रह्माण्ड की एक नवीन यांत्रिक धारणा का प्रतिपादन किया। ऐसे संकट के काल में से गुज़रने वाले एक दार्शनिक के लिये, जो कि मानव तथा मानव व्यापार का एक तीक्ष्ण प्रेक्षक भी था, समस्त ज्ञान को यांत्रिक भौतिकवाद के सिद्धान्त पर आधारित करने का सब से अधिक साहसपूर्ण प्रयत्न करना और आचार शास्त्र तथा समाज शास्त्र के एक विशुद्ध प्रकृतिवादी सिद्धान्त की सृष्टि करना स्वाभाविक ही था।"*

---

* "When Hobbes entered the University as a lad, the sham Aristotelianism of the Middle Ages was still officially taught in its lecture rooms; before he died, mechanical science had been placed on a secure footing by Kepler, Galileo and Descartes, the foundations of the scientific study of physiology and magnetism had been laid by Harvey and Gilbert, the Royal Society for experimental research into nature had been incorporated for more than a generation, analytical geometry had been created by Descartes, and the calculus by Leibnitz and Newton, while it was only eight years after his death that the final exposition of the new mechanical conception of the universe was given by Newton's *Principia*. It is only natural that a philosopher who was also a keen observer of men and affairs, living through such a period of crisis, should have made the most daring of all attempts to base the whole of knowledge on the principle of mechanical materialism, and should have become the creator of a purely naturalistic theory of Ethics and Sociology."

—Taylor: *Thomas Hobbes*, pages 1–2.

हॉब्स एक विकार (पादरी) का पुत्र था जिसे एक अपने प्रतिद्वन्द्वी पादरी को आघात पहुँचाने के कारण भागना तथा छिपकर रहना पड़ा। पादरी कुल में जन्म लेने के कारण ही शायद उसे धर्मग्रन्थों का इतना विशद ज्ञान हो गया था, किन्तु इसने उसके हृदय में धर्म के प्रति कोई विशेष अनुराग एवं उत्साह उत्पन्न नहीं किया। उसने सब से पहिले मैल्मस्बरी और फिर ऑक्सफोर्ड में शिक्षा प्राप्त की जहाँ से वह १९ वर्ष की अवस्था में ग्रेजुएट हो गया। विश्वविद्यालय को छोड़ने पर वह विलियम कैविन्डिश के उत्तराधिकारी का शिक्षक बन गया जो आगे चलकर डेवनशायर का द्वितीय अर्ल बना। कैविन्डिश वंश के साथ उसका यह सम्बन्ध उसके जीवन के अधिकांश भाग तक चलता रहा और उसी के कारण उसका सम्बन्ध इङ्गलैण्ड में बेकन तथा जॉन्सन और विदेश के डेकार्टे तथा गेलीलियो सरीखे प्रभावशाली व्यक्तियों से हुआ। अपने शिष्यों के साथ शिक्षा सम्बन्धी भ्रमण करने के लिए महाद्वीप यूरोप में जाने के उसे कई अवसर मिले; सर्वप्रथम कैविन्डिश शिष्य के साथ १६१० ई० में, फिर सर क्लिफ्टन के पुत्र के साथ १६२८ ई० में और फिर डैवनशायर के तृतीय अर्ल के साथ १६३७ ई० में। उसकी चिन्तन धारा को निर्धारित करने में इन भ्रमणों का महत्त्वपूर्ण भाग था; क्योंकि इन्हीं भ्रमणों में हॉब्स का सम्बन्ध नवीन विचारधारा के पथप्रदर्शकों से हुआ जिनका उद्देश्य यांत्रिक आधार (Mechanical basis) पर विज्ञान का क्रमबद्ध रूप से पुनर्निर्माण करना था। अपनी अन्तिम यात्रा में उसने यह अनुभव किया कि प्रकृति में गति सर्वव्यापक है और समस्त भौतिक जगत तथा मानसिक प्रक्रियायें सहजातीय (Homogeneous) तत्त्वों की गति मात्र हैं। इस प्रकार वह संसार को एक यांत्रिक पद्धति समझने लगा जिसमें समस्त घटनायें परमाणुओं की गतिशीलता का ही रूप हैं। अगले वर्ग में इस विषय में कुछ अधिक बताया जायेगा।

हॉब्स के जीवन की एक अन्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना भी उल्लेखनीय है जोकि उस समय घटित हुई जबकि वह १६२९ से १६३१ तक अपने शिष्य के साथ शिक्षात्मक भ्रमण में था। उसे यूक्लिड (Euclid) की कृतियों का अध्ययन करने का अवसर मिला और उसे एकदम 'ज्यामिति के साथ इश्क़ हो गया।' उसका आकर्षण उसके लिये उसके विषय के कारण उतना नहीं था, जितना कि उस सुदृढ़ प्रमाणपद्धति के कारण हुआ जोकि उसमें प्रयोग की जाती है। १७वीं शताब्दी के अन्य विचारकों की भाँति हॉब्स भी ज्यामिति से विमोहित हो गया और उसने उसकी पद्धति को न केवल प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या करने बल्कि मनोविज्ञान तथा राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में भी प्रयोग करने का इरादा किया। इस प्रकार उसने उस महान् विचार-प्रवाह में पदार्पण किया जिसे 'नवीन दर्शन' (New Philosophy) कहा जाता है और जिसके साथ डेकार्टे तथा गेलीलियो सरीखे महान व्यक्तियों के नाम सम्बद्ध हैं। उसका उद्देश्य गणितशास्त्र की पद्धति का प्रयोग करके गति के आधार पर प्रकृति की व्याख्या करना था। इसने दर्शन के

प्रति उसकी रुचि को फिर से जाग्रत कर दिया और मनोविज्ञान तथा राजनीति को सुनिश्चित भौतिक विज्ञानों में संश्लिष्ट करने का प्रयास करने के लिए प्रेरित किया।

जब इंग्लैण्ड में गृह युद्ध आरम्भ हुआ और दीर्घ संसद (Long Parliament) को प्रधानता प्राप्त हो गई तथा उसने राजकीय निरंकुशवाद के दो मुख्य समर्थकों, लॉड तथा स्टेफोर्ड, को जेल में डाल दिया तो हॉब्स चिंतित हो उठा और उसे भय हुआ कि कहीं उसका भी ऐसा ही हशर न हो जाये, क्योंकि उससे कुछ पहिले उसने भी संसद तथा राजा के बीच होने वाले संघर्ष में राजा के समर्थन में एक विनम्र पेम्फलेट लिखा था। इस लिये वह इंग्लैण्ड से भाग खड़ा हुआ और उसने फ्रांस में शरण ली जहाँ वह ११ वर्ष तक रहा। पेरिस में वह उस राजभक्त दल में सम्मिलित हो गया जिसका कि केन्द्रबिन्दु देश-निर्वासित राजा चार्ल्स द्वितीय था।

फ्रांस में देश निर्वासन के दिन व्यतीत करते हुए ही हॉब्स ने अपनी उस महान् कृति की रचना की जो 'लेवियाथान' के नाम से विख्यात है, जो १६५१ ई० में प्रकाशित हुई थी। ज्यों ही यह कृति प्रकाश में आई हॉब्स राजतंत्रवादियों का विश्वास खो बैठा। यद्यपि वह निरंकुश शासन का समर्थक था और राजा का उत्सुकतापूर्वक समर्थन करता था तथापि 'उसके सिद्धान्त स्टुअर्ट राजाओं की, जिनका कि वह समर्थन करना चाहता था, दंभोक्तियों के कम से कम उतने ही विरुद्ध थे जितना कि उन क्रांतिकारियों के जिनका वह खण्डन करना चाहता था, और दोनों के वे उससे कहीं अधिक विरुद्ध थे जितना कि वे आपस में एक दूसरे के थे।'* हॉब्स न तो राजाओं के दैविक अधिकार के सिद्धान्त का समर्थन करता था जो कि राजतंत्रवादियों की प्रधान रक्षा रेखा थी और न ही वह जनप्रिय प्रतिनिधित्व के सिद्धांत की हिमायत करता था जिसकी वकालत संसदवादी करते थे। **लेवियाथान** में पोपशाही (Papacy) के ऊपर भी एक करारा आक्रमण किया गया था जिसके कारण हॉब्स फ्रांसीसी अधिकारियों का कोपभाजन बन गया। इसलिये उसने फ्रांस से भी भाग जाना उचित समझा। वह छुप कर इंगलैण्ड पहुँचा और तुरन्त राज्यपरिषद (Council of State) के पास अपना अधीनता पत्र औपचारिक रूप से भेज दिया। **संरक्षण परिषद्** (Protectorate) ने उसे इस शर्त पर इंग्लैण्ड में रहने को अनुमति दे दी कि वह भविष्य में सार्वजनिक कार्यों में भाग नहीं लेगा। वहाँ उसने डेवनशायर के अर्ल से फिर से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लिया जिसने उसे थोड़ी सी पेन्शन भी प्रदान की। १६६० ई० में राजतन्त्र के पुनः स्थापित हो जाने पर उसका फिर से राजदरबार में स्वागत किया

* "...... his principles were at least as contrary to the pretensions of the Stuarts whom he meant to support as to those of the revolutionaries whom he meant to refute, and more contrary to both than either royalist or parliamentarian was to the other."

—Sabine: *History of Political Theory*, page 456.

गया। चार्ल्स जब कभी हॉब्स को आते हुए देखता था तो कह उठता कि 'देखो ! टुकड़ा लेने के लिये भालू आ रहा है !' ('Here comes the bear to be baited.') टुकड़ा मिल जाने पर वह जो सुन्दर नाट्य दिखा सकता था उसके बदले में राजा उसे पर्याप्त धन देता था। परन्तु यह राजकीय अनुकम्पा अधिक दिन नहीं चली। किसी मसलहत से राजा ने उसकी राजनीतिक हलचल के ऊपर एक प्रकार का प्रतिबन्ध लगा दिया और उसने अपने जीवन के अन्तिम २० वर्ष एकान्त में बैठकर भौतिक शास्त्र, इतिहास, क़ानून तथा प्राचीन साहित्य के ऊपर ग्रन्थ रचने में व्यतीत किये।

हॉब्स के जीवन तथा उसके देश काल के इस संक्षिप्त विवरण को समाप्त करने से पहिले उसके मुख्य ग्रन्थों के विषय में भी दो शब्द कह देना अनावश्यक न होगा। उसके अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं : (१) **डी सिवे** (*De Cive*) जो कि १६४२ ई० में लिखा गया और जिसका अंग्रेज़ी अनुवाद १६५१ ई० में हुआ, (२) **लेवियाथान** (*Leviathan*) जो उसके फ्रांस से वापिस आने पर इंगलैण्ड में १६५१ ई० में प्रकाशित हुआ, (३) **डी कारपोर** (*De Corpore*) जो १६५५ ई० में प्रकाशित हुआ, तथा (४) **डी होमिनि** (*He Homine*) जो १६५८ ई० में प्रकाशित हुआ। ये समस्त रचनायें उस पूर्ण दर्शन प्रणाली का अंश हैं जिसकी योजना उसने बनाई थी, किन्तु जिसको वह पूर्ण न कर सका। सम्पूर्ण प्रणाली में तीन भाग होने थे। पहिले भाग का विषय था प्रकृति; उसमें गति के नवीन विज्ञान के आधारभूत सिद्धान्त तथा उनमें से निकाले हुए भौतिक शास्त्र के सिद्धान्त थे। दूसरे का प्रतिपाद्य विषय था मनुष्य; इसमें मानव शरीर शास्त्र एवं मनोविज्ञान को उन्हीं सिद्धान्तों में से निकाले गये कुछ और परिणामों के समझने की चेष्टा की गई थी। तीसरे भाग में सबसे जटिल वस्तु, राज्य का अध्ययन था; इसमें पहिले दो भाग में निकाले गये परिणामों के आधार पर आचार शास्त्र, राजनीति शास्त्र तथा समाज शास्त्र के सिद्धान्त निर्धारित किये गये थे। संसार के इन तीनों भागों, प्रकृति पदार्थ, मनुष्य तथा राज्य की व्याख्या उसी यांत्रिक सिद्धान्त अर्थात् गति के क़ानूनों के आधार पर की जानी थी। इस प्रणाली के अन्तिम परिणाम के अनुसार सामाजिक शास्त्रों के सिद्धान्त यन्त्र शास्त्र के सिद्धान्तों की उपसंगति मात्र होते। परन्तु यह भव्य योजना पूर्ण रूप से कभी भी क्रियान्वित नहीं हुई। प्रथम भाग तो पूर्ण हो गया; किन्तु दूसरा एक खण्ड मात्र ही रहा, और तीसरा **डी सिवे** तथा **लेवियाथान** के रूप में पाया जाता है जो मूलतः स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप में रचे गये थे। हॉब्स ने इन दो ग्रन्थों को सबसे पहिले इसलिये लिखा क्योंकि राजनीतिक दर्शन में उसकी बहुत अधिक रुचि थी और उसी में उसे सबसे अधिक सफलता मिली और उसका सबसे व्यापक प्रभाव पड़ा। उसने भौतिक प्रकृति तथा मनोविज्ञान की अपेक्षा राज्य के सिद्धान्त पर अधिक ध्यान दिया। **डी सिवे, लेवियाथान** तथा एक उस पहिले ग्रंथ, **एलीमेण्ट्स ऑफ लॉ** के, जिनमें कि उसने अपने राजनीतिक

दर्शन की विवेचना की है, आकार की अपेक्षा **डी कॉरपोरे** तथा **डी होमिनि** का आकार, जिनमें कि उसने प्रकृति तथा मनुष्य की विवेचना की है, कहीं छोटा है। उपरोक्त दो ग्रंथों की अपेक्षा **लेवियाथान** कहीं अधिक उत्कृष्ट रचना है। जो पेम्फ़लेट उसने धर्मशास्त्रियों तथा विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों के साथ अपने संघर्ष में लिखे उनका उल्लेख करना यहाँ आवश्यक नहीं; हमारे दृष्टिकोण से उनमें कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं है।

हॉब्स का वैज्ञानिक भौतिकवाद— अब तक हमने हॉब्स के विषय में जो कुछ कहा है उससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि जिस चीज़ ने उसे एक महान् राजनीतिक विचारक बनाया है और पाश्चात्य राजनीतिक विचार के इतिहास तथा विकास में उसे एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है वह उसका निरंकुशवाद का समर्थन नहीं है जो कि उसके प्रभावक राजनीतिक विचार का एक ऊपरी भाग है, और न ही वह राजनीति तथा धर्म का वह पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद है जो कि उसने किया है। उसकी महानता इस बात में है कि उसने निरंकुशवाद तथा धर्म-निरपेक्षवाद के लिये एक वैज्ञानिक आधार तैयार किया है। उससे पहिले मैकियावेली राज्य को चर्च से अलग कर चुका था और बोदाँ निरंकुशवाद का एक अच्छा समर्थन पेश कर चुका था। उससे पहिले बोदाँ तथा अन्य लेखक निरंकुश राजतंत्र के समर्थन में काफी लिख चुके थे और उससे एक शताब्दी पूर्व मैकियावेली राजनीति और धर्म में पूर्ण विच्छेद कर चुका था। परन्तु उनमें से कोई भी अपने परिणामों को एक दृढ़ वैज्ञानिक आधार प्रदान नहीं कर सका। हॉब्स ने अनुभव किया कि राजाओं के दैविक अधिकार के आधार पर निरंकुश राजतंत्र को उचित ठहराना ऐसा है जैसा कि रेत पर महल बनाना। उसने उसका आधार मानव प्रकृति के सम्बन्ध में उस मानव स्वभाव सम्बन्धी धारणा पर रक्खा जिसे वह निर्विवाद समझता था। यह बात विचार की उस नवीन पद्धति के भी अनुसार थी जिसका उस समय द्रुत गति से प्रचलन हो रहा था। इसी प्रकार उसने धर्म को राज्य की अधीनता में रखने का एक वैज्ञानिक तथा तर्कसम्मत आधार प्रस्तुत किया। मैकियावेली के सदृश उसने मूलतः स्वार्थी तथा प्रतिस्पर्धापूर्ण मानव स्वभाव को पूर्णतः धर्म-निरपेक्ष राजनीतिक शक्ति का आधार बनाया; परन्तु उसने मानव अहंकार की एक वैज्ञानिक व्याख्या की जो कि मैकियावेली ने नहीं की थी। दूसरे शब्दों में हॉब्स की महानता इस बात में है कि उसने अपने राजनीतिक परिणामों का आधार उस पद्धति पर रक्खा जिसे उस युग में सच्चा और वैज्ञानिक समझा जाने लगा था। इस पद्धति का सार यह है कि समस्त दार्शनिक खोज ज्यामिति की पद्धति पर होनी चाहिये और भौतिक जगत को एक विशुद्ध यांत्रिक प्रणाली समझना चाहिये जिसमें प्रत्येक घटना की व्याख्या उसकी पूर्ववर्ती घटना अथवा घटनाओं के प्रकाश में की जा सकती है। हॉब्स का यह भी विश्वास था कि संसार में पदार्थ के अतिरिक्त और कुछ सत्य नहीं है और जो कुछ **प्रकृति** अथवा **पदार्थ** नहीं है वह विश्व का अंग नहीं है। इस प्रकार वह पूर्णरूपेण एक भौतिकवादी तथा यन्त्रवादी हो

गया। न्यूटन की प्रसिद्ध पुस्तक **प्रिंस्पिया,** जो कि हॉब्स की मृत्यु के कुछ वर्ष बाद प्रकाशित हुई, नवीन धारणा के अनुसार विश्व की शायद सर्वोत्तम व्याख्या थी।

इस नवीन पद्धति के अनुसार राज्य का अध्ययन करने में हॉब्स दो मार्ग अपना सकता था। या तो वह सम्पूर्ण अर्थात् राज्य से आरंभ करके और उसे उसके निर्मायक तत्त्वों में विच्छिन्न करके उसके स्वरूप की व्याख्या कर सकता था, या वह राज्य के निर्मायक अंगों अर्थात् व्यक्तिगत मानव प्राणियों से आरंभ करके यह दिखा सकता था कि किस प्रकार मानव स्वभाव मनुष्य के लिये राज्य की सृष्टि करना आवश्यक बना देता है और उसका क्या स्वरूप होना चाहिये। हॉब्स ने दूसरी पद्धति को अपनाया। राज्य के स्वरूप के विश्लेषण तथा परीक्षण से आरंभ करने के बजाय वह सब से पहिले मानव स्वभाव और उसके चरित्र का अध्ययन करता है जिसमें संवित्ति, भावना, विचार तथा इच्छा सम्मिलित हैं और तब इस परिणाम पर आता है कि इस प्रकार के प्राणी के साथ व्यवहार करने तथा उसके कार्यों को नियंत्रित करने के लिये राज्य को कैसा होना चाहिये। हॉब्स ने इस पद्धति को इसलिये अपनाया क्योंकि उसका विश्वास था कि उस विश्व के सदृश जिसका कि वह एक भाग है, मनुष्य भी एक यंत्र है। मनुष्य 'महान् विश्व का एक लघु आकार प्रतिबिम्ब है।' ('Microcosm, an epitome of the great Universe') निस्सन्देह वह पौधों अथवा पशुओं की अपेक्षा अधिक जटिल है; किन्तु वह है यंत्र ही, गतिमान् परमाणुओं (Particles) के सम्मिश्रण से अधिक वह कुछ नहीं है। हॉब्स का विचार था कि यदि वह उस कानून की खोज कर ले जिसके अनुसार मानव यन्त्र के परमाणुओं की गति होती है तो वह मनुष्य के परस्पर सम्बन्ध अर्थात् राज्य के स्वरूप को सरलता से समझ सकता है। इसलिये वह इस बात का आग्रह करता था कि राजनीतिक समाज का अध्ययन मानव स्वभाव के विश्लेषण से आरम्भ किया जाना चाहिये और उसने 'राजा के नागरिक अधिकारों का, और प्रजा के कर्त्तव्य तथा स्वतंत्रता का आधार प्रजाजन की सुपरिचित स्वाभाविक प्रवृत्तियों पर रखने' का प्रयत्न किया। इस प्रकार उसकी पद्धति निगमनात्मक (Deductive) है। वह राजनीति विज्ञान का भवन मनोविज्ञान की भित्ति पर निर्माण करता है। उसकी पद्धति में अधिकारपूर्ण व्यक्तियों के उद्धरण देने के लिये या इतिहास की शिक्षाओं के लिए, या धर्म-ग्रन्थों अथवा आत्मज्ञान के लिये कोई स्थान न था। यह स्वयंसिद्ध सत्य से आरंभ होती है और उसमें से परिणाम निकाले जाते हैं। अपनी पद्धति में हॉब्स एकदम आधुनिक है; भूत से उसने अपना पूर्ण विच्छेद कर लिया है।

आज २०वीं शताब्दी में बड़ी सरलता के साथ हम उस पद्धति में दोष निकाल सकते हैं जिसका प्रयोग हॉब्स ने मनुष्य तथा राज्य के अध्ययन में किया, और यह कह सकते हैं कि गत १०० वर्षों में सामाजिक विज्ञानों के विकास ने यदि कोई बात सिद्ध की है तो वह यह कि सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में भौतिक विज्ञानों की पद्धति का प्रयोग एक

सीमित पैमाने पर ही किया जा सकता है। आज जो ज्ञान और अनुभव हमें प्राप्त हुआ है उसके आधार पर हम कह सकते हैं कि प्राकृतिक विज्ञानों के नमूने पर एक मानव विज्ञान की रचना करने का प्रयत्न करना हॉब्स का एक कोरा भ्रम था। किन्तु यदि हम हॉब्स के प्रति न्याय से काम लें तो हमें यह याद रखना चाहिये कि १७वीं शताब्दी में समस्त विज्ञान पर ज्यामिति आच्छादित थी; जिस पद्धति को अपनाकर ज्यामिति को सफलता प्राप्त हुई थी उसे अपने अपने क्षेत्र में अपना लेना उस समय के डेकार्ट, गेसेन्डी, स्पिनोज़ा तथा लिबनिज़ सरीखे महान् विचारकों की महत्त्वाकांक्षा थी। यहाँ तक कि लॉक भी, जिसे सामान्यतया अनुभवप्रधान प्रणाली (Empirical School) का जनक समझा जाता है, नैतिकता को ज्यामिति की तरह एक प्रदर्शनात्मक विज्ञान बनाना चाहता था। तो फिर यदि हॉब्स ने भी वही मार्ग अपनाया तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है?

हॉब्स द्वारा अपनाई गई पद्धति चाहे गलत हो या सही, उसके कुछ परिणाम हैं जिन्हें हमें स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये। पहिली बात तो यह कि उसके यह कहने का कि संसार में जड़ पदार्थ के अतिरिक्त और कोई सत्य नहीं है अर्थ यह है कि मनुष्य और शरीर पर्यायवाची हैं और स्वतन्त्र सत्ता वाली आत्मा जैसी कोई चीज़ इस संसार में नहीं है। उसके लिये संवित्ति, भाव, संवेग तथा विचार मस्तिष्क में पदार्थ की गति के ही विभिन्न रूप हैं। इसी के आवश्यक परिणामस्वरूप उसने नैतिक मूल्यों का मानदण्ड स्वयं मनुष्य में ही खोजा और उसके अतिक्रमणात्मक स्रोत के मध्यकालीन विचार को ठुकरा दिया। यदि मानव व्यवहार का आदर्श स्वयं मनुष्य में ही वर्तमान है तो मध्यकालीन सिद्धान्त के अनुसार यथार्थ तथा आदर्श के बीच में जो खाड़ी है वह दूर हो जाती है; फिर तो स्वयं आदर्श का विकास भी मनुष्य की स्वाभाविक शक्तियों में से ही होता है। दूसरे यह एक अन्य मध्यकालीन सिद्धान्त का खण्डन करती है जिसके अनुसार राज्य का स्रोत मनुष्य का पतन है। हॉब्स के लिए समाज मनुष्य के पतन का परिणाम नहीं है; यह तो ज़बर्दस्त प्रगति है; यह मनुष्य को अराजकता तथा प्राकृतिक अवस्था की भयावह स्थिति से ऊपर उठाती है और उसके लिये एक सभ्य एवं प्रगतिशील जीवन व्यतीत करना सम्भव बनाती है। इस प्रसंग में अन्तिम उल्लेखनीय बात यह है कि बावजूद निरंकुशवाद का समर्थन करने के और बावजूद इस बात के कि उसकी धारणा की संविदा (Contract) नागरिकों के लिये स्वतन्त्रता का पत्र नहीं बल्कि दासता का बन्धन है, हॉब्स को उदारवाद (Liberalism) का दार्शनिक और बैन्थम तथा मिल का पूर्वज समझा जा सकता है क्योंकि एक ऐसे राजनीति तथा आचार शास्त्र का प्रतिपादन करके जिसका आधार मनुष्य है हॉब्स ने व्यक्तिवादी विचार-पद्धति को जन्म दिया जो मानव स्वभाव की आवश्यकताओं की सदा पूर्ति करती है और एक ऐसा आधार प्रस्तुत करती है जिससे प्रजाजन अपने शासकों को तोल सकते हैं। "यदि मनुष्यों को एक प्राग्-राजनीतिक अधिकार प्राप्त है जिसे सुरक्षित रखना राज्य

का कर्म है तो उसका परिणाम स्पष्ट है, चाहे उसे कोई कितनी ही अनिच्छा से स्वीकार क्यों न करे, और वह यह कि वह राज्य जो प्रायः उस अधिकार की पूर्ति करने में विफल रहता है उसकी अवहेलना की जा सकती है।"* हॉब्स के राजनीतिक दर्शन के इस पहलू पर लोगों का अभी हाल ही में ध्यान गया है। प्रोफ़ेसर स्ट्रॉस हॉब्स के दर्शन तथा १६वीं शताब्दी के बैन्थम सरीखे नवीनतावादियों में एक गहरा सम्बन्ध पाते हैं। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि स्वयं हॉब्स भी इस परिणाम से परिचित था।

मानव स्वभाव तथा ध्येय के विषय में हॉब्स के विचार— हॉब्स की पद्धति से अब हम मानव स्वभाव तथा ध्येय के विषय में उसके विचारों पर आते हैं जो कि उसके समस्त राजनीतिक दर्शन की आधारशिला है। इस सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि वह समाज के एक घटक के रूप में मनुष्य के चरित्र का परीक्षण करने से पूर्व उसका एक व्यक्ति के रूप में अध्ययन करता है और थोड़ी देर के लिये वह समाज के अस्तित्व को भूल जाता है। ऐसे लेपहीन मनुष्य का जो चित्र हॉब्स ने खींचा है उसकी प्रधान विशेषतायें निम्नलिखित हैं।

१. मनुष्य तत्त्वतः शरीर है, उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। जिसे हम **मन** (*Mind*) कहते हैं वह एक सूक्ष्म पदार्थ है; वह इतना सूक्ष्म है कि खुर्दबीन (Microscope) जैसे यन्त्रों की सहायता से भी हम उसे नहीं देख सकते। समस्त भौतिक तत्त्वों के सदृश ही कारण तथा कार्य के क़ानूनों के अधीन है; इच्छा की स्वतन्त्रता में विश्वास तथा यह धारणा कि वह अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिये साधन चुन सकता है भ्रम मात्र है। मनुष्य भी भावनाओं के उतने ही दास होते हैं जितने कि पशु; उन दोनों में भेद केवल यह है कि मनुष्य के पास भाषण तथा तर्क शक्ति है जो कि पशुओं के पास नहीं है। जैसा पहिले कहा जा चुका है, हॉब्स के अनुसार मनुष्य एक यन्त्र है जो कि पौदों और पशुओं के सदृश गतिमान अणुओं का सम्मिश्रण है।

२. मनुष्य क्रियाशील प्राणी है; उसे सदैव क्रियाशील रहना है और उसका कोई ऐसा अन्तिम लक्ष्य नहीं जहाँ पहुँचकर उसे करने के लिये कुछ न रहे।

उस उद्देश्य की प्राप्ति एक नवीन क्रिया का आरम्भ-बिन्दु बन जाती है; इसी प्रकार मृत्युपर्यन्त यही क्रम चलता रहता है।

३. मनुष्य जिस वस्तु की इच्छा करता है उसे वह अच्छा कहता है और जिसे वह नापसन्द करता है उसे वह बुरा कहता है। इस प्रकार अच्छा और बुरा, शुभ और

* "If men have a pre-political right or claim which it is the Commonwealth's business to secure, then the implication is however unwillingly faced, that a Commonwealth which habitually fails to fulfil this claim, may be rejected." Perez Zagorin : *Political Thought in the English Revolution*, page 170.

अशुभ निरपेक्ष संज्ञायें नहीं हैं; मानव क्रिया के उद्देश्य के प्रसंग में ही उनका अर्थ होता है। यहाँ इससे ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि हॉब्स एक नैतिक भावना (ethical subjectivity) वादी था और वह अच्छाई बुराई का निर्णय करने के लिये किसी सामान्य वस्तु-प्रधान (objective) मापदण्ड में विश्वास नहीं रखता था। परन्तु बात ऐसी नहीं है; शुभाशुभ को निर्धारित करने की एक सामान्य वस्तु-प्रधान कसौटी में वह विश्वास करता है जो विवेक के नियमों में पाई जाती है जिनके विषय में अधिक आगे चल कर बताया जायेगा।

४. हॉब्स मनुष्य की अनेक भावनाओं की एक अधिकारपूर्ण विवेचना करता है और अन्त में उन्हें दो भौतिक तथा प्रारंभिक भावनाओं, इच्छा तथा अनिच्छा, तक सीमित कर देता है। इच्छा वह भावना है जो कि किसी बाह्य वस्तु द्वारा चालित गति शरीर में चल रही प्राण प्रक्रियाओं को उत्कृष्ट बनाती है और उन्हें तीव्र करती है; अनिच्छा वह भावना है जो कि इन प्रक्रियाओं को रुद्ध कर देती है। इच्छा ऐसी वस्तु को प्राप्त करने का प्रयास है जबकि अनिच्छा उससे छुटकारा पा लेने का प्रयत्न है। किसी वस्तु के लिये इच्छा उसके लिये प्रेम उत्पन्न करती है; अनिच्छा उसके लिये घृणा उत्पन्न करती है। जिस वस्तु से मनुष्य प्रेम करता है उसकी प्राप्ति से उसे हर्ष होता है और उसके खो जाने से उसे दुःख होता है। इसी प्रकार हॉब्स वैभव, ईर्ष्या, दया, नम्रता इत्यादि भावनाओं का आधार भी इन्हीं दो मूल प्रवृत्तियों, इच्छा और अनिच्छा को मानता है। इस निस्सेयण (derivation) की आधारभूत विशेषता यह है कि इसमें समस्त भावनाओं का केन्द्र स्वयं मनुष्य का निजत्व रहता है; ये मनुष्य के अहंकार और स्वार्थपरता के ही विभिन्न रूप हैं। हॉब्स की धारणा का मनुष्य पूर्णरूप से स्वार्थी है। समस्त मानव व्यवहार को अहम् भाव के ऊपर आधारित करने के इस प्रयास ने ही हॉब्स की प्रणाली को एक निश्चित वैज्ञानिक रूप दिया है जो उसे मैकियावेली से श्रेष्ठतर बनाता है।

इस निस्सेयण पद्धति की दो महत्त्वपूर्ण विशेषतायें उल्लेखनीय हैं। पहिली बात यह कि निस्सेयण की यह पद्धति निगमनात्मक (deductive) है। हॉब्स पर्यवेक्षण (observation) के आधार पर मनुष्य की विभिन्न भावनाओं की केवल सूचि ही तय्यार नहीं करता; वह जटिल स्थितियों में उत्पन्न होने वाली विभिन्न प्रतिक्रियाओं को इस मान्यता के आधार पर दिखाने की चेष्टा करता है कि जीवन की प्रक्रियाओं को सम्बल पहुंचाने वाली वस्तु के लिये इच्छा तथा उन्हें रुद्ध करने वाली वस्तु के लिये अनिच्छा ही मानव कार्य की प्रेरक शक्तियाँ हैं। दूसरी बात हमें याद रखनी चाहिये कि हॉब्स का सिद्धान्त सुखवाद (Hedonism) से स्पष्टतः भिन्न है। वह यह नहीं कहता कि शुभ वही है जिससे हमें सुख मिले और अशुभ वह जिससे हमें पीड़ा मिले और यह कि हम केवल सुख की कामना करते हैं और दुख से बचना चाहते हैं। उसके लिये आधारभूत बात यह है कि मनुष्य सुख की खोज न करते

हुए उन वस्तुओं की कामना करते हैं जो उनकी आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करें। वह उत्प्रेरणा–सहोद्गार (Stimulus–Response) की परिभाषा में सोचता है, सुख–दुख की परिभाषा में नहीं। प्रत्येक विस्फुरण जीव (Organism) पर अनुकूल अथवा प्रतिकूल प्रभाव डालता है। यदि विस्फुरण अनुकूल है तो जीव चाहता है कि वह जारी रहे; यदि वह प्रतिकूल है तो वह उससे छुटकारा पाना चाहता है। "समस्त व्यवहार के पीछे एक नियम है और वह यह कि जीवित शरीर स्वभावतः ही अपनी प्राणशक्ति को बनाये रखना अथवा उसे सम्बल पहुँचाना चाहता है। सारांश यह कि समस्त व्यवहार के पीछे शरीर शास्त्र का एक सिद्धान्त रहता है और वह है आत्मसंरक्षण और आत्मसंरक्षण का अर्थ है व्यक्तिगत जैविक अस्तित्व का बने रहना। शुभ वह है जो इस उद्देश्य की पूर्ति करे और अशुभ वह है जिसका प्रभाव इसके विरुद्ध हो।"*

५. इससे हम एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात पर आते हैं। इसका अर्थ यह है कि प्रकृति ने जो वास्तविक लक्ष्य मनुष्य के सामने रक्खा है वह केवल क्षणिक इच्छाओं की तृप्ति करना नहीं है, बल्कि आत्मपरिरक्षण है। अपने आपको परिरक्षित रखने के लिये व्यक्ति को जीवन के लिये निरन्तर संघर्ष करते रहना चाहिये; मृत्युपर्यन्त उसे इनसे छुटकारा नहीं मिल सकता। इस प्रकार जीवन 'अधिकाधिक शक्ति प्राप्त करने की एक निरन्तर और निर्विश्राम इच्छा' बन जाता है, जिसका अवसान मृत्यु में ही होता है। इसलिये मनुष्य की मुख्य विशेषता यह है कि वह भविष्य में शुभ की प्राप्ति के साधन के रूप में शक्ति प्राप्त करना चाहता है।

६. हॉब्स कहता है कि मानव प्राणियों का परीक्षण यह सिद्ध करता है कि उनमें कोई बहुत बड़ा अन्तर या विषमता नहीं है; वे सब लगभग बराबर हैं। "शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों के दृष्टिकोण से प्रकृति ने सब मनुष्यों को इतना बराबर बनाया है कि यद्यपि एक व्यक्ति दूसरे की अपेक्षा शारीरिक रूप से अधिक बलिष्ठ और बौद्धिक रूप से अधिक तीक्ष्ण हो सकता है; किन्तु यदि सब बातों को ध्यान में रखा जाये तो मनुष्य मनुष्य में अन्तर कुछ अधिक नहीं है।"† दूसरे शब्दों में, जब हम मनुष्यों की समस्त

* "The rule behind all behaviour is that the living body is set instinctively to preserve or to heighten its vitality. In a word, the physiological principle behind all behaviour is self-preservation, and self-preservation means just the continuation of individual biological existence. Good is what conduces to this end and evil what has an opposite effect." Sabine : *op. ct.*, page 463.

† "Nature has made men so equal in the faculties of the body and mind as that though there be found one man manifestly stronger in body or quicker in mind than another, yet when all is reckoned with together the difference between man and man is not considerable."

मानसिक तथा शारीरिक शक्तियों पर विचार करते हैं तो हमें मालूम होता कि अपने लक्ष्य की प्राप्ति करने की उनकी योग्यता लगभग बराबर है। शारीरिक बल की कमी की पूर्ति बौद्धिक योग्यता कर देती है और बौद्धिक प्रखरता की कमी की पूर्ति शारीरिक बल कर देता है। सामर्थ्य की इस समता से लक्ष्यप्राप्ति की आशा की समता उत्पन्न होती है।

७. अन्त में, हॉब्स कहता है कि मनुष्य को जो बुद्धि की शक्ति प्राप्त है उसके द्वारा उसे एक तथ्य का दूसरे तथ्य पर परिणाम तथा एक तथ्य की दूसरे तथ्य के प्रति अधीनता का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। यह ज्ञान साधारणतया अनुभव द्वारा प्राप्त होता है; यह मनुष्य को अपने इच्छित पदार्थों की प्राप्ति के सब से प्रभावक साधन बतलाता है।

हॉब्स के अनुसार यह है मनुष्य का स्वभाव। यहाँ तक तो मनुष्य की प्रकृति तथा उसकी भावनाओं के अच्छे या बुरे होने का कोई प्रश्न नहीं है। मनुष्य स्वार्थी है और उसकी समस्त भावनाओं का केन्द्र उसका अहम् है। केवल इतने से ही यह नहीं कहा जा सकता कि मनुष्य बुरा, अथवा पापी है। मनुष्य की नैतिक अच्छाई, बुराई की समस्या केवल तब खड़ी होती है जबकि हम उसके दूसरे मंनुष्यों के साथ सम्बन्ध पर विचार करते हैं।

प्राकृतिक अवस्था के विषय में हॉब्स के विचार— उपरोक्त मान्यताओं से, अर्थात् (१) कि प्रत्येक मनुष्य स्वार्थी है और अपना ही सुख चाहता है तथा (२) यह कि सब मनुष्य लगभग बराबर हैं और जहाँ तक जीवन की अच्छी वस्तुयें प्राप्त करने की शक्ति और आशा का सम्बन्ध है कोई भी किसी दूसरे से निश्चित रूप से श्रेष्ठतर नहीं है, स्वाभाविक परिणाम यह निकलता है कि यदि कुछ मनुष्य एक साथ रहें और उनकी अहम्-प्रधान भावनाओं को संयत रखने तथा उनकी क्रियाओं को नियंत्रित रखने के लिए कोई राजनीतिक शक्ति न हो तो जीवन की स्थिति अत्यन्त विषादमय और दुखद हो जायेगी। क्योंकि जिस वस्तु को एक मनुष्य अपने लिये चाहता है उसे बहुत से लोग लेना चाहेंगे और वह मनुष्य उन सब को अपना घोर शत्रु समझेगा। इसके अतिरिक्त जहाँ तक जीवन की अच्छी वस्तुओं, सम्मान, धन तथा अधिकार के प्राप्त करने का सम्बन्ध है प्रत्येक व्यक्ति दूसरों से आगे बढ़ जाना चाहेगा। इसलिये समस्त मनुष्य एक निरंतर भय की अवस्था में रहेंगे और हॉब्स के शब्दों में 'प्रत्येक मनुष्य का प्रत्येक मनुष्य के साथ युद्ध होगा।' इसका हमें यह अर्थ नहीं समझ लेना चाहिये कि हॉब्स के अनुसार राज्य के अभाव में मनुष्य सचमुच ही एक दूसरे से निरंतर युद्ध में लगे रहते हैं; इसका तात्पर्य केवल इतना है कि युद्ध और हिंसात्मक मृत्यु का भय वहाँ सदा रहता है। प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य के सामने दूसरों के आक्रमण का ख़तरा सदा लगा रहता है और अपनी निजी शक्ति तथा चातुर्य के अतिरिक्त अपनी सुरक्षा का और कोई साधन उसके पास नहीं होता। हॉब्स का विचार है कि ऐसी अवस्था में कोई व्यापार नहीं हो सकता, क्योंकि किसी को भी यह निश्चित

विश्वास नहीं हो सकता कि उसके श्रम का फल उसे ही मिलेगा; और न ही कोई संस्कृति, कोई भव्य भवन, एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने वाले साधन, कला, शिक्षा तथा समुदाय ही वहाँ हो सकते हैं। उस अवस्था में जो सबसे निकृष्ट बात है वह यह कि उसमें 'निरन्तर भय और हिंसात्मक मृत्यु का ख़तरा है; और मनुष्य का जीवन एकांकी, दरिद्र, कष्टप्रद, पाशविक तथा अल्पायु होता है।'*

न ही ऐसी अवस्था में उचित अनुचित, और न्याय अन्याय का कोई भेद हो सकता है। शक्ति और धोखा मनुष्य के प्रधान गुण बन जाते हैं; और केवल यह नियम लागू रहता है कि जो जिस वस्तु को ले सके ले ले और जिसे रख सके उसे रख ले। ऐसी अवस्था में कौन रहना चाहेगा? बुद्धि तथा दूरदर्शिता की यह माँग है कि जितनी भी जल्दी हो सके प्रत्येक व्यक्ति ऐसी स्थिति से निकलने का प्रयत्न करे। जिस समस्या को हॉब्स हल करना चाहता है वह यही तो है कि मनुष्य ऐसी स्थिति से कैसे छुटकारा पायें। इस समस्या का जो निराकरण हॉब्स ने पेश किया है उसका उल्लेख करने से पूर्व हम एक उस आपत्ति का उत्तर देना आवश्यक समझते हैं जो उसकी कल्पना की प्राकृतिक अवस्था के विरुद्ध प्रायः उठाई जाती है।

आलोचकों का कहना है कि इस बात का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता कि मनुष्य कभी प्राकृतिक अवस्था में रहते थे। समाज-शास्त्रियों ने यह सिद्ध किया है कि आदिकालीन मनुष्यों के जीवन में भी किसी न किसी प्रकार का सामाजिक जीवन और नैतिक विधान था। जैसा कि हम देख चुके हैं ग्रोशियस (Grotius) इस बात का आग्रह करता था कि स्वतंत्र राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध एक सीमा तक प्राकृतिक क़ानून द्वारा विनियमित होते रहे हैं। ये आपत्तियाँ अप्रासंगिक हैं। हमारे लिये यह मानना आवश्यक नहीं है कि हॉब्स का विश्वास यह था कि किसी समय मनुष्य सचमुच ही प्राकृतिक अवस्था में रहते थे; उसकी ऐतिहासिकता का उसके तर्क से कोई सम्बन्ध नहीं है। उसकी प्राकृतिक अवस्था राज्य का एक कल्पनात्मक विकल्प है; यह वह स्थिति है जिसमें कि मनुष्य पहुँच जायेंगे यदि उनके कार्यों को विनियमित तथा नियंत्रित करने वाली कोई शक्ति न हो। यदि मनुष्य सचमुच ऐसा है जैसा कि हॉब्स उसे समझता है अर्थात् वह अहम्-प्रधान भावनाओं और वृत्तियों का एक पुतला है; यदि वह सुरक्षा की इच्छा से प्रेरित होकर अधिकाधिक शक्ति संचय करना चाहता है, तो उसके आचरण को संयत करने वाली एक दृढ़ राजनीतिक शक्ति के अभाव में जीवन का चित्र उससे कुछ अधिक भिन्न नहीं हो सकता जैसा कि हॉब्स ने उसे खींचा है। उसका खण्डन करने का एकमात्र मार्ग यह है कि मानव स्वभाव के विषय में उसकी धारणाओं को हम ठुकरा दें और अरस्तु की इस बात को मानें कि मनुष्य तत्त्वतः एक सामाजिक प्राणी है; और प्रकृति ने

* There is "continual fear, and the danger of violent death; and the life of man, solitary, poor, nasty, brutish and short".

ही उसके हृदय को साहचर्य, संवेदना, सहानुभूति तथा प्रेम और दया की भावनाओं से अनुरंजित किया है। प्राकृतिक अवस्था की ऐतिहासिकता से इन्कार कर देना ही हॉब्स की बात का कोई वास्तविक और प्रभावक उत्तर नहीं है।

भावना तथा बुद्धि— यदि मनुष्य सचमुच इतने ही स्वार्थी और समाज-विरोधी होते जितना कि हॉब्स उन्हें मानता है तो उनके लिये राज्य की स्थापना करना प्रायः असम्भव होता। ऐसा प्रतीत होता है कि हॉब्स इस कठिनाई से परिचित था। मनुष्य की रचना में भावनाओं तथा वृत्तियों के अतिरिक्त उसने एक अन्य मौलिक तत्त्व को स्थान दिया है। वह है बुद्धि। इसका अर्थ यह है कि हॉब्स के मतानुसार एक व्यक्ति तथा राज्य के घटक के रूप में मनुष्य जीवन की व्याख्या दो तत्त्वों (१) इच्छा (जिसमें अनिच्छा भी शामिल है) तथा (२) बुद्धि के आधार पर की जानी चाहिये; केवल इच्छा के आधार पर ही नहीं। मानव स्वभाव के इन दो आधारभूत तत्त्वों के पारस्परिक निश्चित सम्बन्ध को समझना आवश्यक है। बुद्धि इच्छा में कोई नई प्रेरक शक्ति नहीं जोड़ती; और न ही यह किसी मौलिक अथवा निःसृत भावना अथवा वृत्ति को नष्ट कर सकती है। इसका कार्य केवल विनियमित करने का है; यह हमारे सामने वह सर्वोत्तम मार्ग रखती है जिस पर चल कर हम सुरक्षा प्राप्त कर सकते हैं और आत्म-परिरक्षण के लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। बुद्धि हमें बतलाती है कि आत्म-परिरक्षण का उद्देश्य तभी प्राप्त किया जा सकता है जबकि शान्ति हो। बुद्धि का सबसे पहिला आदेश यह है कि मनुष्य को शान्ति की खोज करनी चाहिये और उसे स्थापित करने का प्रयास करना चाहिये। इसे हम प्रकृति का आधारभूत नियम कह सकते हैं। बुद्धि शान्ति-स्थापना पर इतना अधिक बल इसलिये देती है क्योंकि 'प्रत्येक का प्रत्येक के विरुद्ध युद्ध' की स्थिति चाहे जीवन को पूर्ण रूप से नष्ट न करती हो किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह जीवन को दीन, पाशविक, कलुषित एवं अल्पायु बनाती है। यह स्थिति अत्यन्त बुरी है और इसलिये हमें इससे बचना चाहिये। परन्तु समस्या यह है कि प्राकृतिक अवस्था की इन आपदाओं और संकटों से किस प्रकार बचा जाये।

हॉब्स का कहना यह है कि संकुचित और विवेकहीन स्वार्थ ही वैर भाव को उत्पन्न करता है; यदि इसे विवेक और ज्ञान से आलोकित किया जा सके तो मनुष्य का सामाजिक जीवन व्यतीत करना सम्भव हो सकता है। जब तक व्यक्ति अपने ही हित की चिन्ता करता है और इस बात का विचार नहीं रखता कि उसके कामों का दूसरों के हित पर क्या प्रभाव पड़ता है तो अरक्षा और परस्पर वैर का होना निश्चित है। परन्तु यदि वह इस ढंग से आचरण करे कि उसके कार्यों का कोई प्रतिकूल प्रभाव दूसरों पर न पड़े तो दूसरों से भी यह आशा की जा सकती है कि वे भी उसकी हित-साधना की स्वतन्त्रता में कोई बाधा नहीं डालेंगे। संक्षिप्त रूप से बुद्धि की मांग यह है कि यदि व्यक्ति अपना कल्याण चाहता है तो उसे दूसरों के हितों में भी हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। यह है वह

विवेकपूर्ण स्वार्थ जो समाज के अस्तित्व को सम्भव बनाता है। बुद्धि लक्ष्य में कोई परिवर्तन नहीं करती; वह फिर भी आत्म-परिरक्षण ही रहता है। वह तो केवल मनुष्य को इतनी दूरदर्शिता प्रदान करती है कि वह अपने तथा दूसरों के हितों में इस प्रकार समन्वय स्थापित कर सके जिसमें उसके अपने हित सुरक्षित रह सकते हैं। इस प्रकार बुद्धि का कार्य मनुष्य को यह विश्वास दिलाना है कि आत्मरक्षा का उद्देश्य शान्ति और सहयोग से ही सिद्ध हो सकता है, निरन्तर हिंसा और संघर्ष से नहीं। इस तरह बुद्धि हमारे सामने अराजकता की अवस्था से बचकर एक व्यवस्थित समाज में पदार्पण करने का मार्ग प्रशस्त करती है।

एक कठिनाई अभी और रह जाती है। बुद्धि केवल एक सामान्य ढंग से ही हमें यह बता सकती है कि व्यक्तिगत कल्याण की प्राप्ति शांति, परस्पर सहयोग तथा साहचर्य के वातावरण में हिंसा और संघर्ष के वातावरण की अपेक्षा अधिक सुगमता से हो सकती है। उसके कुछ निश्चित प्रत्यादेश हैं जिन्हें हॉब्स ने 'प्रकृति के क़ानून' कह कर पुकारा है, जिनका अनुसरण करके मनुष्य शान्ति तथा सहयोग के साथ रह सकते हैं; परन्तु इस में स्वयं शान्ति स्थापित करने की सामर्थ्य नहीं है। सुक़रात और अफ़लातून तो इस उक्ति में विश्वास कर सकते थे कि शुभ को जान लेना ही उसे प्राप्त कर लेना है और जो काम हमें करना चाहिये उसे जान लेने से ही हम उसे करने के लिये प्रेरित हो जाते हैं; किन्तु हॉब्स इस प्रकार का तर्क नहीं कर सकता। उसके लिये बुद्धि में कोई प्रेरक शक्ति नहीं है; वह हमें केवल दूरदर्शिता प्रदान करती है। वह एक व्यक्ति को यह तो बता सकती है कि दूसरों के साथ सहयोग और शान्ति से रहने के लिये उसे अपनी भावनाओं तथा वृत्तियों को संयत और नियन्त्रित रखना चाहिये; किन्तु उस संयम और नियन्त्रण की प्राप्ति में वह उसकी कोई सहायता नहीं कर सकती। उसका कारण यह है कि हमारी भावनायें विवेक की भाषा को नहीं समझतीं; वे केवल भय और स्वार्थ की वाणी को समझती हैं। जैसा कि प्रोफ़ेसर जेम्स कहते हैं, "यदि हम संशय और स्वार्थ जनित प्रति-स्पर्धा का अन्त करना चाहते हैं तो हमें मनुष्य की संशय तथा स्वार्थ भावना को ही गुद-गुदाना चाहिये; बुद्धि, सुविवेक, दयालुता, दानशीलता अथवा किसी अन्य तथाकथित, किन्तु अवास्तविक, मानव ध्येय को नहीं।"* हॉब्स के विचार से मनुष्य अपनी कामनाओं का इतना दास है कि वह उन्हें नियन्त्रित नहीं कर सकता। मनुष्य को बुद्धि अथवा प्रकृति के क़ानूनों के अनुसार आचरण करने को विवश करने के लिये एक सर्वशक्तिमान्,

---

* "If we wish to put an end to the strife and competition which result from diffidence and selfish desire, we must appeal to diffidence and selfish desire themselves, and not to reason, good sense, kindliness, benevolence, or any other alleged, but unreal, human motive."
—Jones : *Masters of Palitical Thought, Vol. II*, page 101.

सर्वप्रभुत्वपूर्ण और विवशकारी शक्ति की आवश्यकता है।

प्रकृति के क़ानून (Laws of Nature)— हॉब्स के अनुसार प्रकृति का क़ानून बुद्धि द्वारा खोजा हुआ वह प्रत्यादेश अथवा सामान्य नियम है जो मनुष्य को ऐसे कार्य करने का निषेध करता है जोकि जीवन के लिये घातक अथवा उसकी रक्षा में बाधक हो सकते हैं। साधारणतया यह मनुष्य को अपनी उस स्वाभाविक स्वतन्त्रता का, जो कि प्राकृतिक अवस्था में आत्मरक्षा के लिये चाहे जो कुछ करने की उसे मिली हुई है, एक अंश इसलिये त्यागने के लिये बाध्य करती है ताकि वह शेष स्वतंत्रता का अधिक निश्चित रूप से उपभोग कर सके। हॉब्स की विचार पद्धति में प्राकृतिक अधिकार तथा प्राकृतिक क़ानून में बहुत बड़ा अन्तर है। मनुष्य के समान प्राकृतिक अधिकार प्राकृतिक अवस्था को एक निरन्तर संघर्ष की स्थिति बना देते हैं, इसके विपरीत प्रकृति के क़ानून बुद्धि द्वारा निर्दिष्ट वे सामान्य सिद्धान्त हैं जिनके अनुसार आचरण करके मनुष्य प्राकृतिक अवस्था की अराजकता से बच सकते हैं और आत्म-परिरक्षण के उद्देश्य को सब से अधिक सुगमता-पूर्वक प्राप्त कर सकते हैं। हॉब्स एक राजनीतिक समाज में १९ प्राकृतिक नियमों की कल्पना करता है जिनमें तीन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। प्रथम नियम की मांग यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्ति भर शान्ति प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिये। दूसरा नियम यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को शान्ति-स्थापना तथा आत्म-परिरक्षण के लिये अपने प्राकृतिक अधिकार को परित्याग करने के लिये तैयार रहना चाहिये और दूसरों के विरुद्ध केवल उतनी स्वतन्त्रता पर ही सन्तोष करना चाहिये जितनी कि वह दूसरों को अपने विरुद्ध देने को तैयार हो। एक व्यक्ति के ऐसा करने की शर्त यह है कि दूसरे लोग भी वैसा ही करने को तैयार हों। तीसरा नियम यह है कि मनुष्यों को अपनी की हुई संविदाओं का पालन करना चाहिये।

पहिला नियम मनुष्यों को प्राकृतिक अवस्था की आपदाओं से बच निकलने को प्रेरित करता है। इसका तात्पर्य है कि प्राकृतिक अवस्था विवेकसम्मत नहीं है, बुद्धि उसे पसन्द नहीं करती। वह स्थिति स्वाभाविक नहीं है क्योंकि वह आत्मरक्षा के लक्ष्य की प्राप्ति तथा सभ्यता के विकास में बाधक है, और इसलिये उसका परित्याग करना है। इसमें यह प्रत्यादेश भी शामिल है कि यदि शान्ति स्थापित न हो सके तो मनुष्य को किसी भी साधन से आत्मरक्षा करने का अधिकार है। दूसरा नियम बाइबिल की इस उक्ति की अभिव्यक्ति है कि 'जो कुछ भी तुम दूसरों से अपने प्रति कराना चाहते हो तुम स्वयं भी दूसरों के प्रति करो।' इसलिये यदि एक व्यक्ति चाहता है कि दूसरे लोग उसकी शान्ति तथा सुरक्षा की कामना का आदर करें तो उसे भी दूसरों की इस प्रकार की कामना का आदर करना चाहिये। इसमें यह लक्षित है कि समस्त मनुष्यों को अपनी इच्छाओं को तृप्त करने के लिए अपनी शक्ति प्रयोग करने के अपने प्राकृतिक अधिकार पर एक-सी सीमायें लगाने के लिए तैयार रहना चाहिये। प्राकृतिक अधिकार का परित्याग सामान्य

और सब की ओर से होना चाहिये। तीसरे नियम की विवेचना की कोई आवश्यकता नहीं है; यह सामाजिक जीवन की सब से महत्त्वपूर्ण शर्त, परस्पर विश्वास, का प्रतिपादन करता है। परस्पर विश्वास केवल वहीं पनप सकता है जहाँ कि इस बात का निश्चित आश्वासन हो कि जो वादे किये जाते हैं वे पूरे किये जायेंगे।

इस प्रकार प्रकृति के ये नियम उन शर्तों की व्याख्या करते हैं केवल जिनके ऊपर समाज का आधार रक्खा जा सकता है। "वे एक ही साथ पूर्ण दूरदर्शिता के सिद्धांत भी हैं और सामाजिक आचार के नियम भी, और इसलिए वे व्यक्तिगत कार्य के मनोवैज्ञानिक उद्देश्यों से एक क़दम आगे बढ़कर सभ्य क़ानून तथा नैतिकता के मूल्यों तक जाना सम्भव बनाते हैं।"* इस बात से तो इन्कार नहीं किया जा सकता कि इनका बहुत बड़ा महत्त्व है; किन्तु मानव स्वभाव के स्वाभाविक गुणों, अर्थात् इच्छाओं और भावनाओं से इनका क्या सम्बन्ध है, यह बात स्पष्ट नहीं है। हॉब्स के सिद्धान्त के मार्ग में मुख्य कठिनाई इस बात से उत्पन्न होती है कि वह मानव स्वभाव के अहंकारवादी और प्रतिस्पर्धापूर्ण गुणों को आधार मान कर चलता है और पाता है कि उनके होते हुए समाज असम्भव है। इसीलिये वह बुद्धि के रूप में अन्य गुण की कल्पना करने को विवश होता है। इन दोनों गुणों, इच्छा और बुद्धि, को मिलाने से राज्य का जन्म होता है। परन्तु हॉब्स उन्हें एक जगह संश्लिष्ट नहीं कर पाया।

प्रकृति के इन नियमों के विषय में दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि † इन्हें 'Laws' हम केवल आलंकारिक भाषा में ही कह सकते हैं। Laws में सदा एक विवशकारी शक्ति होती है; वह उच्चतर शक्ति द्वारा दिया हुआ आदेश होता है जिसके पीछे बल होता है। परन्तु ये प्रत्यादेश विवेकपूर्ण परामर्शमात्र हैं जिसका मानना किसी के लिए अनिवार्य नहीं है। इन्हें हम Laws या क़ानून नहीं कह सकते; ये तो केवल वे बातें हैं जो आत्मरक्षा में सहायक हो सकती हैं, परन्तु जिनका मानना या न मानना व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर करता है। समझ में नहीं आता कि हॉब्स ने इन्हें क़ानून किस प्रकार कह दिया। यदि उसने ऐसा केवल प्राचीन परम्परा का सम्मान करने के लिये किया है तो हमें याद रखना चाहिये कि उसका परम्परागत अर्थ अब समाप्त हो गया है। मध्यकाल में और बोदाँ, ग्रोशियस तथा हूकर के समय तक प्राकृतिक क़ानून का अर्थ कुछ नैतिक सिद्धान्तों से लिया जाता था जो कि राज्य द्वारा बनाये क़ानूनों से पूर्व और उच्च हैं, और जिनका ज्ञान स्वयं ईश्वर ने मनुष्य को प्रदान

* "They are at once the principles of perfect prudence and of social morality, and therefore they make possible the step from the psychological motives of individual action to the precepts and values of civilized law and morality." —Sabine : *op. ct.*, pages 465—66.

† हॉब्स ने इन्हें 'Laws' कह कर पुकारा है।

किया है। इसीलिये सांसारिक शक्तियों द्वारा बनाये गए क़ानूनों की अपेक्षा उनकी अधिक महत्ता थी। प्रकृति के कानूनों को मानव बुद्धि के आदेश बना कर हॉब्स ने वे समस्त कठिनाइयाँ और भ्रम दूर कर दिये जो कि उनके आत्मज्ञान तथा ईश्वर से सम्बद्ध होने के कारण उत्पन्न हो गये थे। ग्रोशियस ने भी प्राकृतिक क़ानून की एक धर्मनिरपेक्ष तथा आधुनिक व्याख्या की थी। उसका यह कथन कि यदि ईश्वर न भी हो तो भी प्राकृतिक क़ानून के आदेश वैसे के वैसे ही रहेंगे इस प्रसंग में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। परन्तु वह प्राकृतिक क़ानून के मूल को ईश्वर में पाता था और उसे सच्चा क़ानून समझता था। हॉब्स अधिक नवीनतावादी है; वह इस बात को नहीं मानता कि नैतिक मूल्यों का कोई दैविक महत्त्व है। "उसके लिये प्रकृति का क़ानून विवेकमय दैविक बुद्धि की अभिव्यंजना करने वाला एक सर्वव्यापक सिद्धान्त नहीं है। यह तो केवल वह साधन है जिसे मानव बुद्धि आत्मपरिरक्षण तथा सन्तोष के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये उपयोगी समझती है।"*

राज्य की उत्पत्ति तथा उसका स्वरूप— ऊपर कहा जा चुका है कि हॉब्स द्वारा प्रतिपादित प्रकृति के दूसरे क़ानून की माँग यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्रता की केवल उतनी मात्रा पर संतोष कर लेना चाहिये जितनी कि वह दूसरों को देने को तय्यार हो। इसका स्पष्ट अर्थ है कि यदि मनुष्य एक दूसरे के साथ शांति और सहयोग के साथ रहना चाहते हैं तो उन्हें समस्त वस्तुओं के ऊपर अपने प्राकृतिक अधिकार का समर्पण करके अपनी स्वाभाविक भावनाओं और वृत्तियों पर बहुत से नियंत्रण और रुकावट स्वीकार करने चाहियें। परन्तु यद्यपि बुद्धि से हमें यह तो मालूम हो जाता है कि भावनाओं को नियंत्रित करना व विनियमित रखना आवश्यक है, तथापि स्वयं नियंत्रण या नियमन करने की सामर्थ्य उसमें नहीं है; यह इतनी दुर्बल है कि मानव की स्वार्थी वृत्तियों को यह नहीं रोक सकती। इसलिये बुद्धि के आदेशों का समस्त मनुष्यों से पालन कराने और उनके उल्लंघन का दण्ड देने के लिये किसी सबल शक्ति की आवश्यकता है। इस शक्ति में इतनी सामर्थ्य होनी चाहिये कि वह मानव भावनाओं से उस भाषा में बात कर सके जिसे वे समझती हैं और वह है भय तथा स्वहित की भाषा। समस्या यह है कि वह शक्ति कहाँ है।

हॉब्स इस शक्ति को राज्य में पाता है जो कि अनेक इच्छाओं के स्थान में एक इच्छा को जन्म देता है। यह इच्छा समस्त व्यक्तियों की इच्छाओं की प्रतिनिधि है और

* "To him the law of nature is not a pervasive principle of the universe expressing the rational constitution of a divine mind. It is only a name for the means which the calculating human intelligence finds efficacious to achieve its ends of preservation and contentment."
—Zagorin : *op. ct.*, page 177.

इसमें सबसे बुद्धि के अनुसार आचरण कराने तथा ऐसा न करने वालों को दंडित करने की सामर्थ्य है। इसका जन्म दो प्रकार से हो सकता है, या तो संस्थान द्वारा जब कि मनुष्य प्राकृतिक अवस्था की संघर्ष और कलहपूर्ण स्थिति से मुक्त होने के लिए स्वेच्छा-पूर्वक एक जगह संगठित हो जाते हैं, या एक शक्तिशाली व्यक्ति द्वारा बहुत से दुर्बल व्यक्तियों को विजय करके, जो कि उन्हें विनाश की धमकी देकर अपनी आज्ञा पालन करने को विवश करता है। राज्य का जन्म किसी भी प्रकार क्यों न हो, उसका तत्त्व और स्वरूप एक ही है। इसके स्वरूप की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति तभी होती है जब कि इसकी स्थापना सामाजिक संविदा द्वारा होती है। इसी पद्धति का विवरण नीचे दिया जाता है।

हॉब्स के अनुसार राज्य की स्थापना का केवल एक ढंग है और वह है समस्त व्यक्तियों का अपनी समस्त शक्ति को एक व्यक्ति या व्यक्तिसमूह को प्रदान कर देना। केवल इसी प्रकार संघर्ष के मूल, इच्छाओं की अनेकता, में से एकता का जन्म होता है और प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको शासक द्वारा किये हुए कार्यों का कर्त्ता समझता है। वे शब्द जिनमें हॉब्स राज्य की स्थापना का वर्णन करता है उद्धरणीय हैं। **लेवियाथान** के १८वें अध्याय में वह लिखता है: "एक राज्य की स्थापना तब होती है जब कि अनेक मनुष्य एक दूसरे से यह समझौता करते हैं कि समस्त व्यक्ति उस व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह के कार्यों को अपना कार्य समझेंगे जिसे कि उनके अधिकांश ने अपना प्रतिनिधि चुना है, चाहे उनमें से किसी ने उसके पक्ष में मत दिया हो चाहे उसके विरुद्ध। इस समझौते का लक्ष्य यह है कि मनुष्य शान्तिपूर्वक और दूसरों के विरुद्ध सुरक्षित रहें। इस तरह से जो चीज़ उत्पन्न होती है वह केवल रज़ामन्दी से कुछ बढ़कर है; यह समस्त व्यक्तियों का एक वास्तविक इकाई में एकीकरण है जिसकी सिद्धि प्रत्येक का प्रत्येक के साथ समझौते द्वारा हुई है। यह इस प्रकार हुआ है कि मानों प्रत्येक व्यक्ति ने प्रत्येक व्यक्ति से यह कहा हो कि 'मैं अपना स्वशासन का अधिकार इस व्यक्ति अथवा व्यक्तिसमूह को सौंपता हूँ वशर्ते कि तू भी इसी प्रकार से अपना अधिकार इसे सौंप दे'।"* इस प्रकार से इस

* "A commonwealth is said to be instituted when a multitude of men do agree and covenant, every one with every one, that to whatever man or assembly of men shall be given by the major part the right to represent the person of them all, that is to say, to be their representative; every one, as well he that voted for it as he that voted against it, shall authorise all the actions and judgments of that man or assembly of men in the same manner as if they were his own, to the end to live peaceably amongst themselves and be protected against other men. What is achieved in this way is something more than consent or accord; it is a real unity of them all into one and the same person, made by the covenant of every man with every man, in such

नश्वर देव (*Leviathan*) का जन्म हुआ जो हमें **अविनाशी ईश्वर** की अधीनता में शांति प्रदान करता है तथा हमें सुरक्षित रखता है।

यह है वह सुविख्यात सिद्धांत जिसके अनुसार राज्य का जन्म जनता के परस्पर समझौते द्वारा हुआ। संविदा सिद्धान्त की इससे पूर्व की व्याख्याओं से यह इस बात में भिन्न है कि इसके द्वारा राज्य का जन्म सामाजिक समझौते द्वारा हुआ, शासकीय समझौते द्वारा नहीं। इससे पहिले के लेखकों के अनुसार राज्य का जन्म जनता तथा शासक के बीच समझौते द्वारा हुआ। वे लोग समझौता सिद्धान्त का प्रयोग शासक की शक्ति को संयत करने और एक आततायी शासक को अलग कर देने के जनता के अधिकार का समर्थन करने के लिये करते थे। किन्तु हॉब्स का समझौता सामाजिक है; यह स्वयं जनता के बीच में हुआ है। शासक इसमें एक पक्ष नहीं है; संविदा की सृष्टि होने के कारण वह इससे बाहर है और इसके ऊपर है। इसके परिणाम महत्त्वपूर्ण हैं जिनका वर्णन हम यथास्थान करेंगे। यहाँ तो केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि हॉब्स इस बात का प्रयोग निरंकुश शासन का अनुमोदन करने तथा व्यक्ति को राज्याधिकार की अवहेलना करने के समस्त अधिकारों से वञ्चित करने के लिए करता है। हॉब्स के हाथों में पड़कर समझौता मानव का स्वतन्त्रता पत्र न रहकर उसकी दासता का बन्धन बन गया है।

अब हमें यह देखना है कि राज्य के जन्म के इस सिद्धान्त के महत्त्वपूर्ण परिणाम क्या हैं। प्रथम, इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्यों द्वारा, राज्य की स्थापना का एकमात्र कारण यह है कि यह उनके कल्याण एवं सुरक्षा के लिए अपरिहार्य है। राज्य मनुष्य के आन्तरिक सामाजिक स्वभाव की अभिव्यक्ति नहीं है; यह स्वाभाविक विकास का परिणाम भी नहीं, जैसा कि अरस्तु इसे समझता था, यह तो अपनी एक निश्चित आवश्यकता की पूर्ति के लिये मनुष्य द्वारा बनाया गया एक कृत्रिम साधन है। यह साध्य पर ले जाने के लिए एक साधन मात्र है; स्वयं साध्य नहीं है। इस प्रकार हॉब्स एक पक्का व्यक्तिवादी था। हॉब्स के अनुसार राज्य-उद्देश्य, व्यक्तियों के व्यक्तिगत हितों का योग मात्र है; इसके अतिरिक्त उसका कोई सामूहिक लक्ष्य नहीं। दूसरे, हॉब्स राज्य को अपरिमित सार्वभौमिकता प्रदान करता है और उसके क़ानूनों को मानना नागरिकों के लिए अनिवार्य बना देता है। १६वीं शताब्दी के उपयोगितावादियों की भाँति वह राजाज्ञा के पालन करने का औचित्य केवल इस बात में देखता है कि राज्य हमारे जीवन को सुखद और जीने योग्य बनाता है। उसकी आज्ञा का पालन करना उसकी अवज्ञा से अधिक श्रेयस्कर

manner as if every man should say to every man, 'I authorise and give up my right of governing myself to this man or assembly of men, on this condition that thou give up thy right to him, and authorise all his actions in like manner'."

ग्रौर लाभदायक है। प्राकृतिक ग्रवस्था की ग्रराजकता का केवल एक ही विकल्प है ग्रौर वह है राज्य की ग्रधीनता में रहना स्वीकार करना। इससे स्पष्ट है कि हॉब्स के सिद्धान्त में राजशक्ति के प्रति उस सम्मान ग्रौर भक्ति का कोई स्थान नहीं है जिस पर राजतंत्र के भक्त इतना बल देते थे। इसलिये हम क्लेरन्डन (Clarendon) के इस कथन को ग्रच्छी तरह समझ सकते हैं कि इस प्रकार की युक्तियों से राजशक्ति का समर्थन करने वाला हॉब्स यदि उत्पन्न ही न होता तो ग्रच्छा था। हॉब्स का भावहीन बुद्धिवाद राज्य को केवल एक उपयोगिता के स्तर पर ले ग्राता है, जो केवल इसीलिए ग्रच्छा है क्योंकि वह हमें कुछ लाभ पहुंचाता है, परन्तु है वह व्यक्तिगत सुरक्षा का एक यन्त्र मात्र ही। ग्रसीम ग्रौर निरंकुश होते हुए भी हॉब्स का राज्य हमारे प्रेम ग्रौर श्रद्धा का पात्र नहीं हो सकता। ग्रपने स्पष्ट ग्रौर सुनिश्चित व्यक्तिवाद तथा बुद्धिवाद के कारण हॉब्स का सिद्धान्त ग्रत्यन्त क्रांतिकारी हो उठा है।

तीसरी बात हमें यह ध्यान में रखनी चाहिये कि हॉब्स के ग्रनुसार राज्य का ग्राधार बुद्धि है, भय नहीं। बुद्धि का ग्रादेश ही मनुष्य को शांति की खोज करने तथा उसे कायम रखने को विवश करता है, उसका ग्रहम्-पूर्ण ग्रौर प्रतिस्पर्धापूर्ण स्वभाव नहीं। यह भी बुद्धि की ही एक मांग है कि प्रत्येक व्यक्ति को केवल उतनी ही स्वतंत्रता से सन्तुष्ट हो जाना चाहिये जितनी कि वह दूसरों को ग्रपने विरुद्ध देना चाहता है। राज्य की ग्राज्ञा के पालन का ग्राधार मनुष्य का यह विवेकपूर्ण भय है कि ग्रात्म-परिरक्षण का उद्देश्य राज्य में ही ग्रधिक सुगमता से पूरा हो सकता है। इस प्रकार राज्य का ग्रन्तिम कारण मनुष्य की यह दूरदर्शिता है कि ग्रात्म-परिरक्षण तथा एक तृप्त जीवन का एकमात्र साधन राज्य है। यद्यपि राज्य के क़ानूनों के पीछे ग्रन्तिम शक्ति उसका विवशकारी बल ही है तथापि एक बुद्धिमान व्यक्ति राज्य की ग्राज्ञा का पालन दण्ड के भय के कारण नहीं करता बल्कि इसलिये करता है क्योंकि वह महसूस करता है कि राज्य समस्त व्यक्तियों का, जिनमें वह स्वयं भी शामिल है, प्रतिनिधित्व करता है। वह संविदा जिसके ऊपर राज्य ग्राधारित है स्वयं बुद्धि की सृष्टि है। सारांश यह कि हॉब्स के ग्रनुसार राज्य का ग्रन्तिम स्रोत मनुष्य का ग्रात्म-रक्षा का ग्रधिकार है।

कहीं ऐसा न हो कि राज्य के बौद्धिक ग्राधार पर जो बल दिया गया है उससे हम भ्रम में न पड़ जायें। इसलिए हमें याद रखना चाहिये कि वे विवेकशील ग्रहमवादी जो राजाज्ञा का पालन विशुद्ध बौद्धिक ग्राधार पर करते हैं, बहुत थोड़े हैं। स्वयं हॉब्स के ग्रनुसार मनुष्य मूलतः समाज विरोधी हैं। राज्य ग्रपने ग्रातंक द्वारा उन्हें संयत रखने तथा उनके कार्यों को सर्वहित की ग्रोर निर्दिष्ट करने के लिए ग्रावश्यक है। वह कहता है कि किसी विवशकारी शक्ति की सहायता के बिना, मनुष्य की महत्त्वाकांक्षा, लोभ, क्रोध तथा दूसरी वृत्तियों को नियंत्रित करने की सामर्थ्य शब्दों में नहीं है। मनुष्य में समाज में दूसरों के साथ मिलकर रहने की इच्छा उत्पन्न करने वाला प्रभावक साधन दण्ड का

भय है, बुद्धि नहीं। क़ानून की सामर्थ्य राज्य की उसे मनवाने की शक्ति के ऊपर निर्भर करती है। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि हॉब्स के सिद्धान्त में एक असंगति है। उसका कारण वह दोषपूर्ण मनोविज्ञान है जिसे आधार बनाकर वह अपना भवन खड़ा करता है। उसके अनुसार मनुष्य में दो मौलिक तत्त्व हैं : एक स्वार्थ और अहमपूर्ण इच्छायें और दूसरा बुद्धि । इन दोनों में परस्पर क्या सम्बन्ध है ? इसका स्पष्ट और निश्चित उत्तर देने में वह विफल रहा है। एक ओर तो वह कहता है कि बुद्धि का कार्य विनियमन तथा नियंत्रण करने का है और दूसरी ओर वह यह स्वीकार करता है कि मानव स्वभाव की स्वार्थपूर्ण वृत्तियों को नियंत्रित करने की सामर्थ्य उसमें नहीं है। इस प्रकार वह राज्य की सर्वोपरि विवशकारी शक्ति की आवश्यकता पर बल देता है और सरकार तथा शक्ति में और क़ानून तथा आज्ञा में तादात्म्य स्थापित करता है।

राज्य की सर्वोच्च और अनिवार्य शक्ति की आवश्यकता का एक दूसरा कारण और भी है। यह तो स्पष्ट ही है कि वह सामाजिक संविदा जिसके द्वारा राज्य की स्थापना हुई है अखण्ड और अमर रहना चाहिये। हॉब्स के सामने समस्या यह है कि उसे ऐसा कैसे बनाये, क्योंकि यद्यपि वह बुद्धि की माँग है तथापि मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियों के वह विरुद्ध है। इस उद्देश्य की प्राप्ति का केवल एक मार्ग है और वह यह कि राजा या शासक को, जिसकी इस संविदा द्वारा सृष्टि होती है, संविदा से बाहर रक्खा जावे और उसे सर्वशक्तिमान् बना दिया जावे। स्वयं हॉब्स ने ही कहा है, "तलवार के बिना समझौते कोरे शब्द हैं।" ("Covenants without the sword are but words.")

चौथी उल्लेखनीय बात इस प्रसंग में यह है कि हॉब्स की युक्तियाँ सभी प्रकार के शासन, राजतंत्री, कुलीनतंत्री तथा गणतंत्री को उचित ठहरा सकती हैं। जहाँ मनुष्य के हित का सम्बन्ध है प्राकृतिक अवस्था की अराजकता की अपेक्षा किसी भी प्रकार वह सरकार अच्छी है जिसमें शांति तथा व्यवस्था क़ायम रखने की सामर्थ्य है। हॉब्स का राज्य को 'विनियमित तथा स्थापित शांति' कहकर पुकारना इस प्रसंग में महत्त्वपूर्ण है। उसका सिद्धान्त निरंकुश राजा का नहीं, निरंकुश राज्य का है। परन्तु शान्ति-स्थापना के लिये वह राजतंत्री व्यवस्था को अधिक श्रेष्ठ समझता था। इस प्रकार की शासन पद्धति में व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक हित का स्वाभाविक तादात्म्य राजा के व्यक्तित्व में हो जाता है; राजा का धन और वैभव प्रजा का धन और वैभव हैं। इसमें राज्य की गृह तथा विदेश नीति में भी अधिक संगति रहती है। मिश्रित सरकार की सम्भावना में उसे कोई विश्वास न था क्योंकि उसमें राज्य की सर्वोच्च शक्ति कई अंगों में विभक्त हो जाती है। राज्य की सार्वभौमिकता स्वभावतः ही अविभाज्य है। उसके अनुसार भ्रष्ट सरकार जैसी कोई चीज़ भी नहीं हो सकती। लोग कुछ सरकारों को केवल इसलिये भ्रष्ट कहते हैं क्योंकि उनमें राजसत्ता का प्रयोग करने वाले अधिकारी को वे पसन्द नहीं करते।

हॉब्स के सिद्धान्त का एक महत्त्वपूर्ण अंग यह भी है कि सर्वप्रभुत्व शक्ति के चुनाव

में बहुमत के चयन पर आपत्ति करने का अल्पमत को कोई अधिकार नहीं है। राज्य का एक अंग बन कर अल्पमत परोक्ष रूप से बहुमत की इच्छा को स्वीकार कर लेता है। यदि वह राज्य के अधिकार को स्वीकार नहीं करता तो वह उसके बाहर है और राज्य का उसे नष्ट कर देना अन्याय और अनुचित न होगा। इस युक्ति में यह बात सन्निहित है कि हॉब्स के लिये राज्य और समाज तथा राज्य और सरकार में कोई भेद नहीं है। जो चीज़ लोगों को प्राकृतिक अवस्था में से निकालकर एक राजनीतिक समाज में लाती है वह है एक सरकार का अस्तित्व जिसके सामने सभी लोग अपने प्राकृतिक अधिकार समर्पित कर देते हैं। उसमें सारी शक्ति केन्द्रीभूत हो जाती है।

अन्तिम उल्लेखनीय बात वह है जो कि हॉब्स द्वारा प्रतिपादित संविदा सिद्धान्त का एक आवश्यक परिणाम है। वह यह है कि जब तक भी संविदा क़ायम है लोग सर्वप्रभुत्वपूर्ण शासक की इच्छा का पालन करने के लिये विवश हैं। उन्होंने उसकी आज्ञापालन की प्रतिज्ञा की है और वे उससे हट नहीं सकते हैं चाहे शासक की ओर से ऐसा करने की कोई भी उत्तेजना क्यों न मिले। इसलिये उन्हें उसकी अवज्ञा करने, उसकी शक्ति का विरोध करने और उसकी इच्छा के विपरीत आचरण करने का कोई अधिकार नहीं है। राजा का कोई भी कृत्य, कुकृत्य अथवा अकृत्य उसके प्रति विद्रोह करने और उसके बदले में किसी अन्य शासक को पदारूढ़ करने का उचित आधार नहीं हो सकता। राजा संविदा में कोई पक्ष नहीं; समझौता तो स्वयं जनता के बीच में हुआ जिसके अनुसार राजा को सब कुछ दिया गया है, किन्तु उससे लिया कुछ नहीं गया। इसलिये राजा पर किसी हालत में भी अपनी प्रजा के साथ अन्याय करने का आरोप नहीं लगाया जा सकता क्योंकि अन्याय तो तभी होता है जबकि समझौते की किसी शर्त को तोड़ा जाये और राजा ने कोई समझौता अपनी प्रजा के साथ किया ही नहीं जिसे मानने के लिये वह बाध्य हो। इस प्रकार हम देखते हैं कि यह समझौता प्रजा को राजा के विरुद्ध कोई अधिकार प्रदान नहीं करता; वह तो उन्हें केवल राजा के प्रति आज्ञापालन के बन्धन में पूर्ण रूप से बाँध देता है। तभी तो यह कहा जाता है कि हॉब्स का समझौता जनता की स्वतन्त्रता का अधिपत्र नहीं बल्कि दासता का बन्धक सूत्र है।

शासक की आज्ञापालन के प्रजा के इस अपरिमित कर्त्तव्य के कुछ अपवाद भी हैं। हॉब्स स्वीकार करता है कि कुछ स्थितियों में प्रजा राजा की अवहेलना भी कर सकती है। वह प्रत्येक मनुष्य को राजा की अवज्ञा करने का अधिकार देता है यदि राजा उसे 'अपने आपको मारने, घायल करने, अथवा अपने ऊपर आक्रमण करने वालों का विरोध न करने, अथवा वायु, औषधि या किसी ऐसी वस्तु का सेवन न करने, जिसके बिना वह जीवित ही न रह सके', की आज्ञा दे। इस अपवाद का कारण स्पष्ट है। मनुष्य सर्वप्रभुत्वपूर्ण शासक की स्थापना अपनी रक्षा के लिये ही तो करते हैं तो फिर वे उसे अपने प्राण हरण करने का अधिकार कैसे दे सकते हैं? अपने जीवन-रक्षा के प्राकृतिक

अधिकार को तो वे राजा के विरुद्ध भी सुरक्षित रखते हैं। इस अपवाद में यह बात भी सन्निहित है कि यदि किसी व्यक्ति को राजा शत्रु से लड़ने और उससे अपना जीवन ख़तरे में डालने की आज्ञा दे तो वह व्यक्ति उसकी अवहेलना कर सकता है। क्योंकि आज्ञाकारिता का उद्देश्य ही आत्म-परिरक्षण है, इसलिये व्यक्ति राजा की आज्ञा का पालन करने को तभी तक बाध्य है जब तक कि राजा में उसकी रक्षा करने की सामर्थ्य है। यदि राजा में प्रजा के संरक्षण की सामर्थ्य नहीं है तो प्रजा को उसकी आज्ञा का पालन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इससे भी बढ़ कर हॉब्स व्यक्ति को यह भी अधिकार देता है कि यदि उसे यह ख़तरा हो कि उसके विरुद्ध कोई फ़ौजदारी का अभियोग लगाया जाने वाला है तो वह गिरफ्तार होने से बचने का और जेल से भी भाग निकलने का प्रयत्न कर सकता है। सारांश यह है कि हॉब्स राज्य की उस आज्ञा की अवहेलना करने को उचित ठहराता है जिससे आत्म-परिरक्षण का उद्देश्य ही ख़ाक में मिल जाता हो, जिसके लिये राज्य की स्थापना की गई है। किन्तु प्रश्न यह है कि इस बात का निर्णय कौन करेगा कि सचमुच ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें राजाज्ञा की अवहेलना उचित और अपरिहार्य है? यदि स्वयं व्यक्ति को ही इस बात के निर्णय का अधिकार है तो राज्य के सामने तो सदा अराजकता या कम से कम अराजकता की सम्भावना सीना ताने खड़ी रहेगी। हॉब्स का यह मानना कि राजाज्ञा पालन के कर्त्तव्य के कुछ अपवाद भी हैं उसके सिद्धान्त के मार्ग में गम्भीर कठिनाइयाँ और बाधायें उत्पन्न करता है।

सार्वभौमिकता (Sovereignty)— राज्य के स्वरूप के उपरोक्त वर्णन में हमें शासक की सार्वभौमिक शक्तियों का बार बार उल्लेख करना पड़ा है। उसका कारण यह है कि सार्वभौमिकता राज्य का एक आवश्यक अंग है। हॉब्स सर्वप्रभु (Sovereign) की उपाधि उस व्यक्ति या व्यक्ति-समूह को देता है जिसे कि लोग अपने अधिकार हस्तांतरित करते हैं। हॉब्स के लिये सार्वभौमिकता राजनीतिक जीवन का एक तथ्य है; जहाँ जहाँ भी नागरिक अथवा राजनीतिक समाज पाया जाता है वहाँ सार्वभौमिकता भी होनी चाहिये। उसके अभाव में प्रत्येक को मनमानी करने की स्वतन्त्रता होगी और राज्य का सारा उद्देश्य ही नष्ट हो जायेगा। उसकी राजनीतिक विचार को एक महत्त्वपूर्ण देन यह है कि उसने सार्वभौमिकता की धारणा का सांगोपांग विश्लेषण किया है और उसे उन बन्धनों एवं सीमाओं से मुक्त कर दिया है जो कि बोदाँ ने उसके ऊपर लगाई थीं। इसलिये उसका एक संक्षिप्त विवरण दे देना आवश्यक मालूम होता है।

हॉब्स की सार्वभौमिकता की धारणा की विवेचना का आरंभ हम उस परिभाषा से करेंगे जो स्वयं हॉब्स ने उसकी दी है। उसका कहना है कि सर्वप्रभु वह शक्ति है "जिसके कार्यों का एक महान् जनसमूह ने अपने आपको स्वेच्छापूर्वक एक संविदा द्वारा कर्त्ता बना लिया है; और उनकी शान्ति तथा सुरक्षा के लिये वह उन सबके साधन तथा

शक्ति अपनी बुद्धि अनुसार प्रयोग कर सकता है।"* इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि सार्वभौमिकता का सार इस बात में है कि किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह को समस्त समाज की ओर से यह निर्णय करने का अधिकार हो कि समाज की शान्ति और सुरक्षा के लिये क्या करना श्रेयस्कर है। इस प्रकार से सर्वप्रभु की इच्छा संविदा करने वाले समस्त व्यक्तियों की अलग अलग इच्छाओं का स्थान ग्रहण कर लेती है। दूसरे शब्दों में सार्वभौमिकता का अर्थ है समस्त प्रजाजन के लिये मान्य होने वाले कानूनों को बनाने की शक्ति होना। क्योंकि समस्त प्रजाजन अपनी सुरक्षा के लिये अपनी व्यक्तिगत शक्ति का परित्याग करते हैं, इसलिये उन सब की ओर से कानून बनाने की शक्ति राज्य में एकमात्र सर्वप्रभु के पास रह जाती है। सार्वभौमिकता को समस्त विधेयात्मक कानूनों का स्रोत समझने वाली यह धारणा कुछ नवीन न थी; बोदाँ ने इसका प्रतिपादन पहिले ही किया था। किन्तु हॉब्स ने उसे अधिक स्पष्ट और सुनिश्चित बना दिया और उसके ऊपर से वे सीमायें दूर कर दीं जो कि बोदाँ ने उसके ऊपर लगा दी थीं। १९वीं शताब्दी में ऑस्टिन तथा अन्य विचारकों ने इसे और विकसित किया।

सार्वभौमिकता की दूसरी आधारभूत विशेषता है उसकी निरपेक्षता (Absoluteness)। सर्वप्रभु की कानून बनाने की शक्ति के ऊपर किसी भी मानव शक्ति की कोई सीमा नहीं है। राज्य में सर्वप्रभु के न कोई समान है और न कोई उसका प्रतिद्वन्द्वी; समस्त प्रजाजन ने अपने अधिकार पूर्ण रूप से उसे समर्पित कर दिये हैं। उनके प्रति वह कुछ भी करने को बाध्य नहीं है; यदि वह उनके प्रति उदासीनता बर्ते और उनकी इच्छाओं का कोई आदर न करे तो भी उन्हें उसके विरुद्ध शिकायत करने का कोई अधिकार नहीं है। अपने प्राकृतिक अधिकारों को उसके प्रति समर्पित करके प्रजाजन ने उसे एक सुरक्षित, शान्तिमय तथा तृप्त जीवन बिताने के लिये चाहे जो कुछ करने का असीम अधिकार तथा विवेक प्रदान कर दिया। सर्वप्रभु स्वयं कानूनों का स्रोत है; वह उनका एकमात्र व्याख्याता भी है; इसलिये वह स्वयं उनके अधीन नहीं हो सकता। वह संविदा की सृष्टि है; उसके अधिकार का स्रोत वंशानुगत परम्परा नहीं है; इसलिये उसके ऊपर कोई सांविधानिक बंधन नहीं है। हॉब्स के अनुसार प्रकृति के कानून सच्चे अर्थों में कानून नहीं हैं; वे बुद्धि के आदेश हैं, उनके पीछे कोई विवशकारी शक्ति नहीं है। सर्वप्रभु की शक्ति के ऊपर भी वे कोई बन्धन नहीं लगा सकते। ईश्वर के कानून का भी उसके ऊपर कोई प्रतिबन्ध नहीं, क्योंकि वही उसका एकमात्र व्याख्याता है। व्यक्तिगत अन्तःकरण उसका विरोध नहीं कर सकता, क्योंकि कानून

* "......of whose acts a great multitude, by mutual covenant with one another, have made themselves every one the author, to the end he may use the strength and means of them all, as he shall think expedient, for their peace and common defence."

सर्वजनीय अन्तःकरण है जिसकी बात मानने का व्यक्ति ने वायदा किया है। इस प्रकार हॉब्स ने सार्वभौमिकता को उन समस्त बन्धनों और सीमाओं से विमुक्त कर दिया जो कि बोदाँ में पाई जाती थीं और एक निरपेक्ष तथा अपरिमित सार्वभौमिकता का उसने प्रतिपादन किया।

जो कुछ अब तक सार्वभौमिकता के विषय में कहा जा चुका है उससे यह एकदम स्पष्ट हो जाता है कि प्रजाजन को शासक के विरुद्ध कोई भी अधिकार प्राप्त नहीं है; वे उससे किसी भी काम के लिये जवाब तलब नहीं कर सकते, उसे दण्डित करने की धमकी नहीं दे सकते, उसे हटाकर किसी दूसरे को उसके स्थान पर आसीन नहीं कर सकते। समझौता एक बार होते ही अमर हो गया ; शासक का विरोध करना समझौते का उल्लंघन है और इसलिए ग़लत है।

इससे हम सार्वभौमिकता की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता निकाल सकते हैं। प्राकृतिक अवस्था में उचित और अनुचित, न्याय तथा अन्याय, नैतिक तथा अनैतिक का कोई भेद नहीं हो सकता और न ही वहाँ कोई सम्पत्ति के अधिकार हो सकते हैं। ये विभेद सर्वप्रथम राज्य की स्थापना होने पर ही प्रगट होते हैं। जो कुछ भी राज्य द्वारा बनाये गये कानूनों के अनुसार है उचित और न्यायपूर्ण है और जो कुछ भी उसके विरुद्ध है अनुचित, अन्यायपूर्ण तथा अनैतिक है। नीति का अस्तित्व केवल राज्य में ही हो सकता है। सर्वप्रभु ही सम्पत्ति की सृष्टि करता है। प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य के पास जो कुछ था उसके ऊपर उसका केवल आधिपत्य था; किन्तु उसका उसके ऊपर कोई अधिकार और स्वामित्व न था। सम्पत्ति के कानूनी अधिकारों का जन्म राज्य के जन्म के साथ ही हुआ। इस प्रकार शुभाशुभ, नैतिक और अनैतिक तथा न्याय और अन्याय एवं सम्पत्ति के अधिकारों का स्रोत सार्वभौमिकता है। क्योंकि सम्पत्ति का सृष्टिकर्ता सर्वप्रभु है, इसलिये वह राज्य के हित के लिए उसे जब चाहे वापिस ले सकता है। करारोपण के लिए जनता की रज़ामन्दी आवश्यक नहीं है। इस प्रकार सार्वभौमिकता के ऊपर बोदाँ द्वारा लगाये गये एक दूसरे बन्धन को भी हॉब्स ने दूर कर दिया। इस प्रसंग में यह बात स्मरणीय है कि यद्यपि शासक नैतिक और अनैतिक के विभेद का स्रोत है, वह स्वयं नैतिकता के ऊपर है, अर्थात् उससे बाध्य नहीं है। उसके किसी भी कार्य को अनैतिक अथवा अन्यायपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

चौथी बात यह कि शासक न्याय का स्रोत है और युद्ध करने तथा उसकी घोषणा करने का उसे अधिकार है। सेना का वह सर्वोच्च अधिकारी है। किस प्रकार के विचार विहित हैं और किस प्रकार के विचारों का निषेध होना चाहिये, यह निर्णय करने का भी उसे अधिकार है। शासक को न्याय का स्रोत बताकर और न्यायाधीशों को सिंहासन के नीचे के सिंह कहकर हॉब्स ने न्यायिक स्वतन्त्रता के सिद्धांत का खण्डन करने का प्रयास किया जिसके ऊपर कोक (Coke) सरीखे लेखकों ने इतना ज़ोर दिया था। इस

प्रकार हॉब्स समस्त विधायक, कार्यपालक तथा न्यायपालक शक्तियों को सर्वप्रभु में ही केन्द्रीकृत कर देता है। उसकी विचारधारा में शक्ति विभाजन तथा नियन्त्रण और संतुलन के सिद्धान्त के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। राज्य की सैनिक शक्ति के ऊपर शासक का सर्वोच्च अधिकार नितान्त आवश्यक है क्योंकि उसके अभाव में वह प्रजा के कार्यों पर समुचित नियन्त्रण नहीं रख सकता।

अन्त में सार्वभौमिकता की एक अन्य विशेषता उल्लेखनीय है जिसका उसकी निरपेक्षता से घनिष्ठ सम्बन्ध है। सार्वभौमिकता अविभाज्य तथा अदेय है। प्रभुसत्ताधारी संप्रभुता का कोई भी गुण किसी अन्य को हस्तांतरित नहीं कर सकता और न ही वह किसी अन्य को उसके प्रयोग में भागीदार बना सकता है। यदि वह ऐसा करने का प्रयत्न करता है तो संप्रभुता एकदम नष्ट हो जाती है। इसलिए एक गृहयुद्ध का उद्देश्य उसके प्रयोग के ऊपर प्रतिबन्ध लगाना अथवा उसमें भागीदार बनाने का कदापि नहीं हो सकता; उसका ध्येय तो केवल यह निर्धारित करना है कि उसके ऊपर किसका अधिकार हो, और उसका प्रयोग कौन करे।

हॉब्स द्वारा प्रतिपादित निरंकुश एवं अपरिमित संप्रभुसत्ता के सिद्धान्त की दो दिशाओं से घोर आलोचना की जाती है। कुछ लोग इसे इसलिये ठुकराते हैं क्योंकि उनके विचार से यह असत्य तथा अवास्तविक है; उनकी धारणा है कि कोई भी वास्तविक प्रभुसत्ताधारी ऐसी निरंकुश तथा अपरिमित शक्तियाँ नहीं रखता जिनका आरोप यह सिद्धान्त उसमें करता है। स्वयं हॉब्स ने ही यह स्वीकार किया है कि प्रभुसत्ताधारी अधिकतर ऐसी व्यापक शक्तियों का प्रयोग नहीं करते और न ही यह माना जाता है कि उन्हें ऐसी शक्तियों के प्रयोग करने का अधिकार है। इस आपत्ति में अधिक औचित्य दिखलाई नहीं पड़ता। हॉब्स का उद्देश्य कोई उन वास्तविक शक्तियों का यथातथ्य विवरण देना नहीं था जिनका प्रयोग उसके समय के राजा लोग वास्तव में करते थे; उसका ध्येय तो यह निर्धारित करना था कि आदर्श रूप से प्रभुसत्ताधारी के पास क्या क्या शक्तियाँ होनी चाहियें, यदि उससे हम क्षमतापूर्वक उन कार्यों को कराना चाहते हैं जिनके लिये कि राज्य की स्थापना हुई है। मनुष्य ने अपने को एक राजा अथवा सभा के अधीन रखना आवश्यक समझा और ऐसा करने का संकल्प किया। उस राजा अथवा सभा को वह शक्ति भी मिलनी चाहिये जिससे कि वह अपनी प्रजा की रक्षा कर सके। इन्हीं धारणाओं के आदर्श परिणाम प्रभुता के गुण हैं; हमें यह कदापि नहीं समझना चाहिये कि वे किसी ऐसी चीज़ का वर्णन करते हैं जो भूतकाल में कभी रही है या भविष्य में कभी एक तथ्य बनने वाली है।

वॉहन (Vaughan) सरीखे आलोचकगण इस सिद्धान्त को 'ख़तरनाक और असम्भव' समझते हैं। वह इसे ख़तरनाक इसलिये समझता है क्योंकि यह एक नग्न निरंकुशवाद की स्थापना करता है; क्योंकि यह प्रजाजन को एक दमनकारी तथा आततायी शासन के

विरुद्ध कोई संरक्षण प्रदान नहीं करता और समस्त प्रजा को दासता की बेड़ियों में जकड़ देता है। इसे असम्भव इसलिये समझा जा सकता है क्योंकि इसके अनुसार "राज्य के घटकों में एकता का एकमात्र आधार सामान्य भय, प्राकृतिक अवस्था में लौट जाने का भय, है। बल्कि यह कहना और भी अधिक उचित होगा कि राज्य के घटकों में कोई बन्धक सूत्र है ही नहीं। उनको एक जगह बाँध कर रखने वाला एकमात्र धागा वह आतंक तथा भय है जो कि उन सबको व्यक्तिगत रूप से उस आततायी की दासता में बाँधता है जो उन सबसे ऊपर है।"* यदि यह स्वीकार कर लिया जाये कि राज्य के घटकों को एक जगह रखने वाली एकमात्र शक्ति राजा की तलवार का भय है तो इसके विरुद्ध उठाई गई उपरोक्त आपत्ति उचित ही है। राज्य के घटकों का संगठन सूत्र एक आततायी के प्रति सामान्य अधीनता तथा तद्जनित भय में खोजना भारी भूल है। और इसमें कोई सन्देह नहीं कि हॉब्स ने यह भूल की है। जैसा कि पहिले ही कहा जा चुका है, हॉब्स ने जिस राजशक्ति का प्रतिपादन किया है उसकी प्रभुशक्ति तो इस प्रकार नष्ट हो जायेगी जैसे कि गर्मी के सूर्य के चमकने से बर्फ़ नष्ट हो जाती है, यदि उसका अधिकार राज्य की सेना पर न हो। हमें यह भी मानना ही पड़ेगा कि हॉब्स के सम्पूर्ण राजनीतिक दर्शन की प्रवृत्ति निरंकुशवाद की ओर है; उसने **लेवियाथान** की रचना ही इसलिये की थी क्योंकि वह अपने समकालीन इंग्लैण्ड में चल रहे विनाशकारी गृहयुद्ध के लिये निरंकुश शासन को ही एकमात्र और वास्तविक उपचार समझता था। उसके द्वारा दी हुई क़ानून की यह परिभाषा कि क़ानून प्रभुसत्ताधारी की आज्ञा है जिसे शक्ति की सहायता प्राप्त है, भी इसी धारणा की पुष्टि करती है। परन्तु उसके चिन्तन का एक दूसरा स्वरूप भी है जिससे ऐसा प्रगट होता है कि उसके द्वारा निरंकुशवाद का समर्थन एकदम अशर्त नहीं है; उसमें संविधानवाद के तन्तु निहित हैं जिनका कि वह इतने ज़ोर के साथ खण्डन करता था। निरंकुश राजसत्ता का समर्थन वह इसीलिये करता है क्योंकि वह उसे सामाजिक सुरक्षा तथा व्यक्ति के कल्याण के लिये आवश्यक समझता है। यदि शासक में इस उद्देश्य की पूर्ति की सामर्थ्य न हो तो वह जनता को उसकी अवज्ञा करने का अधिकार देता है। उपयोगितावादी आधार पर निरंकुशवाद का समर्थन करना एक ऐसे मार्ग पर चलना है जो क्रान्ति की ओर ले जाता है। इस दृष्टिकोण से हॉब्स तथा फ़िल्मर की अपेक्षा हॉब्स तथा लॉक अथवा सिडनी में कहीं अधिक विचार-साम्य

* "... the sole bond of union between the members of Leviathan is a common terror, the fear of relapsing into the state of nature. Or to speak more correctly, between one member and another there is no bond at all. The only cement provided is that which binds each of them, singly and separately, by sheer terror, to the tyrant who stands above them all."

—Vaughan : *History of Political Thought, Vol. I,* page 57.

है। याद रहे कि इसी प्रकार के औचित्य से राजशाही के समर्थक खिन्न हो उठे थे। इस प्रसंग में दूसरी बात हमें यह याद रखनी चाहिये कि अन्तिम रूप से प्रभुसत्ताधारी अपनी समस्त शक्ति तथा अधिकार जनता से ही प्राप्त करता है; जनता ही उसे अपने प्राकृतिक अधिकार हस्तांतरित करती है। इस प्रकार हॉब्स शासन शक्ति को जन-इच्छा पर आधारित करता है; संविदा की कल्पना तथा निगम (Corporation) की धारणा के द्वारा हॉब्स स्वशासन का विचार ही अभिव्यक्त करने का प्रयास कर रहा है, यद्यपि उसकी अभिव्यक्ति बड़ी निराली है। यहाँ पर हमारा उद्देश्य हॉब्स के निरंकुशवाद का या निरंकुशवाद के पक्ष में दी हुई उसकी उक्तियों का समर्थन करना नहीं है; हम तो पाठक का ध्यान उसके राजनीतिक दर्शन के उस पहलू की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं जिसका आगे चल कर १९वीं शताब्दी के उपयोगितावादियों (Utilitarians) ने विकास किया। उसके दर्शन का यह उदारवादी स्वरूप उसकी नागरिक क़ानून (Civil Law) सम्बन्धी धारणा में भी निहित है जिसके सम्बन्ध में यहाँ पर दो शब्द कह देना अनावश्यक न होगा।

नागरिक क़ानून के सम्बन्ध में हॉब्स के विचार— यह तो स्पष्ट ही है कि समस्त प्रजाजन के लिये मान्य क़ानून बनाने की शक्ति प्रभुसत्ता का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गुण है। इन्हीं क़ानूनों अथवा नियमों द्वारा "प्रत्येक व्यक्ति यह जान सकता है कि क्या उसका कहा जा सकता है और क्या किसी दूसरे का, क्या न्यायपूर्ण है और क्या अन्यायपूर्ण, क्या ईमानदारी है और क्या बेईमानी, क्या शुभ है और क्या अशुभ है।" दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि ये क़ानून न केवल मानव व्यवहार का विनियमन करते हैं बल्कि ये उस मापदण्ड का भी निर्माण करते हैं जिनके द्वारा मानव व्यवहार की अच्छाई, बुराई, औचित्य तथा अनौचित्य निर्धारित होते हैं। वे समस्त प्रजाजन को बाधित करते हैं; उनके अशर्त पालन पर हॉब्स बहुत ज़ोर देता है। अब, हॉब्स के सिद्धान्त का यह एक आधारभूत पहलू है कि क़ानूनों की मान्यता उनके तत्त्व के कारण नहीं है बल्कि इस बात के कारण है क्योंकि वे प्रभुसत्ताधारी के आदेश हैं और उसके द्वारा लागू किये जाते हैं। प्रजा के लिये उनका मानना इसलिये आवश्यक नहीं है कि वे नैतिक रूप से उचित और वांछनीय हैं बल्कि इसलिये कि प्रभुसत्ताधारी की इच्छा की अभिव्यंजना हैं। यह क़ानून और नैतिकता को एक दूसरे से पूर्ण रूप से पृथक करता है।

हॉब्स के मार्ग में इससे एक घोर कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। वह व्यक्ति को इस बात के ऊपर वाद-विवाद तथा विचार-विमर्श करने का अधिकार नहीं देता कि आया कि प्रभुसत्ताधारी द्वारा बनाये हुए क़ानून उस विवेक के अनुसार हैं या नहीं जिस ने कि मनुष्य को नागरिक समाज की स्थापना करने और प्राकृतिक अवस्था की अराजकता से बचने के लिये उत्प्रेरित किया था। हमारी समझ में यह बात नहीं आती कि आखिर

वह सिद्धान्त जो कि प्राकृतिक अवस्था में वर्तमान था राज्य की स्थापना के उपरान्त भी क्यों न चलता रहा जिससे कि मनुष्य को यह तो पता चल सकता कि जिस उद्देश्य को लेकर उसने राज्य की स्थापना की थी वह पूरा भी हो रहा है या नहीं। शायद हॉब्स की यह धारणा थी कि प्रभुसत्ताधारी के विवेक की अभिव्यंजना ही सद्विवेक का साकार रूप है। इसलिये उसने इस बात की सम्भावना से ही इन्कार कर दिया कि राजा के विवेक से पृथक और भिन्न कोई सद्विवेक हो सकता है। परन्तु यह हॉब्स की एक कल्पना मात्र है; इसके पक्ष में कोई युक्ति उसने नहीं दी। इस धारणा को स्वीकार कर लेना कठिन है। इसके अतिरिक्त हॉब्स स्वयं यह स्वीकार करता है कि यदि राज्य का कोई आदेश उस उद्देश्य के विपरीत हो जिसके लिये राज्य की स्थापना हुई है तो प्रजा उसे मानने के लिये बाध्य नहीं है। इसका तो स्पष्ट अर्थ यह है कि ऐसी भी स्थिति हो सकती है जबकि शासक का विवेक सद्विवेक न हो, केवल दुराग्रह हो। इस प्रकार हॉब्स परोक्ष रूप से यह स्वीकार करने के लिये विवश हो गया है कि क़ानून की अच्छाई, बुराई, न्याय, अन्याय, तथा औचित्य, अनौचित्य का निर्णय करने का अधिकार स्वयं व्यक्ति को है। उसकी विचार पद्धति में यह एक गम्भीर दोष है।

क़ानूनों के औचित्य तथा अनौचित्य के निर्णय के अधिकार से जनता को वंचित कर देने से हॉब्स का राजनीतिक दर्शन विकृत हो उठा है। इसी कारण हम उसे स्वीकार नहीं करते, इसी कारण हमें वह जघन्य दिखलाई पड़ता है। किसी भी तर्क से हॉब्स हमें यह बात मानने के लिए तैयार नहीं कर सकता कि मनुष्य का वह सद्विवेक जोकि प्राकृतिक अवस्था में वर्तता था, राज्य की स्थापना होते ही एक दम लुप्त हो गया। राज्य में तो सद्विवेक और भी अधिक प्रभावक होजाना चाहिए क्योंकि प्राकृतिक अवस्था में उसके ऊपर अपरिष्कृत भावनाओं का प्रभाव अधिक रहता है। इस कठिनाई से बचने के लिये हॉब्स यह कल्पना करता है कि सद्विवेक की अभिव्यंजना तथा उसका साकार रूप शासक की इच्छा है, इसलिये शासक जो कुछ विवेकसम्मत समझे उसे ही प्रजा को भी विवेकसम्मत समझ लेना चाहिये। यह निराकरण भी कठिनाइयों से खाली नहीं है। इसके दो अर्थ हो सकते हैं: या तो इसका अर्थ यह हो सकता है कि प्रज्ञा केवल अभिसमयात्मक है; वही चीज विवेकसम्मत है जिसे कि राजा ऐसा होना घोषित कर दे; शासक की इच्छा से अलग उसका कोई अस्तित्व नहीं है। परन्तु यह अर्थ स्वीकार नहीं किया जा सकता। वह प्रज्ञा जोकि यह आदेश देती है कि मनुष्य शांति की खोज करेंगे और उसे क़ायम रखेंगे और जिससे कि राज्य तथा राजसत्ता की आवश्यकता का निगमन किया गया है, केवल अभिसमयात्मक नहीं हो सकती। दूसरा अर्थ इसका यह हो सकता है कि शासक द्वारा बनाये हुए कानून उसकी इच्छा को नहीं बल्कि उसके विवेक को अभिव्यक्त करते हैं जोकि सद्विवेक के बिल्कुल अनुरूप है। यदि ऐसा है तो राज्य के क़ानून तथा प्रकृति के क़ानून एक दूसरे के अनुरूप

हो जाते हैं। इसका स्वाभाविक परिणाम यह मानना होगा कि राज्य के क़ानूनों की बाधक शक्ति उनके तत्त्व के कारण है, इस कारण नहीं कि शासक ने उन्हें बनाया है। इसका अर्थ यह हुआ कि शासक को क़ानून बनाने की पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं है; क़ानून बनाते समय उसे यह ध्यान रखना चाहिये कि सद्विवेक के सिद्धान्तों से उसका संघर्ष न हो।

हॉब्स इस बात को जानता था कि सैद्धान्तिक रूप से शासक की क़ानून बनाने की शक्तियाँ कितनी ही असीम और अबाधित क्यों न हों, व्यवहार में वे एक निश्चित सीमा का उल्लंघन नहीं कर सकतीं। यह इस बात से प्रगट है कि हॉब्स ने शासक को यह उपदेश दिया है कि उसे अत्यधिक कानून नहीं बनाने चाहियें। वह जानता था कि अत्यधिक कानूनों का होना उनका लागू करना कठिन बना देता है और उससे जनता के हृदय में क़ानून के प्रति सम्मान घट जाता है। उसने यह सिद्ध करने का चाहे कितना ही अधिक प्रयत्न क्यों न किया हो कि जनता को प्रत्येक क़ानून को बुद्धिसंगत तथा शुभ समझना चाहिये, अर्थात् राजकीय क़ानून और प्राकृतिक क़ानून को तद्रूप समझना चाहिये, तथापि उसे सन्देह था कि उनमें इस प्रकार की तद्रूपता सचमुच है भी या नहीं। यह बात उसके यह स्वीकार करने से प्रगट है कि शासक के आदेश तथा प्राकृतिक क़ानून में संघर्ष होने की सम्भवना हो सकती है और कुछ स्थितियों में व्यक्ति राजाज्ञा की अवहेलना कर सकता है। हॉब्स यह भी घोषित करता है कि शासक के ऊपर 'प्राकृतिक कानून के अतिरिक्त और कोई सीमा नहीं है', और 'निरपराध प्रजाजन को दंडित करना प्राकृतिक कानून के विरुद्ध है।' और राजसत्ताधारी भी न्याय के प्रति उतना ही अधीन है जितना कि उसका कोई हीनतम प्रजाजन, और वह प्राकृतिक कानूनों का अतिक्रमण केवल निर्दयता, अन्याय तथा अन्य पापों द्वारा ही कर सकता है। ये बातें स्पष्ट रूप से उसकी प्रणाली में संविधानवाद के तन्तुओं को प्रगट करती हैं; निरंकुशवाद का उसका समर्थन उतना अशर्त तथा निरपेक्ष नहीं है जितना कि साधारणतया समझा जाता है। सारांश यह कि उपयोगिता के आधार पर निरंकुशवाद का समर्थन करके वह उदारवाद (Liberalism) के लिए एक आधार प्रस्तुत करता है। यदि हम आत्मपरिरक्षण के प्राकृतिक अधिकार में एक सन्तुष्ट तथा सुखी जीवन व्यतीत करने के अधिकार को सम्मिलित करते हैं तो हम निश्चित रूप से इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि यदि कोई राज्य प्रजा के इस अधिकार की पूर्ति करने में असमर्थ हो तो प्रजा का उसको निरस्त कर देना न केवल विवेकसम्मत होगा बल्कि नैतिक रूप से भी उचित होगा।

परन्तु निरंकुशवाद के ज़ोरदार समर्थन ने, जो कि उसका प्रकट उद्देश्य था, उदारवाद के आधार को दृष्टि से ओझल कर दिया है। राजसत्ता की निरंकुशता, निरपेक्षता तथा अपरिमितता के ऊपर उसने इतना अधिक बल इसलिये दिया है क्योंकि उसे इस बात का अत्यधिक भय था कि राज्य का नियन्त्रण तनिक ढीला हो जाने से कहीं

मानव जाति फिर से प्राकृतिक अवस्था के गड्ढे में न जा गिरे। राज्य की बलवान् भुजा ही व्यक्तिगत इच्छाओं के परस्पर संघर्ष द्वारा समाज को नष्ट भ्रष्ट हो जाने से रोकती है।

सत्य तो यह है कि हॉब्स की विचारधारा में एक गहरा वैषम्य प्रवाहित है। इस संघर्ष का मूल वह कृत्रिम पृथक्करण है जो कि उसने मानव स्वभाव की अहंकारपूर्ण भावनाओं तथा उसमें वर्त्तमान बौद्धिक सिद्धान्त, जो कि उसका आरंभ बिन्दु है, के बीच में किया है। पहिले के ऊपर अत्यधिक बल देने तथा अपेक्षाकृत दूसरे की अवहेलना करने के कारण वह इस परिणाम पर जा पहुँचा कि मानव जाति को प्रकृति की अराजकता से बचाने वाली एकमात्र चीज़ राज्य की सर्वोच्च तथा विवशकारी शक्ति के प्रति अधीनता है। उस समय इंग्लैण्ड में चल रहे गृहयुद्ध के स्वाभाविक परिणाम स्वरूप हॉब्स राजा के निरंकुश शासन का समर्थन करने तथा उसका औचित्य सिद्ध करने को प्रेरित हो गया। परन्तु मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों में विश्वास उसके राजनीतिक दर्शन का उतना ही अभिन्न अंग है जितना कि मनुष्य के अहंवादी तथा प्रतिस्पर्धाशील स्वभाव में विश्वास। उसके ऊपर ज़ोर देना उसे उदारवाद की ओर ले जाता है। मानव स्वभाव के इन दो तत्त्वों में हॉब्स कोई समन्वय नहीं कर सका; इसीलिये उसके राजनीतिक दर्शन में एक ऐसी असंगति आ गई है जिसे दूर नहीं किया जा सकता। निरंकुशवाद के समर्थन के साथ ही साथ उसकी विचारधारा में संविधानवाद के तन्तु भी वर्तमान हैं जिसका वह इतने ज़ोरदार ढंग से खण्डन करना चाहता था।

राज्य तथा चर्च— हॉब्स के राजसत्ता तथा क़ानून के सिद्धान्त का उपरोक्त विवरण राज्य तथा चर्च के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में उसके विचारों का उल्लेख किये बिना अपूर्ण रहेगा। यह तो ज़ाहिर ही है कि हॉब्स के राज्य में किसी भी प्रकार स्वाधीन और स्वतन्त्र चर्च के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। एक स्वाधीन चर्च राजा का प्रतिद्वन्द्वी होगा, इसलिये उसे क़ायम रहने की आज्ञा नहीं दी जा सकती। हम पहिले ही कह चुके हैं कि राजा को किसी भी ऐसे विचार के प्रचार को रोकने का अधिकार है जिसे कि वह ख़तरनाक समझता हो। हॉब्स उस संकट से अच्छी तरह परिचित था जो कि विभिन्न धर्म सम्प्रदायों की अपने मतों का प्रचार करने की अपरिमित स्वतन्त्रता से राज्य की सुरक्षा तथा कल्याण को उत्पन्न हो सकता है। उसका विश्वास था कि अराजकता तथा अव्यवस्था का सबसे बड़ा कारण विभिन्न चर्चों के पादरियों का यह दावा है कि उन्हें यह निर्धारित करने का अन्तर्निहित अधिकार प्राप्त है कि किस प्रकार के धार्मिक सिद्धान्तों की शिक्षा दी जाये और किस प्रकार का अनुशासन चर्च अपनाये और इस के साथ ही साथ उन्हें उन शासकों के विरुद्ध विद्रोह करने तथा उन्हें पदच्युत करने का भी अधिकार है जो कि उनके इन दावों को स्वीकार न करें और उनकी शक्ति के सामने न झुकें। उसकी इस धारणा के औचित्य के उदाहरण उसकी आँखों के सामने

थे। कैथोलिक (Catholics) तथा प्रोटेस्टेण्ट (Protestants) सम्प्रदायों के निरंतर और रक्तिम संघर्ष ने फ्रांस को नष्ट कर दिया था और उसके अपने देश की शान्ति भंग कर दी थी। इसलिये चर्च को पूर्ण रूप से राज्य के अधीन रखना और इस प्रकार मार्सीलियो द्वारा आरम्भ की हुई प्रक्रिया को पूर्ण करना उसके लिए स्वाभाविक ही था। राज्य के प्रति चर्च की अधीनता को वह बुद्धि तथा धर्मग्रन्थ, दोनों के आधार पर उचित ठहराना चाहता था। वह एकदम **रोमन कैथोलिक चर्च**, जिसको कि वह 'अन्धकार का राज्य' (Kingdom of Darkness) कह कर पुकारता है, **स्काटिश प्रेसबिटेरियनिज्म** (Scottish Presbyterianism) तथा साधारण **आंग्लिकन हाई चर्च** का विरोध करता है। किन युक्तियों से वह अपने इस परिणाम पर पहुँचा है, उनका वर्णन यहाँ करना न आवश्यक है और न सम्भव; एक सामान्य ढंग से उसकी स्थिति को स्पष्ट कर देना काफी होगा।

उसकी सम्पूर्ण स्थिति का सार उसका यह कथन है कि धर्म कानून है, दर्शन नहीं। उसके कहने का तात्पर्य यह है कि धर्म का सार कुछ ऐसे सिद्धान्तों में विश्वास करना जिन्हें कि वैज्ञानिक रूप से सत्य समझा जाता हो और कुछ ऐसे सिद्धान्तों को अस्वीकार करना जिन्हें कि इसी प्रकार असत्य समझा जाता हो, अथवा किसी आंतरिक आध्यात्मिक जीवन में नहीं है; बल्कि शासक द्वारा स्वीकृत तथा अधिकृत सिद्धान्तों के मानने तथा उनका पालन करने में है। क्योंकि धार्मिक सत्य का कोई वास्तविक माप-दण्ड नहीं हो सकता; इसलिये एक सच्चे धार्मिक विश्वास तथा उपासना के रूप की स्थापना करना शासक का एक कार्य होना चाहिये। इस प्रकार एक व्यक्ति का धर्मपालन केवल इस बात में है कि वह राज्य की प्रभुता के सामने अपने आपको समर्पित करदे। इस दृष्टिकोण से चर्च एक संस्था है जिसका प्रधान प्रभुसत्ताधारी है। सैबाइन के शब्दों में, "यह मनुष्यों का एक समूह है जो कि प्रभुसत्ताधारी के व्यक्तित्व में संगठित है और इस लिये इसे स्वयं राज्य से अलग नहीं किया जा सकता। लौकिक एवं आध्यात्मिक शासन एकाकार है।"* चर्च का एकमात्र उचित कार्य शिक्षा प्रदान करना है, ऐसी शिक्षा प्रदान करना जो कि प्रभुसत्ताधारी द्वारा अधिकृत हो। इस प्रकार हॉब्स चर्च को पूर्णतया राज्य के अधीन बना देता है।

हॉब्स की धर्मसम्बन्धी इस धारणा के विरुद्ध एक गम्भीर आपत्ति उठाई जा सकती है। हॉब्स के कथन का अर्थ तो यह है कि यदि शासक धर्महीन है तो उसकी प्रजा भी ईश्वर के प्रति अवज्ञाकारी हो उठती है। यदि शासक मिथ्या धर्म का पालन करने का आदेश दे तो प्रजा को उसकी आज्ञा का पालन करना चाहिये या ईश्वर की? हॉब्स के

* "It is a company of men united in the person of the sovereign and therefore quite indistinguishable from the commonwealth itself. Temporal and spiritual governments are identical."

सिद्धान्त के अनुसार वे शहीद, जिन्होंने अपने धर्म की रक्षा के लिये अपने प्राणों की बलि दे दी, अपराधी ठहरेंगे ! इस आपत्ति का उत्तर हॉब्स कुछ कुछ इस प्रकार देता है। वह कहता है कि सच्चे तथा मिथ्या धर्म में विभेद हम केवल केनोनिकल (Canonical) धर्मग्रन्थ के आधार पर कर सकते हैं और कौनसा ग्रन्थ केनोनिकल है, इस बात का निर्णय शासक ही करता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक चीज़ इस बात के ऊपर निर्भर करती है कि धर्मग्रन्थ की व्याख्या किस प्रकार की जाती है। धर्म-ग्रन्थ की व्याख्या करने का एकमात्र उचित अधिकार शासक को है। इसलिये राज्य की शक्ति के विरोध में अपने बचाव के लिये धर्म-ग्रन्थों की अपनी व्याख्यायें पेश करना निरर्थक तथा ग़लत है। इसका अर्थ यह है कि हॉब्स के अनुसार राजकीय कानून तथा ईश्वरीय कानून में कोई विरोध अथवा संघर्ष नहीं हो सकता। ईश्वरीय कानून वही है जो कि प्रभुसत्ताधारी उसकी व्याख्या करे। इसलिये शासक की शक्ति के ऊपर ईश्वरीय कानून की कोई रोक और नियन्त्रण नहीं हो सकता जैसा बोदाँ तथा ग्रोशियस समझते थे। राजसत्ता के ऊपर से हॉब्स ने इस सीमा को भी दूर कर दिया। रोमन चर्च तथा पोपशाही, जिसे वह 'रोमन साम्राज्य का प्रेत स्वयं उसकी क़ब्र पर मुकुट धारण करके बैठा हुआ' कहकर पुकारता था, के ऊपर हॉब्स के आक्रमण की और अधिक तफ़सील में जाना आवश्यक नहीं है।

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता— हॉब्स के राजनीतिक सिद्धान्तों के उपरोक्त विवरण को समाप्त करने से पूर्व हम दो शब्द उस स्वतन्त्रता के स्वरूप एवं मात्रा के सम्बन्ध में कहना चाहते हैं जो कि राज्य के घटकों को वह देता है।

राजसत्ता के निरंकुश तथा अपरिमित स्वरूप पर हॉब्स ने जो ज़ोर दिया है उससे ऐसा ज़ाहिर होता है कि हॉब्स के राज्य में नागरिकों अथवा प्रजाजनों को कोई स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती। राजतन्त्र के विरोधियों ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का जो दावा किया है हॉब्स ने उसे तर्क की कसौटी पर कसने की चेष्टा की है। जैसा कि हम ऊपर बार बार कह चुके हैं, हॉब्स का सामाजिक समझौता स्वतन्त्रता का परवाना नहीं बल्कि दासता का पट्टा है। सर्वप्रभु शासक के सामने व्यक्ति ने अपने समस्त प्राकृतिक अधिकार समर्पित कर दिये हैं; उसे शासक के विरुद्ध कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। जो भी थोड़ी बहुत स्वतन्त्रता हॉब्स ने नागरिकों को प्रदान की है उसे हम दो शीर्षकों के अंतर्गत रख सकते हैं। प्रथम तो उन्हें वह सब कुछ करने की स्वतन्त्रता है जिसे करने का राज्य उन्हें निषेध नहीं करता। दूसरे, उनके पास वह काम करने का अधिकार रहता है जो कि किसी भी संविदा के अन्तर्गत समर्पित नहीं किया जा सकता। पहिले प्रकार की स्वतन्त्रता का कोई विशेष महत्त्व नहीं है; प्रभुसत्ताधारी की शक्तियों एवं अधिकार के ऊपर इससे कोई सीमा नहीं लगती। दूसरी श्रेणी में हॉब्स प्रजा को राज्य की अवज्ञा करने की अनुमति उस स्थिति में देता है जबकि राज्य उससे कोई ऐसा कार्य करने को कहे जिससे कि उसका

जीवन अथवा शरीर खतरे में पड़ता हो। इसका उल्लेख हम पहिले भी कर चुके हैं। यहाँ पर विशेष रूप से ध्यान में रखने की बात तो यह है कि हॉब्स व्यक्ति को निजी सम्पत्ति, अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, विश्वास की स्वतन्त्रता का अधिकार तथा अन्य अधिकार करीब करीब बिल्कुल ही नहीं देता जिन पर कि जनतन्त्रवादी इतना ज़ोर देते हैं।

परन्तु इस सब से इस परिणाम पर पहुँच जाना तो ग़लत होगा कि **लेवियाथान** के अधीन कोई स्वतन्त्रता न है और न हो सकती है। स्वतन्त्रता तो वहाँ है, किन्तु केवल वह स्वतन्त्रता है जिसका उपभोग क़ानूनों के संरक्षण में किया जा सकता है। अनुचित हस्तक्षेप करने का **लेवियाथान** को कोई शौक़ नहीं है। हॉब्स के अनुसार क़ानून मनुष्यों को समस्त स्वेच्छापूर्ण कार्यों से नहीं रोकते; उनका उद्देश्य तो केवल 'उनका निर्देशन करना तथा उन्हें ऐसी गति में रखना है जिससे कि वे अपनी अनियंत्रित इच्छाओं, जल्दबाज़ी अथवा अविवेक के कारण अपने को ही आघात न पहुँचालें। क़ानून बाड़ के सदृश है जो कि यात्रियों को रोकने के लिये नहीं बल्कि उन्हें सन्मार्ग पर रखने के लिए खड़ी की जाती है।' व्यक्तियों को क्रय-विक्रय करने तथा अन्य प्रकार के मुहादे करने की, अपने रहने के लिए स्थान, अपना भोजन, अपना व्यापार चुनने की तथा अपनी इच्छानुसार अपने बच्चों को शिक्षा दिलाने की स्वतन्त्रता है। हॉब्स की यह भी धारणा थी कि शासक को मनुष्य के निजी विश्वासों और विचारों की खोज नहीं करनी चाहिये; वह केवल उनसे यह माँग कर सकता है कि उनका बाह्य व्यवहार तथा उपासना की पद्धति राज्य के क़ानूनों के अनुसार होनी चाहिये। बुद्धि तथा अन्तःकरण उसकी पहुँच से बाहर हैं।

हॉब्स की समालोचना— राजनीतिक विचारकों में हॉब्स का क्या स्थान है और उसके राजनीतिक विचारों का क्या महत्त्व है? इस प्रश्न पर विद्वानों में बहुत मतभेद है। एक ओर तो वॉहन का यह विचार है कि "जहाँ तक राजनीतिक विचार के सजीव विकास का प्रश्न है, **लेवियाथान** एक प्रभावहीन और निष्फल ग्रंथ रहा है। वह एक प्रमादपूर्ण वर्णसंकर है, जिसमें प्रजनन की कोई सामर्थ्य नहीं है। और वह इस उपेक्षा का पात्र भी है।"* इससे तनिक उदार मरे का यह विचार है कि "हॉब्स की जीवनी लिखने वाले को केवल एक ही समर्थक मिल सका; जबकि उसके शत्रु अनेक थे।"† इसी

* "So far as the vital development of political thought is concerned *Leviathan* has remained, and deserves to remain, without influence and without fruit: a fantastic hybrid, incapable of propagating its kind." C. E. Vaughan: *History of Political Philosophy, Vol. I*, page 37.

† "Hobbes' biographer could only find a solitary supporter, while his assailants were numerous."

—Murray: *History of Political Science*, page 216.

प्रकार गेटल का कहना है कि हॉब्स के राजनीतिक विचारों को इंग्लिश राजनीतिक विचार में कोई तत्कालीन समर्थन प्राप्त नहीं हो सका। दूसरी ओर सैबाइन की यह धारणा है कि "अंग्रेज़ी भाषा भाषी जातियों ने जितने भी राजनीतिक दार्शनिकों को जन्म दिया है उन सब में हॉब्स कदाचित् महानतम है।"* **लेवियाथान** के अपने पूर्व कथन में प्रोफ़ेसर ओकशॉट कहते हैं कि वह 'अंग्रेज़ी भाषा में राजनीतिक दर्शन का सब से महान् और कदाचित एकमात्र, महा-ग्रन्थ है।' इस से बढ़ कर इस ग्रंथ की प्रशंसा और क्या हो सकती थी? सैबाइन तथा ओकशॉट द्वारा इसकी प्रशंसा तथा वॉहन द्वारा इसकी निन्दा में कोई संगति हो ही नहीं सकती। परन्तु इन दोनों परस्पर विरोधी धारणाओं के पक्ष में कुछ न कुछ अवश्य कहा जा सकता है। आइये इनका परीक्षण करें।

जब **लेवियाथान** प्रकाशित हुई तो निस्सन्देह उसका कोई स्वागत नहीं हुआ; उसके भौतिकवाद, नास्तिकवाद तथा निरंकुशवाद की सबने घोर निन्दा की। हेनरी मोर तथा कडवर्थ सरीखे दार्शनिकों, कम्बरलैण्ड सरीखे धर्मशास्त्रियों, तथा फ़िल्मर सरीखे राजनीतिक दार्शनिकों ने इसके सिद्धान्तों पर तीव्र आक्रमण किया। अपने नास्तिकवाद तथा निरंकुशवाद के अतिरिक्त उसमें और भी बहुत सी ऐसी बातें हैं जिनकी निन्दा और आलोचना की जाती है। स्पिनोज़ा (Spinoza) तथा उसके पीछे आने वाले आलोचकों का कहना है कि हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले दानवों के लिए क़ानूनप्रिय तथा विनम्र नागरिक बनना असम्भव है जैसा कि सामाजिक समझौते के समय उन्हें दिखाया गया है। इस धारणा को वॉहन ने इन शब्दों में व्यक्त किया है: "हॉब्स का कहना है कि प्राकृतिक अवस्था संघर्ष की अवस्था है जिस में प्रत्येक मनुष्य समस्त के विरुद्ध युद्ध में रत रहता है। पशुबल और धोखा इस अवस्था के विशेष गुण हैं। इस स्थिति में सदसद् तथा न्याय-अन्याय की धारणाओं के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। इन सब में कोई परस्पर संगति नहीं है। परन्तु इसके अवसान की तो इससे कोई संगति हो ही नहीं सकती। भला हम यह कैसे मान सकते हैं कि इस प्रकार के गुणों से विभूषित दानव रूपी मानव एक ऐसी अवस्था में प्रवेश कर सकते हैं या प्रवेश करने की इच्छा भी कर सकते हैं जिसमें उनकी पूर्व स्थिति एकदम विपरीत हो जाये, जहाँ युद्ध के स्थान में शान्ति का साम्राज्य हो, जहाँ पशुबल तथा धोखे का जान बूझ कर परित्याग कर दिया जाये; और जिस का आधार सत् तथा न्याय हो। एक हब्शी अपना रंग नहीं बदल सकता; इसी प्रकार एक रक्त का प्यासा व्यक्ति जिसका वर्णन हॉब्स ने अपने ग्रंथ के आरम्भ में किया है, एक शान्तिप्रिय श्रमिक नहीं

* Hobbes 'probably is the greatest writer on political philosophy that the English speaking peoples have produced.'

—Sabine : *History of Political Theory*, page 457.

बन सकता है।"* इस सिद्धान्त की इसी प्रकार की आलोचना लॉक ने की है। वह कहता है कि हॉब्स हमें यह विश्वास दिलाना चाहता है कि 'मनुष्य इतने मूर्ख हैं कि वे जंगली बिल्लियों तथा लोमड़ियों की शरारतों से बचने के लिये शेरों द्वारा निगला जाना अधिक सुरक्षित समझते हैं।'†

इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि मानव स्वभाव में जो कृत्रिम विभाजन हॉब्स ने किया है वह घोर आलोचना का पात्र है। उसका एक ओर तो मनुष्य को अहंवादी, भावुक, प्रतिस्पर्धाशील कहना और दूसरी ओर उसके बौद्धिक पक्ष पर बल देना, दो ऐसी बातें हैं जिनमें संगति होना कठिन है। जिस मनोविज्ञान को वह आधार मान कर चलता है वह ग़लत है। यदि हम यह मान लें कि हॉब्स प्राकृतिक अवस्था की ऐतिहासिकता में विश्वास करता था तो वॉहन का तर्क उसके लिये घातक सिद्ध होगा। परन्तु जैसा कि हम पहिले ही कह चुके हैं, ऐसा मानना आवश्यक नहीं है। हॉब्स का उद्देश्य राज्य के कालगत जन्म का वर्णन करना नहीं है; उसका ध्येय राज्य के स्वरूप का विश्लेषण करना तथा उसका औचित्य सिद्ध करना है। उसकी यह धारणा बिल्कुल उचित और सही दिखलाई पड़ती है कि यदि मनुष्य शांतिपूर्वक समाज में रहना चाहते हैं तो उनके सामने राज्य की प्रभुसत्ता के समक्ष पूर्ण समर्पण करने के अतिरिक्त और कोई चारा ही नहीं है। उसका यह कहना भी सही है कि प्रभुता निरपेक्ष तथा अपरिमित होनी चाहिये। विधेयात्मक क़ानून, ईश्वरीय क़ानून तथा प्राकृतिक क़ानून उसके ऊपर कोई रोक नहीं लगा सकते। यह तर्क करना कि मनुष्य कभी भी प्राकृतिक अवस्था में

---

* "The state of nature is, to Hobbes, a state of war, the war of all against all. It is a state of which the cardinal virtues are force and fraud. It is a state in which the notions of right and wrong, of justice and injustice, can have no place. All this is inconsistent enough with itself. But who shall ever persuade us that it is consistent with the sequel? Who shall induce us to believe that the men of whom this is true could ever be capable of entering, or even desiring to enter, a state in which all these conditions are absolutely reversed: a state not of war, but of peace; a state in which force and fraud are deliberately laid aside; a state which is founded upon ideas of right and justice ... The Ethiopian cannot change his skin. Nor could the crafty cut-throat, the Machiavelli-tilla, of the opening chapters ever have become the peaceful labourer, still less, the cringing helot, of the close."

—Vaughan, *op. ct.*, pages 31–32.

† ...... men are so foolish that they take care to avoid what mischiefs may be done to them by polecats and foxes, but are content, nay think it safety, to be devoured by lions.

नहीं रहते थे और यदि वे रहते तो कभी भी हॉब्स द्वारा वर्णित पद्धति की रीति से वे राज्य का निर्माण न करते, एकदम अप्रासंगिक है। प्राकृतिक अवस्था तथा संविदा की वास्तविकता से इन्कार कर देने से ही हॉब्स द्वारा राज्य तथा प्रभुता का विश्लेषण ग़लत नहीं हो जाता। ऐसा प्रतीत होता है कि **लेवियाथान** के प्रकाशन के तुरन्त बाद उसे लेकर जो गरमागर्म वादविवाद छिड़ा उसके कारण हॉब्स के राजनीतिक सिद्धान्तों का सच्चा महत्त्व नहीं समझा जा सका। इसलिये उनका अपने परवर्ती राजनीतिक विचार के विकास पर कोई विशेष प्रत्यक्ष प्रभाव न पड़ सका। उनका वास्तविक मूल्यांकन कहीं तब जाकर हुआ जबकि बेन्थम और ऑस्टिन ने हॉब्स के सिद्धान्त के बौद्धिक तथा उपयोगितावादी पक्षों को विकसित किया।

एक दूसरी तरह से भी **लेवियाथान** प्रभावहीन रहा और रहना ही था। एक पिछले प्रसंग में हम यह कह चुके हैं कि एक राजनीतिक दार्शनिक के रूप में हॉब्स की महानता इस कारण नहीं है कि उसने निरंकुशवाद का पोषण किया या राजनीति तथा आचार शास्त्र में पृथक्करण कर दिया, बल्कि इस कारण है कि उसने राज्य के अध्ययन के लिए वैज्ञानिक पद्धति को अपनाया। १७वीं शताब्दी में वैज्ञानिक पद्धति को ज्यामिति की पद्धति अथवा निगमन पद्धति के तद्रूप समझा जाता था। तदुपरान्त विकसित विचार ने यह सिद्ध कर दिया है कि ज्यामिति के नमूने पर एक राजनीति विज्ञान या मानव विज्ञान के निर्माण करने का प्रयास एक कोरा भ्रम है। राजनीतिक कल्प-विकल्प के क्षेत्र में इस पद्धति का अनुकरण स्पिनोज़ा के अतिरिक्त, जो कि हॉब्स से पचास वर्ष छोटा था, और किसी विचारक ने नहीं किया। परन्तु हॉब्स के गुण को हमें इस कसौटी पर नहीं कसना चाहिये कि उसके परिणाम कहाँ तक सही निकले और कहाँ तक ग़लत या वह मानव तथा राजनीति के विज्ञान को भौतिक विज्ञान में सम्मिश्रित करने में सफल रहा या विफल। उसकी विशेषता यह है कि उसका चिन्तन क्रमबद्ध तथा समन्वित है और उसने संगतिबद्ध युक्तियाँ पेश की हैं तथा वह अपने निष्कर्ष पर दृढ़ता से क़ायम है। यदि हम उसके आरम्भ बिन्दु को स्वीकार कर लें तो उसके अन्तिम परिणाम को ठुकराना असम्भव होगा। हॉब्स ने जिस प्रकार सरकार के अधिकारों की वकालत की है और जिस प्रकार उसने प्रत्येक प्रकार के सरकार विरोधी विद्रोह को कुचलने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया है वैसा बहुत कम विचारकों ने किया है। जो लोग उसके सिद्धान्तों की तीव्र निन्दा करते थे उनको उसने आधारभूत तत्त्वों का फिर से विश्लेषण करने और इस विषय पर एक नवीन दृष्टिकोण से विचार करने पर विवश कर दिया। **लेवियाथान** के सिद्धान्तों के प्रति जो प्रतिक्रिया हुई वह बेकन की इस उक्ति का एक सुन्दर उदाहरण है कि सत्य का प्रादुर्भाव अनिश्चय की अपेक्षा ग़लती में से अधिक सरलतापूर्वक होता है। एक महान् और शक्तिशाली बुद्धि ही ऐसी प्रतिक्रियायें उत्पन्न कर सकती है।

हॉब्स न केवल एक भौतिकवादी था; वह तर्कवादी भी था। उसके स्पष्ट तथा

सुनिश्चित तर्कवाद ने राजनीतिक विचार को उस माया जाल में से निकाल लिया जिसमें कि वह उन दिनों फँसा हुआ था। प्रकृति के क़ानून को विवेक के आदेश के तद्रूप बता कर और शासक को ईश्वरीय क़ानून की व्याख्या का अधिकार देकर, तथा **रोमन कैथोलिक चर्च** पर आक्रमण करके उसने अपने आलोचकों को तर्क तथा तथ्य के क्षेत्र में आकर उसका सामना करने के लिये विवश किया और इस प्रकार उसने राजनीतिक कल्प-विकल्प के प्रति एक वैज्ञानिक प्रवृत्ति को फिर से अपनाने के लिये बहुत कुछ किया।

राजनीतिक विचार को हॉब्स की देन महान् है; उसके कारण यूरोपीय राजनीतिक विचार के इतिहास में उसके लिये एक ऊँचा स्थान सुरक्षित है। यद्यपि राजसत्ता की धारणा का प्रतिपादन सबसे पहिले करने वाला वह न था, तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि एक निरपेक्ष तथा अपरिमित राजसत्ता का सुनिश्चित तथा पूर्ण विवरण देने वाला वह सर्वप्रथम व्यक्ति था। वैसे तो राज्य की प्रभुता का समर्थन करने वाला सर्वप्रथम आधुनिक लेखक बोदाँ था किन्तु उसका प्रभुताधारी राजा प्राकृतिक क़ानून, राज्य के सांविधानिक क़ानून, ईश्वरीय क़ानून तथा परम्पराओं के अधीन था। हॉब्स इन समस्त सीमाओं को दूर कर देता है और एक निरपेक्ष तथा अपरिमित राजसत्ता का प्रतिपादन करता है। वह इस बात के ऊपर बार बार ज़ोर देता है कि यदि शासक को निरपेक्ष तथा अपरिमित शक्ति न दी जाय तो वह उस उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकता जिसके लिये उसकी स्थापना हुई है। इस प्रकार हम हॉब्स को यह कहते हुए पाते हैं कि शासक ही अपने क़ानूनों द्वारा यह घोषित करता है कि क्या न्याय है और क्या अन्याय है और तब ही नैतिकता सम्भव हो सकती है। इसके अतिरिक्त वह यह भी कहता है कि नैतिकता तथा धर्म में एकरसता तथा विश्वव्यापकता लाने के लिए यह आवश्यक है कि अपने लिये यह निर्णय करने का कि क्या अच्छा है और क्या बुरा है और ईश्वर उससे क्या आशा करता है, अधिकार व्यक्ति से लेकर सर्वोच्च शासक को सौंप दिया जाये। शासक को इतनी व्यापक शक्तियाँ हॉब्स से पहिले और किसी ने नहीं दी थीं। उसके राजसत्ता के सिद्धान्त तथा विधेयात्मक क़ानून विषयक उसकी इस धारणा का कि क़ानून राजा की आज्ञा है, पूर्ण रूप से विकास १९वीं शताब्दी के महान् न्यायशास्त्री जॉन ऑस्टिन (John Austin) ने किया।

दूसरी बात यह कि यद्यपि हॉब्स राज्य को निरंकुश एवं सर्वशक्तिमान् बनाता है, किन्तु वह उसके कृत्रिम तथा मानवकृत चरित्र पर बल देता है। उसका यह कहना कि राज्य मानव बुद्धि की उपज है जिसकी सृष्टि उसने अपनी सुरक्षा की महत्त्वपूर्ण आवश्यकता की पूर्ति के लिए की है राज्य के उस रहस्य, ऐश्वर्य और अतिक्रमणात्मक चरित्र को नष्ट करता है जो कि दैविक सिद्धान्त के पोषकों और प्रतिपादकों ने उसे प्रदान कर रखा था। हॉब्स के सिद्धांत में हम उस परम्परा की चरम सीमा देखते हैं जिसका प्रारंभ सोफिस्ट्स ने किया और एपीक्यूरियन्स (Epicureans) ने जिसका समर्थन किया और

कार्नेडीज़ ने जिसे पुनर्व्यक्त किया कि न्याय प्राकृतिक अथवा स्वाभाविक नहीं है बल्कि उस संविदा की सृष्टि है जो कि मनुष्यों ने एक दूसरे को आघात न पहुँचाने के लिये की है। हॉब्स में हमें जो मिलता है वह है "अतिक्रमणवाद के प्रत्येक रूप का निषेध। प्राकृतिक क़ानून की परम्परागत प्रतिष्ठा को समाप्त किया गया है, दैविक ज्ञान की सम्भावना से इन्कार किया गया है, और वहाँ केवल स्वतंत्र मानव प्राणी रह गया है जो कि सामाजिक जीवन के आदर्शों की स्वयं खोज करता है। राजनीतिक व्यवस्था को पवित्र चरित्र से वंचित कर दिया गया है। उसमें वह दैविक चमत्कार नहीं रहा जो कि सन्त पाल ने अपने इस उपदेश द्वारा कि 'जो भी शक्ति है, परमात्मा द्वारा मिली हुई है' समस्त ईसाइयों के हृदय पर अंकित कर दिया था। एक भावुकताहीन अपाकर्षण उस धार्मिक आतंक का स्थान ग्रहण कर लेता है जिससे शासकों को देखा जाता था। अब राज्य मनुष्य की सृष्टि है, और उसका एकमात्र औचित्य उसकी उपयोगिता है। जब राज्य मनुष्य की आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने में विफल रहता है तो वह अपने एकमात्र औचित्य को खो बैठता है।"* तीसरी बात याद रखने की यह है कि हॉब्स प्रभुता के निरंकुश तथा अपरिमित चरित्र पर इतना ज़ोर देता है, किन्तु उसके सिद्धान्त में व्यक्तिवाद का एक ज़ोरदार समर्थन भी शामिल है। उसके लिये राज्य स्वयं अपने में ही एक साध्य नहीं है; वह एक साधन है, उसका साध्य तो व्यक्ति की सुरक्षा तथा कल्याण है। उसका अस्तित्व मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये है; उसका एकमात्र औचित्य उसकी उपयोगिता है। उसके नैतिक अधिकार का स्रोत शासित की अनुमति है। परन्तु हमें याद रखना चाहिये कि हॉब्स कोई जनतन्त्रवादी नहीं था; उसके लिए जनता, सामान्य इच्छा (General Will) अथवा सामान्य हित जैसी किसी चीज़ का अस्तित्व नहीं है। अस्तित्व केवल व्यक्तियों का है; उनकी रक्षा करना राज्य का कर्त्तव्य है। उनके निजी हितों का योग ही सामाजिक हित है। हॉब्स के सिद्धान्त के इस पहलू को बेन्थम तथा उसके अनुयाइयों ने विकसित किया। राज्य को व्यक्तियों के परस्पर विरोधी हितों का मध्यस्थ

* "...... the negation of every form of transcendancy. The orthodox status of natural law is set aside, the possibility of divine knowledge denied, and there remains only the autonomous human being, finding the norms of social life alone. Then, too, the political order is deprived of its sacrosanct character. It ceases to be the repository of that divine charisma which St. Paul impressed upon all Christians in his admonition that 'the powers that be are ordained of God'. A cold eyed disenchantment takes the place of religious awe with which rulers were wont to be regarded. Now the state is man's creation, and its sole justification is its utility. When a state is unable to fulfil man's needs, it has lost its only *raison d'étre.*"

—Zagorin : *op. ct.*, page 188.

बनाकर वह उपयोगितावादियों का पूर्वसूचक बन गया। "यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है कि जेरेमी बेन्थम यहाँ भी उसका उतना ही ऋणी है जितना 'सुख' विषयक हॉब्स के विचारों का। आने वाली सन्तति का प्रायः उससे मतभेद रहा है, परन्तु यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि उसमें उन्हें एक ऐसी खान मिली है जिसका खोदना उनके लिये श्रेयस्कर है क्योंकि उसमें से एक मूल्यवान् धातु निकलती है।"*

Select Bibliography

Cook : *History of Political Philosophy,* Chapter XVIII.

Doyle : *History of Political Thought,* Chapter VIII.

Dunning : *Political Theories from Luther to Montesquieu,* Chapter VIII.

Hearnshaw : *Social and Political Ideas of Sixteenth Century Thinkers.*

McGovern : *Form Luther to Hitler,* Chapter III.

Jones : *Masters of Political Thought, Vol. II,* Chapter IV.

Maxey : *Political Philosophies,* Chapter XIV.

Sabine : *History of Political Theory,* Chapter XXIII.

Vaughan : *Studies in the History of Political Philosophy, Vol. I,* Chapter II.

Wayper : *Political Thought,* Chapter II.

Zagorin : *Political Thought in the English Revolution,* Chapter XIII.

———

* "It is no accident that Jeremy Bentham borrowed heavily from him here as he did from Hobbes's ideas on Felicity. Succeeding generations have usually disagreed with him, but it is no exaggeration to say that they have found in him a mine well worth their while to work for the riches of the ore that it yields."

—Wayper : *Political Thought*, page 65.

अध्याय ६

जॉन लॉक

(John Locke)

परिचयात्मक— ग्रेट ब्रिटेन के महानतम क्रमबद्ध राजनीतिक दार्शनिक तथा निरंकुशवाद के एक दृढ़तम समर्थक— टॉमस हॉब्स से अब हम जॉन लॉक पर आते हैं जो कि १७वीं शताब्दी का इंङ्गलैंड का एक दूसरा महान् विचारक था, जिसके राजनीतिक विचार हॉब्स के बहुत विपरीत हैं। यद्यपि लॉक के ग्रन्थ 'Treatise on Government' में वह क्रमबद्धता नहीं है जो कि हॉब्स के 'Leviathan' में है और विकल्पात्मक तर्क के ऊपर एक कृति के रूप में उसमें बहुत बड़े दोष हैं किन्तु ऐतिहासिक महत्त्व के दृष्टिकोण से और व्यावहारिक सिद्धान्त के रूप में यह 'Leviathan' से बहुत श्रेष्ठ है। 'Leviathan' तत्कालीन नीति से बहुत दूर था और असामयिक था तथा समस्त पक्षों को उससे आघात पहुँचा और कोई भी उससे प्रसन्न नहीं हुआ। इसके विपरीत लॉक का 'Treatise' युग की आत्मा को अभिरक्षित करता था; उसने १६८८ ई० की 'गौरवपूर्ण क्रांति' (Glorious Revolution) के लिये सैद्धांतिक आधार प्रस्तुत किया जो कि उसके प्रकाशन से एक वर्ष पूर्व हो चुकी थी। वॉहन के शब्दों में यह 'अपने प्रकाशन के कम से कम दो पीढ़ियों के बाद तक इंगलैण्ड और फ्रांस में स्वतन्त्रता की बाइबिल बनी रही।' इसने अमेरिका के क्रान्तिकारियों के लिये भी औचित्य प्रस्तुत किया। केवल राजनीतिक विचार और कर्म के क्षेत्र में ही लॉक के सिद्धान्तों ने यूरोप तथा अमेरिका के लोगों को प्रेरित नहीं किया बल्कि दर्शन शास्त्र, अर्थशास्त्र तथा धर्मशास्त्र के क्षेत्रों में भी उसने कुछ ऐसी विचार-रेखायें निर्धारित कीं जिनका अनुसरण उसके बाद बहुत से लोगों ने किया।

जीवन तथा समय— लॉक के राजनीतिक विचारों को समुचित रूप से समझने के लिए तत्कालीन परिस्थितियों का ज्ञान आवश्यक है। उसका जन्म १६३२ में हुआ था, जबकि हॉब्स ४३ वर्ष का था, और उसका देहान्त १७०४ में हुआ। इस प्रकार से वह हॉब्स का कुछ पीछे का समकालीन है; उसने १६६० ई० में द्वितीय चार्ल्स को पुनर्प्रतिष्ठित होते हुए और १६८८ की 'रक्तहीन क्रांति' (Bloodless Revolution) को जिसका कि वह सिद्धान्तवेत्ता बना, अपनी आँखों से देखा था।

उच्च शिक्षा के लिए लॉक को ऑक्सफ़ोर्ड भेजा गया जो कि उस समय 'प्योरिटन' (Puritan) दल में कट्टरपंथी तथा असहिष्णु वाम पक्ष के प्रभाव में था। उस स्थान के संकुचित अनुशासन ने औपचारिक अध्ययन के लिए उसके उत्साह को मन्द कर दिया और एक विद्यार्थी के रूप में विशिष्टता प्राप्त करने का उसने कोई प्रयास नहीं किया।

एम. ए. की डिग्री प्राप्त कर लेने पर उसे ऑक्सफ़ोर्ड में एक शिक्षक नियुक्त कर दिया गया, परन्तु शिक्षण कार्य उसके लिए रुचिकर सिद्ध न हुआ। उसने उसका परित्याग करके डाक्टरी सीखना आरम्भ कर दिया; और एक सुविख्यात डाक्टर से दो वर्ष तक दीक्षा लेने के बाद उसने डाक्टरी करनी आरम्भ कर दी। इस नाते उसका सम्बन्ध लार्ड ऐश्ले से हो गया जो कि आगे चल कर शैफ्ट्सबरी का प्रथम अर्ल बना और १५ वर्ष तक वह उसका निजी डाक्टर तथा विश्वासपात्र सेक्रेट्री रहा। यद्यपि शुरू शुरू में ऐश्ले राजतन्त्र का समर्थक था किन्तु बाद में वह संसदीय पक्ष में जा मिला क्योंकि उसे लगा कि राजा को प्रॉटेस्टेण्टवाद से सहानुभूति न थी। विद्रोही सेनाओं का उसे फील्ड मार्शल बना दिया गया। परन्तु क्रॉमवेल का समर्थक भी वह बहुत दिन तक न रह सका। उसने उसके विरुद्ध विरोध का नेतृत्व किया और उसके पराभव में सक्रिय भाग लिया। चार्ल्स द्वितीय की पुनःस्थापना में ऐश्ले का प्रमुख हाथ था जिसे चार्ल्स ने अपना लार्ड चान्सलर नियुक्त किया। लार्ड चान्सलर का विश्वासपात्र सचिव होने के नाते लॉक का राजनीति, विज्ञान, तथा विद्या के क्षेत्र में तत्कालीन महान् व्यक्तियों से वास्ता पड़ा और इस प्रकार राजनीतिक मामलों की उसे एक आन्तरिक झाँकी मिली जोकि हॉब्स को कभी प्राप्त नहीं हुई। परन्तु शैफ्ट्सबरी रोमन कैथोलिकों का पक्ष लेने की राजा की प्रवृत्ति का निरन्तर विरोध करता था इसलिये वह राजा का कोपभाजन हो गया और उसे पदच्युत कर दिया गया। अपने स्वामी के साथ लॉक का भी पद छूट गया और वह अपना स्वास्थ्य सुधारने के लिये फ्रांस चला गया। किन्तु कुछ वर्षों के उपरान्त राजा ने शैफ्ट्सबरी को उसके पद पर फिर से प्रतिष्ठित कर दिया। लॉक भी उसके साथ लौट आया और उसने भी अपना पुराना स्थान फिर से ग्रहण कर लिया। परन्तु यह बहुत दिन तक नहीं चला; दो वर्ष बाद शैफ्ट्सबरी चार्ल्स द्वितीय के स्थान में एक प्रॉटेस्टेण्ट राजा को सिंहासनारूढ़ करने के षड्यन्त्र में फंस गया। उसे पकड़ लिया गया और उसके ऊपर राजद्रोह का अभियोग चलाया गया। उसे मुक्त कर दिया गया, परन्तु उसे देश छोड़ना पड़ा। लॉक ने स्वयं अपने जीवन के लिए खतरा महसूस किया और वह सुरक्षा की खोज में हॉलैण्ड चला गया। हॉलैण्ड में देश निर्वासन की स्थिति में रहते हुए इङ्गलैण्ड में स्टुअर्ट वंश का शासन समाप्त करने के प्रयास में लॉक ने हॉलैण्ड में अन्य राजनीतिक देश-निर्वासितों से सम्बन्ध कायम रखा और विलियम ऑफ़ ऑरेञ्ज से परिचय प्राप्त किया। जब १६८८ ई० में इङ्गलैण्ड में रक्तहीन क्रान्ति हुई और राजा जेम्स द्वितीय के भाग जाने पर विलियम ऑफ़ ऑरेञ्ज को ब्रिटिश सिंहासन ग्रहण करने का निमन्त्रण दिया गया तो लॉक भी इङ्गलैण्ड वापिस आया और उसने 'कमिश्नर ऑफ़ अपील्स' का पद स्वीकार कर लिया। अस्वस्थ होने के कारण १७०० ई० में उसने इस पद से त्यागपत्र दे दिया और १७०४ में उसका शरीरान्त हो गया।

लॉक के जीवन के इस संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट हो गया होगा कि उसका

प्रथम भाग महान् राजनीतिक उथल पुथल में से गुज़रा जिसकी निस्सन्देह बड़ी गहरी छाप उसके विचार पर पड़ी। हो सकता है कि अपने प्रारम्भिक अनुभवों के कारण ही उसे हिंसा एवं अतिवाद से इतनी अरुचि हुई हो। यह बात भी उल्लेखनीय है कि यद्यपि १६६० के **'रेस्टोरेशन'** (Restoration) के परिणामस्वरूप राजनीतिक या धार्मिक स्वतन्त्रता स्थापित नहीं हुई और १६८८ की दूसरी क्रान्ति की आवश्यकता पड़ी किन्तु इस मध्यान्तर में **'रेस्टोरेशन'** के पूर्व की अपेक्षा अधिक सामाजिक स्थिरता रही। इस सामाजिक स्थिरता के कारण ही शायद लॉक राजनीतिक सुरक्षा प्राप्त करने के लिए समस्त राजनीतिक अधिकारों का समर्पण करने के लिए तैयार न हुआ जैसा कि हॉब्स था।

एक दूसरा परिवर्तन भी, जोकि १७वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ और जिसका लॉक के चिन्तन पर भारी प्रभाव पड़ा, उल्लेखनीय है। यूरोप में एक नवीन बौद्धिक वातावरण छा रहा था। **'रिफार्मेशन'** (Reformation) तथा धार्मिक युद्धों के संकट-ग्रस्त समय की धार्मिक तथा राजनीतिक कट्टरता कम हो गई थी। १५०० से लेकर १६५० तक का काल भावुकता तथा परस्पर विरोधी और प्रतिद्वन्द्वी धर्मासक्तियों से भरा हुआ था। नवीन युग ने सहिष्णुता की तान छेड़ी। पुराने युग का राजनीतिक विचार इस मान्यता से आरंभ होता था कि मनुष्य स्वभावतः बुरा और दुष्ट है; नवीन युग में आशा-वाद की झलक आई और उसका श्रीगणेश मानव स्वभाव की अच्छाई में विश्वास के साथ हुआ। मैकियावेली से लेकर हॉब्स तक राजनीतिक चिन्तन के मूल में मानव स्वभाव सम्बन्धी जो मान्यतायें थीं वे लॉक में बदल चुकी थीं। मूलभूत मान्यताओं में इस परिवर्तन के कारण लॉक पूर्णरूप से एक आधुनिक विचारक हो उठा है।

यह बात भी स्मरणीय है कि लॉक की लगभग समस्त कृतियाँ उसकी आयु ५० वर्ष की हो जाने के उपरान्त प्रकाशित हुईं। हॉलैण्ड से लोटने पर ही लॉक सर्वप्रथम एक लेखक के रूप में प्रगट हुआ। उसका प्रथम 'Letter on Toleration' १६८९ में प्रकाशित हुआ 'Two Treatises of Government' १६९० में, दूसरा 'Letter on Toleration' १६९० में, 'तीसरा' १६९२ में तथा 'चौथा' उसकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुआ। ये उसके मुख्य राजनीतिक लेख हैं। उसका सब से महत्त्वपूर्ण ग्रंथ जिसके कारण वह आधुनिक दर्शन का द्वितीय जनक समझा जाता है 'Essay Concerning Human Understanding' है जो १६९० में प्रकाशित हुआ। क्योंकि राजाओं के दैविक अधिकार का जिसके ऊपर निरंकुशवादी भरोसा रखते थे, उसका खण्डन उसके राजनीतिक सिद्धान्त और सहिष्णुता सम्बन्धी विचार पर बहुत बड़ा प्रभाव उसके Essay में संकलित उसके मानव ज्ञान के मूल, विस्तार तथा स्वरूप सम्बन्धी धारणा का पाया जाता है, इसलिये उसका एक संक्षिप्त विवरण यहाँ दे देना आवश्यक प्रतीत होता है।

लॉक का ज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्त— अपने ज्ञान के मूल के सिद्धान्त में लॉक एक अनुभववादी (Empiricist) था। उसका विश्वास था कि जन्म के समय मानव मस्तिष्क एक कोरी स्लेट होता है। वह उसकी तुलना सफ़ेद काग़ज़ के एक टुकड़े से करता है जिसके ऊपर कुछ लिखा हुआ नहीं होता, या यों कहना और अधिक ठीक होगा कि वह एक अन्धेरे कमरे के सदृश है जिसमें प्रकाश का प्रवेश केवल द्वारों तथा खिड़कियों में को ही हो सकता है। ये द्वार और खिड़कियाँ हैं पाँच इन्द्रियाँ तथा विचार-शक्ति जो कि बुद्धि की स्वयं अपनी प्रक्रियाओं की ही चेतना है। सारांश यह कि लॉक के अनुसार जन्म के समय मानव मानस सर्वथा तत्त्वहीन होता है; जो कुछ भी विचार उसमें आते हैं अपने अनुभव द्वारा प्राप्त करता है जिसके दो रूप होते हैं— इन्द्रिय अनुभव तथा विचार। इस प्रकार प्राप्त किये हुए सरल विचारों को बुद्धि स्वयं अपनी विश्लेषण, तुलना तथा कल्पना की प्रक्रियाओं द्वारा जटिल बना डालती है। बुद्धि ऐसे जटिल विचारों की सृष्टि नहीं कर सकती जिनका तत्त्व उसे अनुभव द्वारा न मिला हो। इस प्रकार मानव ज्ञान अनुभव द्वारा सीमित होता है।

ये सरल तथा जटिल विचार ज्ञान नहीं होते; ये ज्ञान की केवल सामग्री होते हैं। ज्ञान तब उत्पन्न होता है जब कि बुद्धि अपने विचारों की परस्पर तुलना करती है और उनके परस्पर मतैक्य तथा मतवैभिन्न्य को देखती है। इस प्रकार उसके मतानुसार ज्ञान 'अपने विचारों में परस्पर सम्बन्ध तथा तारतम्य अथवा सम्बन्धहीनता को जान लेना है।'* जहाँ ऐसी अनुभूति है वहीं ज्ञान है; जहाँ ऐसी अनुभूति नहीं है वहाँ ज्ञान भी नहीं हो सकता। विचारों में एकता तथा विभिन्नता की अनुभूति प्रत्यक्ष रूप से हो सकती है, जैसे कि एक और एक मिलने से दो हो जाते हैं; वृत्त के समस्त व्यासार्द्ध आपस में बराबर होते हैं। इस प्रकार के ज्ञान को प्रत्यक्ष (Intuitive) कहते हैं; यह वह सबसे अधिक स्पष्ट और सबसे अधिक निश्चित ज्ञान है जो दुर्बल मानव प्राप्त कर सकता है। परन्तु इसका क्षेत्र सीमित है। दूसरी स्थितियों में बुद्धि विचारों की एकता की खोज अन्य विचारों के माध्यम द्वारा करती है, जैसे कि जब हम यह देखते हैं कि एक त्रिभुज के कोण दो समकोणों के बराबर होते हैं, अथवा एक अर्द्धवृत्त के अन्दर का त्रिभुज सदैव एक सम-कोणीय त्रिभुज होता है। इस प्रकार के ज्ञान को प्रदर्शनात्मक (Demonstrative) कहा जाता है। निश्चितता के दृष्टिकोण से इसका स्थान प्रत्यक्ष ज्ञान से दूसरा है। इस प्रकार के सर्वोत्तम उदाहरण गणित शास्त्र में पाये जाते हैं। लॉक का विश्वास था कि नैतिकता को भी एक प्रदर्शनात्मक विज्ञान बनाया जा सकता है। परन्तु उसने इस कार्य को, जो लगभग असम्भव है, सम्पन्न करने का प्रयास नहीं किया। प्रत्यक्ष तथा प्रदर्शनात्मक से नीचे ज्ञान की एक तीसरी श्रेणी है जिसे सामान्यतया ज्ञान समझा जाता है परन्तु जो

* Knowledge "is the perception of the connection and agreement or disagreement and repugnance of any of our ideas."

वास्तव में ऐसा नहीं है। लॉक उसे सम्मति अथवा विश्वास अथवा सम्भवनीय ज्ञान कह कर पुकारता है। इसमें प्रत्यक्ष तथा प्रदर्शनात्मक ज्ञान की निश्चितता नहीं होती; उसके विपरीत स्थिति की भी सम्भावना हो सकती है। भौतिक तत्त्वों में गुणों के सह-अस्तित्व का ज्ञान इसी श्रेणी के अन्तर्गत आता है। सोने अथवा शक्कर के एक कण में साथ साथ पाये जाने वाले विभिन्न गुणों में आवश्यक तथा बौद्धिक सम्बन्ध को कोई नहीं समझ सका है। हम विश्वास करते हैं कि सोना पीला होता है और चीनी मीठी होती है; परन्तु ऐसा क्यों है इसका कारण हम नहीं जान सकते। हमारे तत्त्व सम्बन्धी ज्ञान का एक बड़ा भाग इसी प्रकार का होता है। इस प्रकार लॉक इस परिणाम पर पहुँचता है कि हमारा ज्ञान का क्षेत्र हमारे अज्ञान के क्षेत्र से बहुत अधिक छोटा है।

लॉक के ज्ञान के सिद्धान्त में, जिसका कि उसके राजनीतिक विचार पर गहरा प्रभाव पड़ा, तीन बातें प्रमुख हैं। पहिली बात है ज्ञान का अनुभूति द्वारा उत्पन्न होना। राजतंत्र के मूल के दैविक सिद्धान्त को उसने इसलिए ठुकरा दिया क्योंकि उसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं दिया जा सकता। उसने बड़ी तत्परता के साथ यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि तथ्यों के अध्ययन से यह प्रगट होता है कि न्यायरक्षक की शक्ति का स्रोत मनुष्य है, ईश्वर नहीं। दूसरी बात है ज्ञान का विवेकपरक (Rational) स्वभाव। सच्चा ज्ञान तभी प्राप्त होता है जब कि प्रज्ञा अपने विचारों में आवश्यक सम्बन्ध को अच्छी प्रकार समझ ले। लॉक प्रज्ञा को एक दीपक समझता था जिसे ईश्वर ने हमें अपने मार्ग को आलोकित करने के लिए प्रदान किया है। लॉक ने जो कुछ भी लिखा उस सब का मुख्याधार है विवेक। "जब उसने ईसाई धर्म के विषय में लिखा तो उसका उद्देश्य यह प्रदर्शित करना था कि सहज बुद्धि तथा विवेक ही दो ऐसे आधार हैं जिनके ऊपर ईसाई धर्म को स्वीकार किया जा सकता है। जब उसने शिक्षा के विषय में लिखा तो उसका उद्देश्य उन पद्धतियों का पक्ष पोषण करना था जो कि सत्य के विवेकपूर्ण दर्शन में विद्यार्थी की सहायता कर सकती हैं। जब उसने अध्यात्म शास्त्र के विषय में लिखा तो उसका उद्देश्य दर्शन तथा ज्ञान का सच्चा आधार खोजना था। जब उसने शासन के विषय में लिखा तो उसका उद्देश्य इस बात की मीमांसा करना था कि राजनीतिक प्राधिकार का बौद्धिक आधार क्या है। सरकार के कौन से रूप तथा कौन सी प्रक्रियायें विवेकसम्मत या विवेक के विरुद्ध होती हैं।"* इस सिद्धान्त की तीसरी उल्लेखनीय बात है मानव

* "When he wrote of Christianity, it was to demonstrate that commonsense and reason were the only adequate grounds on which the Christian faith could be accepted. When he wrote on education, it was to plead for methods that would lead the pupil to rational discernment of truth. When he wrote on metaphysics, it was to seek the true basis of perception, knowledge and understanding. When he wrote on government, it was to explore the reasonableness of political

ज्ञान का अल्प विस्तार। मानव बुद्धि न केवल संवित्ति तथा चिन्तन के विषय में अपने सरल विचारों में सीमित है; यह विचार के प्रत्येक क्षेत्र में प्रत्यक्ष तथा प्रदर्शनात्मक ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकती। जीवन के एक बड़े भाग में हमें केवल सम्भावनाओं तथा सम्मति पर ही सन्तोष करना पड़ता है। लॉक के अपने ही शब्दों में "हम यहाँ एक साधारण अवस्था में हैं; हम ससीम प्राणी हैं जिन्हें कुछ ऐसी शक्तियाँ प्राप्त हैं जो कुछ उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये तो पर्याप्त हैं, किन्तु विश्व के महान् तथा असीम विस्तार को देखते हुए वे नितान्त अपर्याप्त हैं।"* धार्मिक सहिष्णुता का लॉक ने जो पोषण किया है, उसका मुख्य आधार मानव बुद्धि की यही दुर्बलता और मानव ज्ञान की परिमितता है। सहिष्णुता का उसने जो औचित्य दिया है वह उस बुद्धिवाद का एक सुन्दर उदाहरण है जोकि उसके सम्पूर्ण लेख का आधार है। इसलिए उसके विषय में दो शब्द कह देना आवश्यक प्रतीत होता है।

सहिष्णुता— धार्मिक सहिष्णुता के औचित्य के रूप में राजनीतिक उदारवाद को लॉक की एक बहुत बड़ी देन है। वह उसके प्रसिद्ध "लैटर्स" में पाया जाता है और इस विषय में वह कुछ बातों में अपने पूर्ववर्तियों से कहीं आगे बढ़ गया है। उसको अच्छी तरह से हृदयंगम करने के लिये उनकी युक्तियों को जानना भी आवश्यक है इसलिये उनका एक संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जाता है।

स्मरण रहे कि शुरू शुरू में मार्टिन लूथर अन्तःकरण की स्वतन्त्रता (Freedom of Conscience) में दृढ़ विश्वास रखता था और धर्म के विषय में प्राधिकारवाद (Authoritarianism) का विरोध करता था। सुधार आन्दोलन (Reformation) का मूल यह धारणा थी कि बाइबिल की अपने ढंग से व्याख्या करने का प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है, परन्तु जब अनाबाप्टिस्ट्स (Anabaptists) ने इस सिद्धान्त को अति पर पहुँचा दिया और उन्होंने यह कहा कि किसी भी व्यक्ति को उसके अन्तःकरण की आवाज़ के विरुद्ध आचरण करने को विवश नहीं किया जाना चाहिये तो लूथर के दृष्टिकोण में परिवर्तन हो गया और वह यह कहने लगा कि सार्वजनिक शान्ति तथा सुरक्षा के लिये अनाबाप्टिस्ट्स को कुचलना राज्य का कर्तव्य है। इसी प्रकार काल्विन ने भी इस बात को जल्दी ही अनुभव कर लिया था कि अन्तरात्मा की स्वतन्त्रता पर अत्यधिक आग्रह करना अराजकता के लिये मार्ग प्रशस्त कर देता है, इसलिए इसे सहन नहीं किया जाना

authority and to explain what forms and processes of Government were or were not in accord with the dictates of reason."

—Maxey : *Political Philosophies*, page 250.

* "We are here in a state of mediocrity : finite creatures furnished with powers and faculties very well fitted to some purposes, but very disproportionate to the vast and unlimited extent of things."

चाहिये। उसने धार्मिक दमन को उचित सिद्ध करना शुरू किया। परन्तु यहाँ पर १६वीं शताब्दी के मध्य में एक ऐसी घटना घटी जिसने धार्मिक स्वतन्त्रता के विषय को फिर से महत्त्वपूर्ण बना दिया और उसे एक ऐसे बड़े विवाद का केन्द्र बना दिया जिसमें कई महान् विचारकों ने भाग लिया। यह घटना थी एक महान् स्पेनिश विद्वान्, सर्वीटस (Servetus), का काल्विन की आज्ञा से धर्म-द्रोह के अपराध में वध किया जाना जिसका राजनीतिक उद्देश्य बिल्कुल कोई न था। वह बड़ा अपराध जिसके लिये सर्वीटस को जलाया गया यह था कि उसने काल्विन द्वारा की गई उसके महान् ग्रन्थ "Institutes" में बाइबिल की व्याख्या पर आपत्ति करने का साहस किया और उससे भिन्न अपनी व्याख्या दी। उसके वध ने एक बड़ी हलचल पैदा कर दी और काल्विन को धार्मिक दमन के औचित्य में अपनी कलम उठानी पड़ी। उसने दावा किया कि तलवार द्वारा धर्मद्रोह का दमन करना और सच्चे धर्म की रक्षा करना राज्य का कर्त्तव्य है।

काल्विन द्वारा धार्मिक दमन के समर्थन ने बेसिल के एक प्राध्यापक कैस्टीलियन को उसके विचारों का खण्डन करने और उनकी अवांछनीयता सिद्ध करने को उत्प्रेरित किया। उसकी धारणा थी कि ईश्वर तथा मानव इच्छा के साथ उसके सम्बन्ध के स्वरूप के विषय में धार्मिक कल्प-विकल्प की अनिश्चितता को देखते हुए यही बात सबसे अधिक श्रेयस्कर है कि मनुष्य को अपनी बुद्धि द्वारा सत्य की खोज करने तथा उसके अनुसार आचरण करने की पूर्ण स्वतन्त्रता दी जाये। धार्मिक विश्वास के कारण किसी मनुष्य की हत्या करना नैतिकता तथा स्वयं धर्म की जड़ काटना है। सारांश यह कि कैस्टीलियन धार्मिक दमन का विरोध इसलिये करता था क्योंकि यह सच्चे धर्म के विकास में बाधा डालता है। अन्य लेखकों ने भी इस विवाद में भाग लिया और धार्मिक सहिष्णुता के पक्ष में लिखा। उनमें से एक था अकॉन्टियस (Acontius) जो कि संशयवादी (Sceptic) था। उसने विभिन्न देशों के चर्चों द्वारा प्रतिपादित बहुतसी तथा परस्पर-विरोधी धारणाओं की ओर ध्यान आकृष्ट किया। सच्चे धर्म का जेनेवा में एक अर्थ, रोम में एक भिन्न अर्थ तथा पेरिस में उससे भी एक भिन्न अर्थ लगाया जाता था। इसलिये किसी के लिये भी निश्चयपूर्वक यह कहना असम्भव है कि सच्चा धर्म क्या है। ऐसी स्थिति में किसी मनुष्य की हत्या धर्मद्रोह के एक सन्देहास्पद अपराध में कर देना बिल्कुल उचित नहीं हो सकता। फ्रांस के पोलिटीक्स (Politiques) धार्मिक सहिष्णुता का समर्थन एक भिन्न आधार पर करते थे। उनका आधार व्यावहारिक आवश्यकता थी। बड़े बड़े धार्मिक सम्प्रदायों की तो कौन कहे, छोटे छोटे मतावलम्बियों को भी राज्य समाप्त नहीं कर सकता और धर्म सम्बन्धी झगड़े राज्य को दुर्बल बना देते हैं। इसलिए धार्मिक सहिष्णुता का पालन करना ही राज्य के लिए एक हितकर नीति है। वे सब इस बात पर सहमत थे कि सच्चे धर्म को मनवाने के कार्य का भार इतना भारी है कि राज्य उसे वहन नहीं कर सकता। इसलिए उसे केवल

शांति तथा व्यवस्था कायम रखने तक ही सीमित रहना चाहिये।

यहाँ उस विवाद का भी उल्लेख किया जा सकता है जोकि १६वीं शताब्दी के अंत में हॉलैण्ड में इच्छा-स्वातंत्र्य विपरीत पूर्व-निर्धारण (Free-will *Versus* Predetermination) के प्रश्न को लेकर खड़ा हुआ। आर्मीनियस का विश्वास जिससे कि काल्विन-वादियों ने ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता पर आक्रमणों का खण्डन करने के लिये कहा था, इस सिद्धान्त में हिल उठा; उसने एक ऐसे ईश्वर में विश्वास करने से इन्कार कर दिया जोकि मानव प्राणियों के लिये, जिनमें किसी भी शुभ कार्य के करने की सामर्थ्य नहीं है, प्रत्येक प्रकार के कानून बनाने की सर्वोच्च शक्ति रखता है। इस प्रकार आर्मीनियस ने इच्छा-स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त का प्रचार किया जिसके परिणामस्वरूप इस विश्वास की प्रतिष्ठा बढ़ी कि किसी व्यक्ति को उसकी अन्तरात्मा के विरुद्ध विचार में विश्वास करने के लिए विवश करना मानव स्वभाव को आघात पहुँचाना है और ईश्वर तथा व्यक्ति के सम्बन्ध को विकृत बनाना है। कुछ इसी प्रकार का अनुभव उन अंग्रेज़ पादरियों का भी हुआ जिन्हें कि जेम्स प्रथम ने लन्दन से इच्छा-स्वातंत्र्य के सिद्धान्त का खण्डन करने को भेजा था। वे भी इसी विश्वास को लेकर वहाँ से लौटे कि धार्मिक दमन व्यर्थ है और धार्मिक स्वतन्त्रता आवश्यक है। इस प्रकार इस विवाद ने धार्मिक सहिष्णुता को बड़ा सम्बल पहुँचाया। इसलिये लॉक ने जब अपने प्रसिद्ध "लैटर्स ऑन टॉलरेशन" लिखे तो इस सिद्धान्त का काफी प्रसार हो चुका था। उनमें उसने अपने पूर्ववर्तियों द्वारा इंगित किये हुए मार्ग को ही अपनाया किन्तु उसने मनुष्य के अन्दर बौद्धिक तत्त्व पर अधिक ज़ोर दिया।

लॉक द्वारा सहिष्णुता के समर्थन की दो मुख्य धारायें हैं। सर्वप्रथम तो उसने न्यायरक्षक की शक्तियों के स्वरूप का विश्लेषण किया और यह तर्क किया कि उसकी शक्ति तथा प्राधिकार का लक्ष्य शांति की स्थापना, जीवन, शरीर तथा सम्पत्ति की सुरक्षा है, सच्चे धर्म को कायम रखना नहीं। न्यायरक्षक अपनी शक्ति मनुष्य से प्राप्त करता है, ईश्वर से नहीं। इसलिए उसका कार्य केवल राज्य के उद्देश्यों की सिद्धि करना है, मनुष्य के धार्मिक जीवन को अनुशासित करना नहीं। उसने धर्म के स्वरूप की भी मीमांसा की और इस परिणाम पर पहुँचा कि धर्म में राज्य के हस्तक्षेप का कोई औचित्य नहीं हो सकता। राज्य की कार्य पद्धति बल-प्रयोग की है और धर्म के क्षेत्र में बल-प्रयोग करना व्यर्थ तथा अस्वाभाविक है। यह इसलिए व्यर्थ है क्योंकि दमनकारी साधनों से किसी का मन और हृदय कदापि नहीं बदला जा सकता; धर्म की बातों में दमन का प्रयोग धर्म के उद्देश्य को ही नष्ट कर देता है। यह अस्वाभाविक है क्योंकि यह धर्म के स्वरूप को ही मिथ्या कर देता है; धर्म एक बौद्धिक प्रक्रिया है जिस का यन्त्र है हृदय परिवर्तन। न्याय, जन नीति इत्यादि के विचारों की, जिन पर कि पॉलिटीक्स (Politiques) ने इतना ज़ोर दिया था, लॉक सर्वथा अवहेलना नहीं करता

परन्तु उन्हें वह काफी नहीं समझता। राज्य के अधिकार के स्वरूप, उसके लक्ष्य तथा सच्चे धर्म के स्वभाव के विश्लेषण से वह इन युक्तियों को बल पहुँचाता है। परन्तु धार्मिक सहिष्णुता के समर्थन का उसका मुख्य आधार कदाचित् उसका यह विश्वास है कि मानव बुद्धि क्षीण तथा मानव ज्ञान सीमित होता है। जैसा कि हम पहिले कह चुके हैं, सम्बन्धों (संख्या तथा क्षेत्र) के जटिल विचारों (complex ideas of relations) की समीक्षा के अतिरिक्त अन्य किसी भी बात में मनुष्य को निरपेक्ष निश्चितता की मांग नहीं करनी चाहिये; उसे केवल सम्भावनाओं पर ही सन्तोष कर लेना चाहिये। धार्मिक चिंतन के क्षेत्र में मनुष्य केवल सम्मति अथवा सम्भावना प्राप्त कर सकता है, प्रत्यक्ष अथवा प्रदर्शनात्मक निश्चितता नहीं। ऐसी स्थिति में किसी व्यक्ति के अपने से भिन्न धार्मिक विश्वास को अनैतिक अथवा अधार्मिक कहने का क्या अधिकार है? मानव बुद्धि की क्षीणता को दृष्टि में रखते हुए हमें दूसरों के विचारों के प्रति सहिष्णु ही होना चाहिये। इस प्रकार लॉक प्रायः अपरिमित क़ानूनी सहिष्णुता का समर्थन करता है। परन्तु कितनी विलक्षण बात है कि वह अपनी सहिष्णुता से कैथोलिकों, मुसलमानों तथा नास्तिकों को वंचित रखता है। कैथोलिकों को उसने इसलिये वंचित किया क्योंकि उनकी आस्था एक विदेशी शक्ति के प्रति थी; नास्तिकों से वह इसलिये कुपित है कि वे ईश्वर की सत्ता से ही इन्कार करते हैं और मुसलमानों को वह इसलिये सहन नहीं करता क्योंकि वे एक ऐसे विदेशी कानून को मानते थे जो यूरोपीय विधान के विरुद्ध है।

अब हम लॉक के राजनीतिक दर्शन पर आते हैं।

The Two Treatises of Government :— लॉक का राजनीतिक दर्शन उसके दो ग्रंथों 'Two Treatises of Government' में सन्निहित है जो कि, जैसा कि वह भूमिका में कहता है, १६८८ ई० की क्रान्ति तथा इङ्गलैण्ड के सिंहासन पर विलियम के आरूढ़ होने के औचित्य को सिद्ध करने के लिये लिखे गये थे।

१६८८ ई० की 'रक्तहीन क्रांति' ने स्टुअर्ट वंश का अन्त कर दिया और उसके साथ ही राजाओं के दैविक अधिकार के सिद्धान्त की भी प्रतिष्ठा जाती रही। निरंकुश शासन के व्यावहारिक मूल्य तथा आवश्यकता का, जिस पर हॉब्स ने इतना ज़ोर दिया था, महत्त्व एक बड़ी हद तक जाता रहा। इसलिये राजनीतिक आज्ञापालन का एक नवीन सिद्धांत आवश्यक हो उठा और उसे लॉक ने प्रस्तुत किया। इस नवीन सिद्धान्त का केन्द्रीय बिन्दु वह प्राचीन परम्परा थी जिसे लॉक ने सज्जन तथा न्यायशील हूकर (Hooker) के लेखों से ग्रहण किया था। उसका आधार यह विश्वास था कि सरकार समाज की इच्छा पर आधारित है, वह कानून के अधीन है और उसका उद्देश्य जन-कल्याण होना चाहिये। इस परम्परा के ऊपर ज़ोर उस विवादग्रस्त साहित्य में दिया गया था जिसकी रचना १७वीं शताब्दी में हुई और जिसके अधिकांश से लॉक अच्छी तरह परिचित था। लॉक का कार्य यह था कि उसने राजा के ऊपर ब्रिटिश पार्लियामेंट की प्रभुता द्वारा

उत्पन्न नवीन परिस्थितियों के अनुकूल बनाने के लिये उसे नवीन आवरण प्रदान किया। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि लॉक ने संसदात्मक शासन की सैद्धांतिक आधार शिला का आरोपण किया और उसके आधारभूत सिद्धान्तों को व्यक्त किया। उसने इस बात पर ज़ोर दिया कि सरकार जनता का एक ट्रस्ट है। लॉक के उत्तराधिकारियों ने उन स्थितियों को निर्धारित किया जिनमें कि सरकार जनता के ट्रस्टी के रूप में काम कर सकती है। "रिफ़ार्मेशन द्वारा आरंभ किया गया वह महान् विवाद समाप्त हो गया जबकि लॉक ने संसदात्मक सरकार के लिये एक योग्य और सुन्दर आधार प्रस्तुत किया। ह्यूम, बोलिंग्ब्रोक, बर्क, ये सब लोग राजनीतिक व्यवस्था को ऐसा रूप देने में लगे हुए हैं जो कि पूर्व-ज्ञात आधार की स्वीकृति को मान कर चलता है।"*

अपने इस नवीन सिद्धान्त की स्थापना के लिए आधार तय्यार करने के लिए लॉक ने उस प्राचीन सिद्धान्त का खण्डन करना आवश्यक समझा जो कि निरंकुश राजतंत्र को एक दैविक संस्था समझता था। सर रॉवर्ट फ़िल्मर ने इस सिद्धान्त के पक्ष में समस्त पुरानी युक्तियों को अपने ग्रन्थ "Patriarcha or the Natural Power of Kings" में पेश किया जो कि उसके मरने के बाद १६८० ई० में प्रकाशित हुआ था। लॉक ने अपने पहिले ट्रीटाइज़ में फ़िल्मर की युक्तियों का एक एक करके खण्डन किया। इस कार्य के करने में लॉक ने जो तत्परता दिखलाई उससे ऐसा प्रगट होता है कि उस समय इंग्लैण्ड में तथा अन्यत्र राजाओं के दैविक अधिकार के सिद्धान्त को कुछ समर्थक प्राप्त थे। परन्तु आज तो उसका अन्त हो चुका, इसलिये उसके विषय में लॉक के विचारों की समीक्षा करना समय नष्ट करना ही होगा। यहाँ केवल इतना ही कहना काफ़ी होगा कि लॉक के मतानुसार इस बात का कोई प्रमाण नहीं कि इंग्लैण्ड का राजा आदम का कानूनी उत्तराधिकारी है अथवा राजतंत्रीय शासन की स्थापना दैविक इच्छा का परिणाम है। इसके विपरीत इतिहास इस बात का साक्षी है कि सम्पूर्ण शासकीय शक्ति का एकमात्र स्रोत जनता तथा उसका आधार जन-इच्छा है।

प्रोफ़ेसर वॉहन का कहना है कि लॉक की 'ट्रीटाइज़' एक दोनाली बन्दूक़ है, जिसमें से एक फ़िल्मर तथा दूसरी हॉब्स के विरुद्ध तनी हुई है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि लॉक इस बात को अच्छी तरह जानता था कि अपने नवीन सिद्धान्त की स्थापना के लिए उसके लिए फ़िल्मर तथा हॉब्स दोनों का खण्डन करना आवश्यक था। परन्तु उसने जब कि प्रथम 'ट्रीटाइज़' में फ़िल्मर की खुलकर आलोचना की, दूसरी 'ट्रीटाइज़' में उसने हॉब्स की वैसी आलोचना नहीं की; उसके ऊपर प्रहार केवल अप्रत्यक्ष है। अपने तर्क को विकसित करते समय लॉक की आँखें तो सदैव हॉब्स के ऊपर लगी रहीं, किन्तु उसने नाम लेकर खुल्लमखुल्ला उसके मत का खण्डन कभी नहीं किया। खेद है कि लॉक

* Laski : *Political Thought from Locke to Bentham*, page 61.

ने हॉब्स की मान्यताओं के ऊपर प्रत्यक्ष प्रहार नहीं किया और अपने उत्तरदायित्व का पालन नहीं किया। यदि वह ऐसा करता तो उसे समाज तथा शासन के मूल सिद्धान्तों की तह में और अधिक गहरा जाना पड़ता और ऐसा करने से शायद उसका दर्शन उस प्रवंचना से बच जाता जो उसमें पाया जाता है। प्रोफेसर सेबाइन का विचार है कि लॉक ने किसी भी विषय के मूल सिद्धान्तों की समीक्षा नहीं की। "अपर्याप्त विश्लेषण के आधार पर ही उसने बहुत सी बातों को सच्चा मान लिया और ऐसी धारणाओं का सम्मिश्रण कर दिया जो विश्लेषण करने पर परस्पर विरोधी सिद्ध होती हैं।" सेबाइन के उक्त कथन का स्पष्टीकरण लॉक के राजनीतिक दर्शन के निम्नांकित विवरण में किया गया है।

लॉक का राजनीतिक दर्शन— राजनीतिक शक्ति की जो परिभाषा लॉक ने दी है वह उसके राजनीतिक दर्शन की समीक्षा का सर्वोत्तम आरम्भ बिन्दु है। उसका कहना है कि सम्पत्ति को विनियमित तथा सुरक्षित रखने के लिये, कानूनों को क्रियान्वित करने तथा राज्य की बाह्य आक्रमण से रक्षा करने के लिये समाज की शक्ति का प्रयोग करने के लिये, कानून बनाने तथा उन्हें भंग करने पर मृत्यु तथा उससे कम गम्भीर दण्ड देने के अधिकार को राजनीतिक शक्ति कहते हैं। इस परिभाषा से स्पष्ट है कि राज्य का सार उसकी सम्पत्ति के विनियमन तथा सुरक्षा के लिये कानून बनाने तथा उन्हें दण्ड के भय से क्रियान्वित करने की शक्ति में निहित है। कानूनों को क्रियान्वित करने के लिए राज्य द्वारा बल-प्रयोग केवल तभी न्यायोचित हो सकता है जबकि उसे सम्पूर्ण समाज का समर्थन प्राप्त हो और उसका प्रयोग जनहित के लिये हो। इस कथन के प्रत्येक तत्व का हम तनिक विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे।

हम अन्तिम तत्व को सबसे पहिले लेते हैं; वह यह कि केवल सर्वजनहित के लिए ही राज्य को शक्ति प्रयोग करने का अधिकार है। इसका अभिप्राय यह है कि राज्य स्वयं अपना साध्य नहीं है; उसका अस्तित्व जनता के लिए है; जनता उसके लिए जीवित नहीं है। लॉक बार बार इस बात का आग्रह करता है कि शासन का ध्येय समाज का हित है। इसलिये व्यक्तिगत नागरिकों के हितों से भिन्न तथा स्वतन्त्र राज्य के एक कल्पित तथा रहस्यमयी हित की बात करना गलत है। यदि राज्य अथवा सरकार का अस्तित्व ही जन-कल्याण के लिये है तो अपरिहार्य होते हुए भी उसका स्वरूप निस्रोतात्मक (Derivative) हो जाता है। इसका अर्थ यह है कि राज्य एक ऐसा यन्त्र है जिसे मनुष्य ने केवल अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए बनाया है। हॉब्स तथा फिल्मर जिन्होंने कि राज्य को निरंकुश बना दिया था दोनों के लिये यह एक अच्छा उत्तर है। इसलिए हम कह सकते हैं कि लॉक एक व्यक्तिवादी था। उसकी दर्शन प्रणाली का केन्द्र है व्यक्ति तथा उसके अधिकार।

दूसरी बात यह कि लॉक के अनुसार सरकार द्वारा बल-प्रयोग केवल तभी उचित हो सकता है जबकि उसे जनता का समर्थन प्राप्त हो। राज्य की शक्ति सम्पूर्ण जनता

की सामूहिक शक्ति के अतिरिक्त और क्या है ?

इससे एक महत्त्वपूर्ण तथा आधारभूत प्रश्न खड़ा होता है। जनता सरकार को इतनी ज़बर्दस्त शक्ति क्यों प्रदान करती है कि वह किसी भी व्यक्ति को मृत्युदण्ड तक दे सके और जनता उसे क्यों सहन करती है ? इस प्रश्न का उत्तर देने में ही लॉक इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है कि शासन का आधार जन-इच्छा है और अल्पमत को प्रत्येक विषय में बहुमत का शासन मानना चाहिये। स्पष्ट है कि यह राजनीतिक कर्त्तव्य-पालन का प्रश्न है। वह उस भूमि पर चलता है जिस पर कि हॉब्स अपने 'लेवियाथान' में चल चुका है; किन्तु वह उसके प्रत्येक आधार को ठुकराता है और एकदम भिन्न परिणाम पर पहुँचता है। यहाँ लॉक की मान्यता का एक पहलू उल्लेखनीय है जो कि उसके व्यक्तिवाद से ताल नहीं खाता। लॉक कहता है कि क़ानूनों को क्रियान्वित करने में सरकार सम्पूर्ण समाज की शक्ति का प्रयोग करती है। इसका अर्थ यह हुआ कि समाज एक योग मात्र नहीं है बल्कि उसकी एक निजी आत्मा है ; उसका एक निगमात्मक स्वरूप है ; वह एक वास्तविकता है, कल्पना नहीं। यह मान्यता लॉक के लिए सरल थी क्योंकि यह एकदम उस मध्यकालीन परम्परा के अनुसार थी जो कि उसे हूकर से प्राप्त हुई थी। परन्तु इसकी ताल उस व्यक्तिवाद तथा उदारवाद से नहीं बैठती जो कि उस संविदा सिद्धान्त के आधार हैं जो कि उसके राजनीतिक चिन्तन का एक महत्त्वपूर्ण भाग है। इसकी ताल उसकी प्राकृतिक अधिकारों (जिनकी रक्षा के लिए समाज का जन्म हुआ) की धारणा से भी नहीं खाती।

लॉक की राजनीतिक शक्ति की परिभाषा में तीसरा तत्त्व यह है कि इसे सम्पत्ति के विनियमन तथा प्रतिरक्षण के लिए क़ानून बनाने का अधिकार है। इस का अर्थ यह है कि सामाजिक जीवन के लिए क़ानून अपरिहार्य हैं और वे सम्पत्ति के विनियमन तथा प्रतिरक्षण के लिए बनाये जाते हैं। सम्पत्ति शब्द का अर्थ लॉक बहुत व्यापक अर्थों में करता है ; उसके लिए सम्पत्ति में जीवन, स्वतन्त्रता तथा मनुष्य का धन सम्मिलित हैं। यह एक प्राकृतिक अधिकार है जिसका उपभोग मनुष्य राज्य के जन्म से पूर्व की प्राकृतिक अवस्था में करता था। वर्त्तमान स्थिति में इसका महत्त्व यह है कि यह सरकार की शक्तियों के ऊपर एक सीमा है। सरकार जन-इच्छा के बिना सम्पत्ति का हरण नहीं कर सकती क्योंकि क़ानून बनाये ही सम्पत्ति की रक्षा के लिए जाते हैं। इस प्रकार लॉक की सरकार नागरिकों के कुछ अकाट्य अधिकारों के कारण सांविधानिक हो जाती है।

सम्पूर्ण परिभाषा से यह बात भी स्पष्ट रूप से लक्षित है कि सरकार को जनता के प्रति उत्तरदायी होना चाहिये। सरकार अच्छी है या नहीं, इस बात की सर्वोत्तम निर्णायक जनता है।

उन मूलभूत सिद्धान्तों का जो कि मध्यकालीन परम्परा के अंग थे और जो हूकर द्वारा लॉक तक पहुँचे तथा उन सांविधानिक आदर्शों का जो कि १६८८ के 'सैटिलमेंट'

का आधार थे, सार सैबाइन के निम्नांकित शब्दों में निहित है ; लॉक के राजनीतिक दर्शन का तत्त्व इन शब्दों में पाया जाता है : "सरकार, विशेष रूप से राजा, परन्तु स्वयं संसद भी कुछ कम नहीं, तथा प्रत्येक राजनीतिक अभिकरण अपने द्वारा शासित लोगों के प्रति उत्तरदायी है। उसकी शक्ति नैतिक नियमों तथा राज्य के इतिहास में निहित अभिसमयों और सांविधानिक परम्पराओं द्वारा सीमित है। सरकार अपरिहार्य है, इस लिये उसका अधिकार एक प्रकार से अकाट्य है ; परन्तु इसका अस्तित्व राष्ट्र के कल्याण के लिए है, इसलिये एक प्रकार से उसका स्वरूप निःसृत है।"* इन तत्त्वों का संक्षिप्त वर्णन हम स्पष्ट रूप से इस प्रकार कर सकते हैं। राज्य का अस्तित्व जनता के कल्याण के लिए है। इसलिये वह विधानानुसार तथा उसका अधिकार सीमित होना चाहिये। यदि वह समाज के हितों का पालन नहीं करता अथवा उनकी इच्छा के ऊपर निर्भर नहीं करता या अपने प्राधिकार का अतिक्रमण करता है तो उसे उलट देना सर्वथा उचित होगा।

लॉक की युक्तियाँ— अब तक हमने लॉक के दर्शन के आधारभूत सिद्धान्तों का वर्णन किया है। उसने राज्य के अपने रचनात्मक सिद्धान्त को किस प्रकार विकसित किया, इसका तनिक अधिक विस्तार के साथ वर्णन करना आवश्यक प्रतीत होता है। इस प्रसंग में पहिली बात जो हमें ध्यान में रखनी चाहिये यह है कि अन्य दर्शन पद्धतियों के समान लॉक का दर्शन भी उसके मानव स्वभाव सम्बन्धी दृष्टिकोण पर आधारित है। यह पहिले ही कहा जा चुका है कि लॉक के समय में दैविक अधिकार के सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए संविदा सिद्धान्त के अतिरिक्त और कोई विकल्प न था। संविदा सिद्धान्त में तीन बातें सन्निहित हैं :— (१) प्राकृतिक अवस्था जिसमें कि राज्य के निर्माण से पूर्व मनुष्य का रहना माना जाता है, (२) वह सामाजिक संविदा जिसके द्वारा प्राग्-राजनीतिक अवस्था से राज्य का आवर्त्तन हुआ है, तथा उस आवर्त्तन का ध्येय, और (३) राजनीतिक समाज। इन तीनों बातों में लॉक के विचार हॉब्स के विचारों से एकदम भिन्न तथा उनके विरुद्ध थे। इस मतवैभिन्य का परिणाम यह हुआ कि जबकि हॉब्स निरंकुशवाद का पोषक बन गया, लॉक ने संविधान-

* "The government— the king specifically but not less parliament itself and every political agency— is responsible to the people or the community which it governs; its power is limited both by moral law and by the constitutional traditions and conventions inherent in the history of the realm. Government is indispensable and its right is therefore in a sense indefeasible, but it is also derivative in the sense that it exists for the well-being of the nation."

—Sabine: *History of Political Theory*, Chapter XXVI, page 524.

वाद अथवा सीमित सरकार और शासित की इच्छा के ऊपर आधारित शासन का समर्थन किया।

यहाँ हम सबसे पहिले लॉक द्वारा वर्णित प्राकृतिक अवस्था तथा उसमें जिस प्रकार का जीवन व्यतीत किया हुआ माना जाता है उसे लेते हैं। यह निर्भर करता है उसकी मानव स्वभाव सम्बन्धी धारणा के ऊपर। यद्यपि हॉब्स के सदृश लॉक यह मानता था कि समस्त मानवीय क्रियाओं का स्रोत इच्छा है और इच्छा के तृप्त होने से सुख तथा इच्छा पूर्ति में बाधा पड़ने से दुख का अनुभव होता है; और यद्यपि वह यह भी मानता था कि मानवीय कर्म का ध्येय दुख के स्थान में सुख को प्राप्त करना है, तथापि वह हॉब्स की इस धारणा से बहुत दूर था कि मनुष्य अहंकारवादी, प्रतिस्पर्धामयी, झगड़ालू तथा स्वभाव से ही आक्रांता है और प्राकृतिक अवस्था 'प्रत्येक का समस्त के विरुद्ध युद्ध' की अवस्था है। लॉक इस गलत धारणा से इसलिये बच निकला क्योंकि वह यह मानता था कि मूल रूप से मनुष्य सौजन्यपूर्ण, शांति-प्रिय तथा सामाजिक होते हैं और उनमें स्वशासन की पूर्ण सामर्थ्य होती है। वह इस परिणाम पर इसलिये पहुँचा क्योंकि वह विवेकशीलता को मनुष्य का व्यापक गुण समझता था। मनुष्य को प्रकृति द्वारा प्रदत्त बुद्धि के प्रकाश को लॉक 'दैविक प्रकृति का स्फुलिंग' कह कर पुकारता है। यह प्रकाश मनुष्य को उस प्राकृतिक क़ानून के अनुसार आचरण करने की सामर्थ्य प्रदान करता है जो कि समस्त वस्तुओं में निहित है। इसी 'दैविक प्रकृति के स्फुलिंग' के वर्तमान रहने के कारण मनुष्य समाज की ओर प्रवृत्त होता है और यही प्राकृतिक अवस्था में शासन बल के अभाव में भी काफी हद तक व्यवस्था बनाये रखता है। इससे यह बात लक्षित होती है कि प्राकृतिक अवस्था 'प्रत्येक का सबके विरुद्ध युद्ध' की अवस्था नहीं हो सकती थी; कि वह 'शान्ति, सद्भावना, परस्पर सहायता तथा प्रतिरक्षण' की अवस्था थी। प्राकृतिक अवस्था में मनुष्यों में सबसे मजबूत बन्धक सूत्र था सामाजिकता। प्राकृतिक अवस्था में वे 'अपना कार्य करने, तथा अपनी सम्पत्ति और अपने शरीर का प्रयोग करने की पूर्ण स्वतन्त्रता की स्थिति में रहते थे। यद्यपि यह स्वतन्त्रता प्राकृतिक क़ानून की सीमाओं के अन्दर होती थी, तथापि उसके लिये किसी दूसरे मनुष्य से अनुमति लेनी नहीं पड़ती थी; किसी की इच्छा पर निर्भर नहीं करना पड़ता था।' प्राकृतिक अवस्था में पूर्ण रूप से भ्रातृत्व तथा न्याय की भावना का साम्राज्य था। इस प्रकार हम देखते हैं कि यह अवस्था हॉब्स द्वारा चित्रित उस प्राकृतिक अवस्था से एकदम भिन्न थी जिसमें मनुष्य निरन्तर एक दूसरे से भयभीत रहते थे; जिसमें शत्रुता, द्वेष, हिंसा, तथा परस्पर भर्त्सना का साम्राज्य था, और इसलिये जहाँ जीवन 'दीन, पाशविक, गर्हित तथा लघु था।' कहा जा सकता है कि लॉक के अनुसार प्राग्-राज्य अवस्था में मनुष्य जीवन कुछ कुछ वैसा ही था जैसा कि स्टोइक्स ने अपनी धारणा के स्वर्णिम युग में, अथवा प्राचीन भारत के तत्त्व-

वेत्ताओं ने अपनी धारणा के सत्युग में चित्रित किया है। मनुष्य सुखी एवं निष्पाप जीवन व्यतीत करते थे; वे समान और स्वतन्त्र थे क्योंकि कोई भी दूसरे की इच्छा के ऊपर निर्भर नहीं करता था और प्रत्येक व्यक्ति अपनी सम्पत्ति तथा जीवन का प्रयोग अपनी इच्छानुसार कर सकता था। मनुष्य सामाजिक भी थे क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर प्रत्येक व्यक्ति अपने पड़ौसी की सहायता करना अपना धर्म समझता था।

प्राकृतिक अवस्था में न्याय, मैत्री, सद्भावना तथा परस्पर सहयोग की भावना का आधारभूत कारण यह है कि उसमें मनुष्य का आचरण प्राकृतिक क़ानून के अनुसार था। लॉक के अपने ही शब्दों में: "प्राकृतिक अवस्था में उसे शासित करने के लिए एक प्राकृतिक क़ानून होता है जो प्रत्येक को विवश करता है, और प्रज्ञा जो कि उस क़ानून का ही दूसरा नाम है, सम्पूर्ण मानव जाति को जो उससे काम लेना चाहे यह सिखाता है कि सब लोग समान तथा स्वतंत्र हैं, इसलिये किसी को भी दूसरे के जीवन, स्वास्थ्य, स्वतंत्रता तथा सम्पत्ति को क्षति नहीं पहुँचानी चाहिये। .... और समस्त मनुष्यों को दूसरों के अधिकारों को भंग करने तथा दूसरों को आघात पहुंचाने से रोकने के लिये और उस प्राकृतिक क़ानून का पालन कराने के लिये जो कि शांति तथा सम्पूर्ण मानव जाति का प्रतिरक्षण चाहता है, प्राकृतिक अवस्था में प्राकृतिक क़ानून के क्रियान्वीकरण का कार्य प्रत्येक व्यक्ति के हाथों में रहता है, जिसके द्वारा प्रत्येक को क़ानून भंग करने वाले को उतना दण्ड देने का अधिकार है जितना कि क़ानून भंग को रोकने के लिए पर्याप्त हो।"*

प्राकृतिक क़ानून की यह धारणा लॉक के चिन्तन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। यह मानव जीवन का न केवल प्राकृतिक अवस्था में बल्कि राजनीतिक समाज में भी उसका निर्देशन करती है। इसलिये इसने लॉक की न केवल प्राकृतिक अवस्था के जीवन सम्बन्धी धारणा को निर्धारित किया, वरन् उसकी राज्य सम्बन्धी धारणा पर भी बड़ा गहरा प्रभाव डाला। यदि हम इसे एक बार सत्य मान लें तो हमें हॉब्स की अपेक्षा लॉक का राजनीतिक दर्शन ही अधिक मान्य होगा।

---

* "The state of nature has a law of nature to govern it, which obliges every one; and reason which is that law, teaches all mankind who will but consult it that, being all equal and independent, no one ought to harm another in his life, health, liberty and possessions. ...... And that all men may be restrained from invading others' rights and from doing hurt to one another, and the law of nature be observed, which wills the peace and preservation of all mankind, the execution of the law of nature is, in that state, put into every man's hands, whereby every one has the right to punish the transgressor of that law to such a degree as may hinder its violation." Locke's *Essay of Civil Government*, Chapter II, Sections 6 and 7.

उपरोक्त उद्धरण में प्राकृतिक कानून को लॉक ने विवेक के समरूप बताया है। उसका यह भी कहना है कि उसे जानने के लिये मनुष्य को केवल अपनी दृष्टि को अन्तर्मुखी करना होगा; ईश्वर ने उसे प्रत्येक मनुष्य के हृदय में आरोपित कर दिया है। जब ईश्वर ने मनुष्य की सृष्टि की और पृथ्वी पर उसका अवतरण किया तो उसने उसे उसके पथ-प्रदर्शक के रूप में प्रज्ञा प्रदान की। यह प्रज्ञा ही समस्त मनुष्यों को समान, स्वतन्त्र तथा समाजप्रिय बनाती है। क्योंकि समस्त मनुष्य 'एक ही सर्वशक्तिमान् एवं सर्वज्ञ सृष्टिकर्ता की कृति हैं, जोकि संसार में उसी के आदेशानुसार और उसी का कार्य करने के लिए आये हैं; इसलिए वे सब समान तथा स्वतन्त्र हैं; कोई भी किसी दूसरे की इच्छा पर आश्रित नहीं है, और कोई भी किसी अन्य व्यक्ति के जीवन तथा स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं कर सकता, अथवा किसी को अपने निजी सुख का साधन मात्र नहीं बना सकता। क्योंकि समस्त मनुष्य प्रभु की सन्तान हैं और सभी को उसने विवेक प्रदान किया है, इसलिये प्रकृति के कानून के अनुसार आचरण करना सभी का स्वाभाविक कर्त्तव्य है। मनुष्यों को एक दूसरे के अधिकारों पर आक्रमण करने से रोकने के लिए तथा प्रकृति के क़ानून का पालन कराने के लिये, प्राकृतिक अवस्था में इस क़ानून के क्रियान्वीकरण का कार्य प्रत्येक मनुष्य के हाथ में रखा गया है। जब किसी मनुष्य के साथ कोई अन्याय हो, अथवा उसके किसी पड़ौसी के साथ अत्याचार किया जाये तो आक्रांता को दण्ड देने तथा क़ानून की रक्षा करने का प्रत्येक मनुष्य को अधिकार है। यही वह शक्ति है जिसके कारण प्राकृतिक अवस्था में शान्ति एवं परस्पर सहयोग की भावना का साम्राज्य रहता है। इससे स्पष्ट है कि लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था अराजनीतिक तो है, किन्तु असामाजिक नहीं है; वह पूर्णरूपेण सामाजिक है। इसमें मैत्री एवं परस्पर सहायता की भावना का प्रसार रहता है; सरकार के न होते हुए भी उसमें काफी व्यवस्था पाई जाती है।

प्राकृतिक अवस्था के उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि उसमें प्रत्येक मनुष्य कुछ ऐसे अधिकार रखता था जिनसे उसे कोई भी वंचित नहीं कर सकता था। 'जीवन, स्वास्थ्य, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति' को सुरक्षित रखने का अधिकार, समता, तथा प्रकृति के क़ानून को स्वयं क्रियान्वित करने का अधिकार उसमें शामिल थे। इसका अर्थ यह है कि प्राकृतिक अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को क़ानून भंग करने वाले को दण्ड देने का अधिकार था; किन्तु यह दण्ड उसी मात्रा में होना चाहिये जिसमें कि वह कानून भंग को रोकने के लिए आवश्यक हो। अपराधी को दिया जाने वाला दण्ड 'निःशान्त विवेक तथा अन्तःकरण की आवाज' के अनुसार होना चाहिये; वह मनमाना और ऐसा नहीं होना चाहिये जिसका अपराध से कोई अनुपात ही न हो।

यहाँ पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि यदि प्राकृतिक अवस्था इतनी सुन्दर और सुखद थी जितनी कि ऊपर चित्रित की गई है तो उसका अन्त कर के

राज्य का निर्माण करने तथा अपने आप को अपने ही साथियों के अनुशासन में कर देने की इच्छा मनुष्य को क्यों हुई ? हॉब्स द्वारा अंकित प्राकृतिक अवस्था में तो राज्य का निर्माण करने का उद्देश्य बिल्कुल स्पष्ट है । उसमें संकट था, संघर्ष था और जीवन दीन, पाशविक, गर्हित तथा लघु था। प्रकृति के कानून की पहली मांग है उसे समाप्त कर देना तथा शान्ति की खोज तथा साधना करना । लॉक के सामने ऐसा कोई उद्देश्य नहीं; जैसा कि हम बार बार कह चुके हैं, उसकी कल्पना की प्राकृतिक अवस्था में शान्ति तथा सद्भावना थी, संघर्ष और कलह नहीं । इस प्रश्न का जो उत्तर लॉक ने दिया है उसे हम द्वितीय ट्रीटाइज़, जिसे 'ऐसे ऑफ़ सिविल गवर्नमेंट' भी कहते हैं, के दूसरे तथा सातवें अध्यायों में खोज सकते हैं। ७वाँ अध्याय इस प्रकार आरम्भ होता है: "ईश्वर ने मनुष्य रूपी एक ऐसे जीव की सृष्टि करके जिसका कि उसके मतानुसार अकेला रहना उसके लिये (मनुष्य के लिये) श्रेयस्कर न था, उसे आवश्यकता, सुविधा तथा सामाजिक जीवन व्यतीत करने की प्रवृत्ति की तीव्र भावनाओं से ओतप्रोत कर दिया; और इसके साथ ही साथ उसे समाज को कायम रखने तथा उसका आनन्दोपभोग करने के लिये बुद्धि तथा भाषा भी प्रदान की।" दूसरे शब्दों में, उसके अनुसार मनुष्य का आन्तरिक स्वभाव ही उसे सामाजिक समूह बनाने को प्रेरित तथा विवश करता है। ऐसा प्रथम समूह परिवार है, राज्य तथा सरकार उसके पीछे आये। जहाँ तक लॉक की इस धारणा का सम्बन्ध है कि प्रकृति ने मनुष्य को सब से पहिले परिवार का निर्माण करने को विवश किया, उसके विचार अरस्तु के इस विचार से भिन्न नहीं मालूम होते कि मनुष्य एक सामाजिक अथवा राजनीतिक प्राणी है। परन्तु लॉक के मतानुसार राज्य की उत्पत्ति का कारण मनुष्य ही की सामाजिकता नहीं है । जिस प्रकार का जीवन मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में व्यतीत करता था वह कदाचित् उसके सामाजिक स्वभाव की माँगों की पूर्ति भी कर सकता था। इसलिये लॉक को राज्य के जन्म के लिये सामाजिक स्वभाव की अपेक्षा कहीं अन्यत्र ही खोज करनी पड़ी। राज्य के निर्माण का कारण उसने ट्रीटाइज़ के दूसरे अध्याय में वर्णित किया है। वहाँ वह स्वीकार करता है कि प्राकृतिक अवस्था के जीवन में एक गम्भीर दोष पाया जाता है। उसमें प्रत्येक मनुष्य को प्रकृति के कानून को लागू करने तथा उसे भंग करने वाले को दण्ड देने का अधिकार था। स्पष्ट है कि स्वयं अपने ही मामले में किसी का न्यायाधीश बन जाना उचित नहीं; क्योंकि आत्म-प्रेम मनुष्य को अपने तथा अपने मित्रों के प्रति पक्षपात से भर देता है; दुष्ट स्वभाव, क्रोध तथा प्रतिकार भावना के कारण दूसरों को दण्ड देने में वह मर्यादाओं का अतिक्रमण कर सकता है। इसका परिणाम विभ्रम तथा अव्यवस्था के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ? लॉक ने देखा कि इस युक्ति में कुछ बल है, कुछ सार है, और उसने कहा कि प्राकृतिक अवस्था के इस दोष का एकमात्र निदान राज्य है; राज्य ही मनुष्य के पक्षपात तथा हिंसा भावना को संयत रख सकता है। लॉक का यह

मान लेना उसकी इस मूल धारणा से ताल नहीं खाता कि प्रकृति का कानून प्रत्येक उस व्यक्ति को जो कि उसे समझने का यत्न करता था, स्पष्ट रूप से ज्ञात था, और उस कानून की मांग यह थी कि निःशांत विवेक तथा अन्तःकरण के आदेशानुसार ही दण्ड देना चाहिये और केवल उतनी ही मात्रा में देना चाहिये जितना कि अपराधी को मर्यादित रखने के लिए पर्याप्त हो। तथापि इसमें लॉक को प्रकृति के कानून को क्रियान्वित करने के उत्तर-दायित्व को 'पक्षपातपूर्ण व्यक्तियों से हटाकर अपेक्षाकृत निष्पक्ष समाज' को सौंप देने का अच्छा कारण मिल गया। इसके साथ ही साथ उसने यह भी कहा कि इस शक्ति को किसी निरंकुश राजा के हाथ में नहीं सौंपना चाहिये जो अपने प्रजाजन से मनमाना आचरण कर सकता है और उन्हें अपने कर्मचारियों की आलोचना करने तथा उन्हें नियंत्रित करने की स्वतन्त्रता से सर्वथा वंचित कर सकता है। किसी एक व्यक्ति विशेष की अन्यायपूर्ण इच्छा के सामने समर्पण करने की अपेक्षा तो असुविधापूर्ण प्राकृतिक अवस्था में ही रहना कहीं अधिक अच्छा होगा। इसलिये वह एक ऐसी शासन पद्धति कायम करना चाहता था जो नागरिकों की कार्य-स्वतन्त्रता पर अनुचित बन्धन न लगाये। इस उद्देश्य की पूर्ति उस संविदा द्वारा हुई जो कि लोगों ने एक राजनीतिक समाज का निर्माण करने के लिये आपस में किया। आइये, अब इस संविदा का विश्लेषण और परीक्षण करें।

सामाजिक संविदा (The Social Contract)— जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, प्राकृतिक अवस्था में पाई जाने वाली असुविधाओं से बचने के लिए मनुष्य एक समझौते द्वारा राज्य का निर्माण करते हैं। यह समझौता प्रत्येक का सब के साथ होता है; इसका स्वरूप सामाजिक है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति सम्पूर्ण समाज को (किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह को नहीं जैसा कि हॉब्स कहता था) अपने केवल वे प्राकृतिक अधिकार देने को तय्यार होता है जिनके प्रयोग से प्राकृतिक अवस्था में कुछ गड़बड़ पैदा होती थी और शान्ति अरक्षित हो उठती थी। ये अधिकार थे : अपने लिए प्रकृति के कानून की व्याख्या करना, उसे क्रियान्वित करना, और उसे भंग करने वाले को दण्ड देना। शेष अधिकार राज्य में व्यक्तियों के पास ही सुरक्षित रहते हैं और राजनीतिक नियंत्रण को मर्यादित करते हैं। क्योंकि हमें यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये कि लॉक के अनुसार समझौता करके कोई भी व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता के ऊपर कोई ऐसा बन्धन स्वीकार नहीं करेगा जो कि उसे दूसरों के आक्रमण से सुरक्षित करने के लिए आवश्यक न हो। दूसरी बात ध्यान में रखने की यह है कि प्रकृति के कानून की व्याख्या करने तथा उसे लागू करने वाला राज्य स्वयं भी उससे उतना ही बाधित है जितना कि प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति। जैसा कि स्वयं लॉक कहता है, 'प्राकृतिक कानून की वाध्यतायें समाज में समाप्त नहीं हो जातीं।' इस प्रकार सरकार के ऊपर दोहरा नियंत्रण लग जाता है : इसे जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के उन प्राकृतिक

अधिकारों का सम्मान करना पड़ता है जिनका उपभोग मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में करते थे, और उसे स्वयं प्रकृति के कानून का भी पालन करना पड़ता है। सारांश यह कि हॉब्स के सामाजिक समझौते के विपरीत जो कि शासक को अपरिचित तथा निरंकुश शक्तियाँ प्रदान करता था, लॉक का मौलिक समझौता समाज को केवल परिमित शक्तियाँ ही प्रदान करता है। यह दासता का पट्टा नहीं, स्वतन्त्रता का पत्र है। लॉक के हाथों में पड़कर संविदा सिद्धान्त उसी उद्देश्य की पूर्ति करता है जिसके लिये कि मूल रूप से उसका प्रतिपादन किया गया था; अर्थात् शासक की निरंकुश शक्ति के दावे के विरुद्ध व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा करना। यह कहने की आवश्यकता तो शायद न हो कि लॉक इसका प्रयोग अधिकाधिक व्यक्ति की प्राकृतिक स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के लिए करता है।

लॉक की संविदा की दूसरी मुख्य विशेषता यह है कि वह सर्वसम्मति से किया जाता है। प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य स्वतन्त्र और स्वाधीन हैं, इसलिए किसी को भी उसकी इच्छा के विरुद्ध राज्य का सदस्य बनने के लिए विवश नहीं किया जा सकता। जो लोग राज्य से बाहर रहना चाहें वे प्राकृतिक अवस्था में रह सकते हैं। अभिप्राय यह है कि लॉक के अनुसार राज्य जन-इच्छा पर आधारित होना चाहिये।

यदि सरकार का आधार रज़ामन्दी है तो संविदा को मान्य होने के लिये प्रत्येक पीढ़ी का उसे पुनः स्वीकार करना आवश्यक है। परन्तु सही अर्थों में तो सामाजिक संविदा केवल एक बार ही हो सकती है। तब, बाद की संतति की रज़ामन्दी कैसे प्राप्त की जाये? लॉक इस समस्या का निदान यह कहकर करता है कि यदि परिपक्व अवस्था को प्राप्त कर लेने पर भी व्यक्ति अपने जन्म के देश की सरकार द्वारा की गई सेवाओं को स्वीकार करते रहें तो समझ लेना चाहिये कि उन्होंने अपनी रज़ामन्दी दे दी। सैद्धांतिक रूप से यह युक्ति सारपूर्ण दिखाई पड़ती है; कोई भी वयस्क अपने लिये समाज और राज्य का चयन करने के लिए स्वतन्त्र है; किन्तु यह कोई यथार्थवादी निराकरण नहीं है। इस प्रकार की स्वतन्त्रता विरले ही व्यक्तियों को प्राप्त है।

यह संविदा न केवल सर्वसम्मति से होती है, बल्कि लॉक के अनुसार वह अटल भी है क्योंकि एक बार कर लेने पर लोग इससे मुकर नहीं सकते। हाँ, यदि किसी संकटवश उनके द्वारा बनाई गई सरकार ही विनष्ट हो जाये तो बात दूसरी है।

लॉक के संविदा सिद्धान्त में अंतिम बात ध्यान देने योग्य यह है कि यद्यपि राज्य का निर्माण करने वाले मूल समझौते के लिये सर्वसम्मति आवश्यक है किन्तु राज्य के यह निर्धारित करने में कि अपराध क्या है और उसका क्या दण्ड होना चाहिये सर्वसम्मति आवश्यक नहीं है। राज्य द्वारा बनाये जाने वाले कानूनों में बहुमत शासन का नियम कार्य करता है। सामाजिक समझौते में बहुमत शासन का सिद्धान्त अनिवार्य रूप से निहित है; इस सिद्धान्त को स्वीकार किये बिना कोई भी सामूहिक कार्य असम्भव हो जाता है और

संविदा का सारा महत्त्व ही जाता रहता है। लॉक के अपने ही शब्दों में, "प्रत्येक व्यक्ति दूसरों के साथ एक सरकार की अधीनता में एक राज्य के निर्माण करने की अनुमति देता है। इस प्रकार वह अपने आपको बहुमत के निर्णय के सामने झुकने तथा उससे संचालित होने के लिये बाधित करता है। अन्यथा वह मूल संविदा जिसके द्वारा उसने दूसरों के साथ मिलकर समाज की रचना की है निरर्थक हो जायेगा और वह संविदा ही नहीं रहेगा।"* लॉक की यह धारणा एकदम सही है कि एक जीवित समाज के निर्णयों को सर्वसम्मति के आश्रित नहीं किया जा सकता; ऐसा हो सकता है कि कुछ लोग कमज़ोरी, बीमारी अथवा व्यस्त होने के कारण किसी कार्यवाही में भाग न लें, और कुछ लोग मतवैभिन्य के कारण किसी नीति विशेष को स्वीकार न करें। इसलिये अल्पमत के लिए बहुमत के निर्णय को स्वीकार कर लेना एक अपरिहार्य आवश्यकता है। परन्तु लॉक ने इस बात को स्पष्ट नहीं किया कि उस अल्पमत के विषय में जिसे सहमत न होते हुए भी बहुमत के निर्णय को मानना पड़ता है, यह कैसे कहा जा सकता है कि वह स्वतंत्र और समान है और उसकी रज़ामन्दी से ही उस पर शासन होता है। यदि व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार अपहरणीय हैं तो बहुमत को भी उसे उनसे वंचित करने का अधिकार उससे अधिक नहीं है जितना कि किसी एक व्यक्ति को है। इस बात का भी कोई उचित कारण नहीं है कि कोई व्यक्ति अपने निजी निर्णय का केवल इसलिए परित्याग कर दे क्योंकि बहुत से लोग उसकी बात से सहमत नहीं हैं। लॉक ने इन समस्याओं का कोई युक्तियुक्त समाधान नहीं किया। केवल यह कह देना कि बहुमत शासन मूल संविदा में ही निहित है तो इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं है। बहुमत शासन का सिद्धान्त इतना मान्य नहीं है जितना कि लॉक उसे समझता था।

अब हम लॉक के संविदा सिद्धान्त में पाई जाने वाली अस्पष्टताओं तथा अनिश्चितताओं का उल्लेख करेंगे। पहिली ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि वह बार बार 'मूल संविदा' (original contract) का उल्लेख करता है जिसके द्वारा मनुष्य एक राजनीतिक समाज में संघटित होने के लिये सहमत होते हैं।

इस भाषा से ऐसा लक्षित होता है कि लॉक केवल एक ही संविदा की कल्पना करता है और उसके मूल संविदा द्वारा राजनीतिक समाज, अर्थात् राज्य की स्थापना हो जाती है। इससे यह व्यंजित नहीं होता कि वह सरकार तथा उसके संस्थानों

* "Every man, by consenting with others to make one body politic under one government, puts himself under an obligation to every one of that community to submit himself to the determination of the majority and to be concluded by it; or else this original contract, whereby he with others incorporates into one society, would signify nothing and be no contract."

की भी सृष्टि करता है क्योंकि राज्य और सरकार दो विभिन्न चीज़ें हैं और लॉक इस तथ्य को मानने वाले प्रथम विचारकों में से एक था। अपनी द्वितीय ट्रीट्राइज़ में एक स्थान पर वह कहता है कि यह आवश्यक नहीं कि वह राजनीतिक क्रान्ति जोकि एक सरकार को विनष्ट कर देती है, उस राजनीतिक समाज को भी नष्ट कर दे जिसके ऊपर कि सरकार शासन करती है। परन्तु लॉक ने यह बात स्पष्ट नहीं की कि सरकार का निर्माण कब और कैसे हुआ। इस कठिनाई का निराकरण सैबाइन सरीखे लेखक यह कह कर करना चाहते हैं कि लॉक की स्थिति अल्थूसियस तथा पफ़ेन्डोर्फ़ के सदृश थी जिन्होंने कि दो संविदाओं की कल्पना की थी, एक व्यक्तियों के बीच में जिसके द्वारा समाज की रचना हुई, और दूसरा समाज तथा सरकार के बीच में। इस दोहरे समझौते का उल्लेख लॉक ने कहीं नहीं किया; किन्तु यह उसके कुछ शब्दों में लक्षित मालूम होता है। कुछ दूसरे लेखकों की धारणा यह है कि यद्यपि लॉक राज्य और सरकार में विभेद करता है तथापि सरकार की रचना के लिए दूसरे समझौते का वह लक्षणा द्वारा भी संकेत नहीं करता; उसमें केवल एक समझौता पाया जाता है जिसके द्वारा राजनीतिक समाज की रचना होती है। कोई भी राजनीतिक समाज सरकार के बिना न जीवित रह सकता है और न कार्य कर सकता है, इसलिए उसका प्रथम कार्य होता है सरकार की स्थापना करना जिसका कार्य है समाज के जीवन, शरीर तथा सम्पत्ति की रक्षा करना। लॉक कहता है: "कोई भी राजनीतिक समाज अपने समस्त सदस्यों के अपराधों को दण्डित करने की शक्ति के बिना न हो सकता है, न कायम रह सकता है। इसलिये राजनीतिक समाज वहीं और केवल वहीं हो सकता है जहाँ कि प्रत्येक सदस्य ने अपनी प्राकृतिक शक्ति का परित्याग करके उसे सम्पूर्ण समाज के हाथों में सौंप दिया हो।······ जो लोग एक समाज में संगठित होते हैं और एक सामान्य कानून तथा न्यायपालिका की स्थापना करते हैं, जिसे उनके झगड़ों का निर्णय करने तथा अपराधियों को दण्ड देने का अधिकार होता है, एक राजनीतिक समाज में एक दूसरे के साथ एकरूप हो जाते हैं।"* इससे यह परिणाम निकलता है कि राजनीतिक समाज का निर्माण तब तक पूर्ण नहीं समझा जा सकता जब तक कि वह सरकार की स्थापना न करे। जिस उद्देश्य के लिए समाज की स्थापना हुई उसकी पूर्ति

* "Because no political society can be, nor subsist, without having in itself the power to punish the offences of all those of that society, there and there only is political society where every one of the members has quitted his natural power, resigned it up into the hands of the community...... Those who are united into one body and have a common established law and judicature to appeal to, with authority to decide controversies between them and punish offenders, are in civil society one with the other." —*Second Treatise*, section 87.

के लिए सरकार का निर्माण करना उसका प्रथम कार्य होता है। कहा जा सकता है कि राजनीतिक समाज तथा सरकार का जन्म साथ साथ होता है; उत्तरोक्त पूर्वोक्त का चिह्न है। यह प्रश्न कि लॉक के अनुसार एक समझौता हुआ है या दो समझौते हुए हैं कोई महत्त्वपूर्ण नहीं है।

इस प्रसंग में कभी कभी उठने वाला एक अन्य प्रश्न भी उल्लेखनीय है। क्या वह समझौता जिसके द्वारा कि लॉक राज्य की रचना होना मानता था, एक ऐतिहासिक तथ्य है, अथवा केवल एक दार्शनिक विचार? यदि मनुष्य सचमुच कभी प्राकृतिक अवस्था में रहते थे और एक सामाजिक समझौते द्वारा उन्होंने राजनीतिक समाज में पदार्पण किया तो हमें संविदा को एक ऐतिहासिक तथ्य मानना होगा। यदि प्राकृतिक अवस्था का अभिप्राय एक ऐसी अवस्था से है जिसमें कि मनुष्यों का रहना माना जाना चाहिये; यदि यह उस जीवन का केवल एक कल्पित (hypothetical) विवरण है जो कि मनुष्य उस अवस्था में व्यतीत करता होगा जब कि हमारी कल्पना के अनुसार मानव के सामाजिक कार्यों और सम्बन्धों को विनियमित करने वाली कोई शक्ति न हो, जैसा कि हॉब्स उसे समझता था, तब समझौता एक दार्शनिक विचार मात्र रह जाता है जो कि राजनीतिक समाज का विश्लेषण करने तथा उसे समझने में हमारी सहायता करता है। लॉक समझौते को दार्शनिक एवं ऐतिहासिक दोनों ही मानना चाहता है। इस प्रश्न का कि 'ऐसी प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य कहाँ हैं या कभी कहाँ थे?' लॉक ने जो उत्तर ट्रीटाइज़ के १४वें वर्ग में दिया है उससे सिद्ध होता है कि वह संविदा को एक ऐतिहासिक तथ्य मानता था। वह कहता है: "ज़ाहिर है कि बिना मनुष्यों के संसार न कभी था और न कभी होगा।"* इसके विपरीत वर्ग १५ का यह अन्तिम वाक्य कि 'मेरा कहना है कि समस्त मनुष्य तब तक उस अवस्था में रहते है जब तक कि वे अपनी अनुमति से एक राजनीतिक समाज की रचना नहीं कर लेते"† यह ज़ाहिर करता है कि वह संविदा को एक ऐसी दार्शनिक धारणा समझता है जिसके द्वारा हम राज्य को रज़ामन्दी पर आधारित कर सकते हैं। हम लॉक के राजनीतिक दर्शन को अच्छी प्रकार तभी समझ सकते हैं जब कि हम यह मान लें कि उसका सम्बन्ध राज्य के ऐतिहासिक जन्म से नहीं है बल्कि राजनीतिक समाज के आन्तरिक न्याय (Logic) से है। वह कहता है कि समाज में मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्ध तथा व्यक्तियों और समाज के सम्बन्ध को हम सर्वोत्तम रूप से तभी समझ

* "It is plain the world never was, and nor ever will be, without numbers of men in that state."

† I "affirm that all men are naturally in that state and remain so till by their own consent they make themselves members of some political society."

सकते हैं जब कि हम राज्य को मनुष्यों के परस्पर समझौते का फल तथा सरकार को जनता की ओर से एक ट्रस्ट समझें।

सरकार के कार्य तथा उसकी सीमायें— प्राकृतिक अवस्था तथा संविदा सम्बन्धी धारणाओं की मीमांसा करने के उपरान्त अब हम लॉक की सरकार सम्बन्धी धारणा का अध्ययन करते हैं। उसके सिद्धान्त का केन्द्रीय बिन्दु यह है कि जिस यन्त्र द्वारा सरकार अपनी शक्ति और प्राधिकार प्राप्त करती है उसे लॉक संविदा कहकर नहीं पुकारता; उसे वह ट्रस्ट कहता है। उदाहरण के लिए, वर्ग १४६ में वह व्यवस्थापिका की सर्वोच्च शक्ति को, सरकार के अन्य अंग जिसके अधीन हैं, कुछ निश्चित कार्यों को करने के लिए एक धरोहर (fiduciary power) कह कर पुकारता है और ट्रस्ट की अवहेलना करने पर व्यवस्थापिका को हटा देने तथा बदल देने की सर्वोच्च शक्ति वह जनता में रखता है। समाज तथा सरकार के परस्पर सम्बन्ध को सूचित करने के लिये लॉक ने संविदा के स्थान में ट्रस्ट शब्द का प्रयोग इसलिए किया क्योंकि वह सरकार को समाज के अधीन रखना और इस बात पर ज़ोर देना चाहता था कि सरकार जनता की भलाई के लिए क़ायम है और ट्रस्ट की अवहेलना करने पर उसे हटाया जा सकता है। इस प्रसंग में संविदा शब्द के प्रयोग करने का अर्थ यह होता कि सरकार और जनता में समानता का सम्बन्ध है; यह बात उसे अमान्य थी। "संविदा के स्थान में ट्रस्ट की धारणा को अपनाकर लॉक न केवल सरकार के ऊपर जनता के नियन्त्रण की व्यवस्था करता है, बल्कि एक उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात की प्रस्थापना करता है, वह है अनुभव के अनुसार उस नियन्त्रण का दिन प्रतिदिन प्रसरण।"*

ट्रस्ट की स्थापना समाज ने की है और अपने हित के लिए की है। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि समाज सरकार से कोई समझौता करता है; सरकार के प्रति समाज का कोई कर्त्तव्य नहीं। जो भी कर्त्तव्य है एकपक्षीय है और वह सरकार का है समाज का नहीं; ट्रस्ट की मर्यादाओं का उल्लंघन न करना सरकार का कर्त्तव्य है। जैसा कि पहिले ही कहा जा चुका है, यदि सरकार ट्रस्ट के विरुद्ध काम करे तो समाज को यह अधिकार प्राप्त है कि सरकार को भंग कर दे।

यहाँ पर स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है: सरकार का क्या कार्य है और ट्रस्ट ने उसके ऊपर क्या सीमायें लगाई हैं जिनका अतिक्रमण वह नहीं कर सकती। इनका वर्णन लॉक ने द्वितीय ट्रीटाइज़ के नवें अध्याय में किया है। वर्ग १२४ इस प्रकार

* "By adopting the analogy of a trust rather than that of a contract, Locke makes very fair provision not only for popular control of Government, but also— what is yet more important— for a progressive extension of that control, as experience may dictate."

—Vaughan: *History of Political Philosophy*, Vol. I, page 147.

आरम्भ होता है : "मनुष्यों के राज्य में संघटित होने तथा अपने आपको सरकार के अधीन रखने का महान् एवं मुख्य उद्देश्य अपनी सम्पत्ति की रक्षा करना है।" यहाँ हमें सम्पत्ति शब्द को व्यापक अर्थों में लेना चाहिये; इसका अर्थ यहाँ केवल भौतिक सम्पदा से ही नहीं है बल्कि जीवन तथा स्वतन्त्रता भी इसके अन्तर्गत आते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति की रक्षा करने के लिये सरकार को तीन कार्य करने पड़ते हैं। उसका प्रथम कार्य, न्याय तथा अन्याय का मापदण्ड तथा समस्त विवादों का निर्णय करने के लिये एक सामान्य मापदण्ड निर्धारित करना है, अर्थात् प्राकृतिक कानून की एक सर्वमान्य व्याख्या करना है जिसके द्वारा उपरोक्त तीन मूल अधिकार निश्चित होते हैं। यह कार्य सरकार के व्यवस्थापिक अङ्ग का है। यह कार्य इसलिये आवश्यक है क्योंकि प्राकृतिक अवस्था में प्राकृतिक कानून की व्याख्या करने में मनुष्य अपने व्यक्तिगत हितों से प्रभावित हो सकते हैं। सरकार का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य हैं एक ऐसी निष्पक्ष शक्ति की प्रस्थापना करना जोकि स्थापित कानूनों के अनुसार व्यक्तियों के आपस के झगड़ों का निर्णय कर दे। इसे हम सरकार का न्यायिक कार्य कह सकते हैं। इसकी आवश्यकता इसलिये उत्पन्न होती है क्योंकि प्राकृतिक अवस्था में प्राकृतिक कानून को लागू करते समय मनुष्य का अपने स्वार्थ, प्रतिकार भावना तथा क्रोध के प्रवाह में बह जाने की सम्भावना रहती है। सरकार का तीसरा कार्य है दूसरे समाजों तथा दूसरे नागरिकों से समाज तथा उसके नागरिकों के हितों की रक्षा करना। युद्ध की घोषणा करना, शान्ति स्थापित करना तथा दूसरे राज्यों से संधि करना, सब इस कार्य के अन्तर्गत आते हैं। आज की भाषा में इसे कार्यपालिक कार्य कहा जायेगा।

लॉक कहता है कि ये तीनों कार्य एक दूसरे से अलग अलग हैं और इन्हें करने वाले व्यक्तियों में विभिन्न गुण तथा शक्तियाँ होनी चाहियें। कार्यपालिका का सत्र निरन्तर चलना चाहिये; जबकि व्यवस्थापिका के लिये ऐसा करना आवश्यक नहीं है। इसलिये इन दोनों में पृथक्करण होना चाहिये। "जिन व्यक्तियों के हाथ में कानून निर्माण करने की शक्ति होती है उन्हें कानूनों को क्रियान्वित करने की शक्ति अपने हाथ में लेने की भी प्रबल इच्छा हो सकती है क्योंकि शक्ति हथियाने का प्रलोभन मानव की एक बहुत बड़ी दुर्बलता है।"* न्यायिक कार्य व्यवस्थापिक तथा कार्यपालिक— दोनों कार्यों से भिन्न है, इसलिये इसे इनसे, कम से कम व्यवस्थापिका से, अलग रखना चाहिये। जो लोग कानून बनाते हैं उन्हीं को उनकी व्याख्या करने का अधिकार दे देना बुद्धिहीनता है। यद्यपि न्यायिक तथा कार्यपालिक कार्यों में स्पष्ट भेद है, तथापि लॉक इन दोनों को एक ही अङ्ग को सौंपने को तैयार है क्योंकि दोनों को ही अपने कर्त्तव्य के

* "It may be too great a temptation to human frailty, apt to grasp at power, for the same persons who have the power of making laws to have also in their hands the power to execute them."

समुचित पालन के लिये समाज की सशस्त्र शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार लॉक शक्ति विभाजन की प्रस्थापना करता है; इस सिद्धान्त के विकास में उसने महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। किन्तु हमें यह मानना पड़ेगा कि उसने इस सिद्धान्त की रचना उतने सुनिश्चित रूप से नहीं की जितने कि मांटेस्क्यू ने। जैसाकि हम पहिले कह चुके हैं, वह न्यायिक तथा कार्यपालिक कार्यों के सम्मिश्रण पर कोई विशेष आपत्ति नहीं करता और व्यवस्थापिक कार्य को सर्वोच्च मानता है। "यह व्यवस्थापिक राज्य की न केवल सर्वोच्च शक्ति है बल्कि समाज ने उसे एक बार जिन हाथों में सौंप दिया है उनमें वह अपरिवर्तनीय तथा पवित्र है।"†

सरकार का व्यवस्थापिक अंग सर्वोच्च होना चाहिये क्योंकि वह बहुमत का प्रतिनिधि और उन प्राकृतिक अधिकारों का अन्तिम संरक्षक है जिनकी अधिक सुरक्षा के लिये मूल समझौता किया गया था। क्योंकि कानून बनाने का कार्य राज्य का सर्वोच्च कार्य है, इसलिये जो निकाय उसे करता है उसे सर्वोच्च शक्ति प्राप्त होनी चाहिये। व्यवस्थापिका को राज्य की सर्वोच्च शक्ति मान कर लॉक संसदात्मक शासन प्रणाली का दार्शनिक बन गया। परन्तु साथ ही साथ उसने यह और कहा कि सर्वोच्च होते हुए भी व्यवस्थापिका की शक्ति निरंकुश नहीं है, वह मनमानी नहीं कर सकती। उसे मर्यादा के अन्तर्गत रह कर काम करना पड़ता है। उसका प्रयोग केवल उन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हो सकता है जिनके लिये समाज का निर्माण हुआ है और उसके अधिकार क्षेत्र में केवल वे ही चीज़ें आती हैं जो कि समाज ने सरकार को सौंपी हैं। यह उस प्रकृति के कानून के विरुद्ध कानून नहीं बना सकती जो कि राजनीतिक समाज में भी उतना ही मान्य है जितना कि प्राकृतिक अवस्था में; यह जन-इच्छा के बिना कर द्वारा सम्पत्ति का हरण नहीं कर सकती और यह प्रत्यादेशों द्वारा शासन करने की शक्ति ग्रहण नहीं कर सकती। इसे नागरिकों के अदेय प्राकृतिक अधिकारों का सम्मान करना पड़ता है और इसके कानून समुचित रूप से क्रियान्वित होने चाहियें और समस्त समूहों तथा वर्गों पर समान रूप से लागू होने चाहियें। यह अपनी विधायक शक्तियाँ दूसरों को नहीं दे सकती। सरकार के अन्य अंग और भी अधिक कड़ी सीमाओं से मर्यादित हैं। इन सबसे ज़ाहिर है कि लॉक का मुख्य उद्देश्य निरंकुश शासन के विरुद्ध जिसका कि हॉब्स घोर समर्थक था, सांविधानिक अथवा सीमित सरकार का समर्थन करना था। इसलिये यदि ट्रीटाइज़ में राजसत्ता शब्द का अधिक प्रयोग नहीं किया गया तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। सरकार की शक्तियाँ धरोहर मात्र (fiduciary) हैं; वह जनता की ओर से सम्पन्न किया जाने वाला एक ट्रस्ट है। परन्तु लॉक जनता

† "This legislative is not only the supreme power of the Commonwealth, but sacred and unalterable in the hands where the community has once placed it." Section 134.

को भी पूर्ण रूप से सर्वोच्च नहीं बताता ; जनता जब चाहे ट्रस्ट को वापिस नहीं ले सकती। लॉक की यह बात कितनी संगतिहीन है कि समाज को ट्रस्ट वापिस लेने का तब तक कोई अधिकार नहीं है जब तक कि सरकार ईमानदारी के साथ अपने कर्त्तव्यों का पालन करती है। परन्तु वह यह मानता था कि "जब भी जनता यह महसूस करे कि व्यवस्थापिका उसे सौंपे हुए ट्रस्ट के विरुद्ध जा रही है तो उसे हटा देने अथवा उसमें परिवर्तन कर देने की सर्वोच्च शक्ति जनता में अब भी रहती है।" इस प्रकार वह जनता के विद्रोह करने के अधिकार को तो स्वीकार करता है किन्तु अत्यन्त सतर्क और सधे ढंग से। सरकार की अवज्ञा करना केवल तभी उचित हो सकता है जबकि वह जनता द्वारा सौंपे हुए ट्रस्ट को भंग करे। विद्रोह का अधिकार कौन प्रयोग करे और किस प्रकार करे ? इस प्रश्न के ऊपर लॉक कोई प्रकाश नहीं डालता।

सरकार के रूप— सरकार के विभिन्न रूपों के विषय में कुछ थोड़े से ही शब्द कह देना पर्याप्त होगा। एक बहुत छोटे से अध्याय में लॉक ने इस विषय का उल्लेख किया है। उसका अनुराग शासन के संस्थानों की अपेक्षा उसके सिद्धान्तों में अधिक था। जब तक सरकार जनता की रज़ामन्दी के ऊपर आधारित है तब तक उसे उसके रूप में कोई दिलचस्पी नहीं। तो भी वह सरकार के तीन विभिन्न रूपों का उल्लेख करता है। यदि व्यवस्थापिक शक्ति समाज स्वयं अपने हाथों में रखता है और अपने द्वारा बनाये हुए कानूनों को लागू करने के लिए केवल कुछ अधिकारियों को नियुक्त कर देता है तो वह सरकार जनतन्त्रवादी है। यदि समाज व्यवस्थापिक शक्ति को बहुमत द्वारा कुछ चुनीदा व्यक्तियों तथा उनके उत्तराधिकारियों को सौंप देता है तो सरकार **वर्गतन्त्री** (Oligarchic) बन जाती है। यदि व्यवस्थापिक शक्ति केवल एक व्यक्ति को दे दी जाती है तो वह राजतन्त्र हो जाता है। लॉक जनतन्त्र को अधिक पसन्द करता था क्योंकि यही एक ऐसा रूप है जिसमें कि जन-इच्छा के सिद्धान्त का सर्वाधिक पालन हो सकता है। परन्तु वह कोई गणतन्त्रवादी न था। उसका विश्वास था कि सांविधानिक राजतंत्र सरकार का सर्वोत्तम रूप है। इस प्रसंग में एक यह बात उल्लेखनीय है कि लॉक के अनुसार यद्यपि सरकार के रूप में विभिन्नता हो सकती है, किन्तु राज्य एकरस ही रहता है।

सम्पत्ति तथा प्राकृतिक अधिकार— सम्पूर्ण ट्रीटाइज़ में जिस एक चीज़ पर लॉक बहुत ज़्यादा ज़ोर देता है वह यह है कि राज्य के निर्माण का मुख्य उद्देश्य नागरिकों के जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के प्राकृतिक अधिकारों को सुरक्षित करना है जो कि प्राकृतिक अवस्था में वे उपभोग करते थे। इनमें से सम्पत्ति का अधिकार सब से अधिक महत्त्वपूर्ण है। कभी कभी तो लॉक ने सम्पत्ति शब्द का प्रयोग इतने व्यापक अर्थों में किया है कि जीवन और स्वतन्त्रता को भी उसमें शामिल कर डाला। परन्तु यहाँ पर हम इसका प्रयोग इसके साधारण अर्थों में ही करेंगे। सम्पत्ति का साधारण अर्थ है

भौतिक सम्पदा जिसका भूमि सब से अधिक महत्त्वपूर्ण अंग है। यह इसलिये भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि लॉक निरन्तर यह मानता है कि अन्य समस्त प्राकृतिक अधिकार निजी सम्पत्ति के अधिकार के सदृश हैं। इसके अर्थ को स्पष्ट करने और इसके औचित्य को सिद्ध करने के लिए लॉक ने एक लम्बा अध्याय दिया है।

लॉक के सम्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त का केन्द्रीय बिन्दु यह है कि वह यह मानता था कि प्राकृतिक अवस्था में प्राकृतिक कानून के अन्तर्गत निजी सम्पत्ति का अधिकार एक सुविकसित रूप में पाया जाता था। लॉक की यह धारणा कालान्तर में **रूसो** तथा **ग्रीन** द्वारा विकसित इस सिद्धान्त के कि समस्त अधिकार सामाजिक सृष्टि हैं एकदम विरुद्ध है। क्योंकि इसका अस्तित्व राज्य के निर्माण के पूर्व प्राकृतिक अवस्था में भी था, इस लिए इसकी उत्पत्ति उस मूल संविदा द्वारा नहीं हुई जिसके द्वारा राज्य का जन्म हुआ। यह एक ऐसा अधिकार है जिसे व्यक्ति प्राकृतिक अवस्था से ही राज्य में लाते हैं, इसलिये यह अपहरणीय है। राज्य तथा समाज का अस्तित्व इस अधिकार की रक्षा करने के लिए है, इसलिये वे व्यक्ति को उसकी इच्छा के विरुद्ध उसकी सम्पत्ति से वंचित नहीं कर सकते। उसकी रक्षा करने के लिये जिस सीमा तक उसे विनियमित करना आवश्यक हो तो राज्य और समाज उसे नियंत्रित कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। साधारणतया हम कह सकते हैं कि लॉक समझता था कि प्राकृतिक अधिकारों को मनुष्य अपने साथ जन्म से ही लाता है, इसलिए समाज तथा सरकार के लिये उनका सम्मान करना अनिवार्य है। "ऐसे दावों का ठुकराना कभी भी न्यायसंगत नहीं हो सकता, क्योंकि स्वयं समाज का अस्तित्व ही उनकी रक्षा करने के लिए है; उन्हें केवल उस सीमा तक विनियमित किया जा सकता है जिस तक कि उनकी समुचित सुरक्षा के लिए ऐसा करना आवश्यक हो। दूसरे शब्दों में, एक व्यक्ति के 'जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति' को केवल उस सीमा तक सीमित किया जा सकता है जिस तक दूसरे व्यक्तियों के उतने ही मान्य दावों को सुरक्षित रखने के लिये आवश्यक है।"* प्रोफ़ेसर वॉहन का यह कहना उचित ही है कि "लॉक की प्रणाली में प्रत्येक चीज़ का आधार व्यक्ति है; प्रत्येक व्यवस्था का उद्देश्य व्यक्ति की प्रभुता को अक्षुण्ण रखना है।"†

* "Such claims can never be justly set aside, since society itself exists to protect them; they can be regulated only to the extent that is necessary to give them effective protection. In other words the 'life, liberty, and estate' of one person can be limited only to make effective the equally valid claims of another person to the same rights."
—Sabine: *op. ct.*, page 528.

† "Every thing in Locke's system revolves round the individual; every thing is disposed so as to ensure the sovereignty of the individual."

अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में प्राकृतिक कानून की छत्रछाया में और किसी मानव-कृत कानून की सहायता के बिना निजी सम्पत्ति के अधिकार का विकास किस प्रकार हुआ। उसका प्रारंभ बिन्दु उसकी यह मान्यता है कि प्राकृतिक अवस्था में इस दृष्टिकोण से सम्पत्ति सामान्य थी कि प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार था कि उसके जीवन के लिये जो आवश्यक हो वह ले ले। लॉक के शब्दों में "उस ईश्वर ने, जिसने कि विश्व को मनुष्य की सामान्य सम्पत्ति बनाया है, मनुष्यों को बुद्धि भी प्रदान की है ताकि वे जीवन के अधिकाधिक लाभ तथा सुविधा के लिए उसका प्रयोग कर सकें। यद्यपि संसार में जो फल स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होते हैं और जो पशु इसमें पाये जाते हैं वे मानव जाति की सामान्य सम्पत्ति होते हैं, और किसी भी व्यक्ति का उन पर एकाकी निजी अधिकार नहीं होता, तथापि प्रकृति की जिन वस्तुओं को वह अलग कर लेता है और जिनके साथ वह अपना श्रम मिला देता है और उनमें एक ऐसी चीज़ का सम्मिश्रण कर देता है जोकि उसकी निजी है तो वे वस्तुएँ उसकी निजी सम्पत्ति बन जाती हैं।"* इन उद्धरणों से यह लक्षित होता है कि यद्यपि आरंभ में प्रकृति-प्रदत्त समस्त वस्तुओं पर सब का स्वामित्व था और उन पर किसी एक व्यक्ति का आधिपत्य न था; किन्तु प्रत्येक व्यक्ति उस वस्तु पर अपने निजी स्वामित्व का दावा कर सकता था जिसमें कि वह अपना परिश्रम मिला देता था। वे फल जो एक व्यक्ति वृक्ष से संचित करता है, 'वह भूमि जो वह जोतता है, जिसमें वह पौदे लगाता है, जिसे वह विकसित करता है, जिसे वह बोता है और जिसके उत्पादन का वह प्रयोग कर सकता है' उसकी निजी सम्पत्ति हैं। इस सिद्धान्त का आधार यह मान्यता है कि मनुष्य के बाजू तथा उनका परिश्रम उसके अपने हैं; जो कुछ उसे प्रकृति ने दिया है उस पर अपना परिश्रम लगाकर वह जो वस्तु तैयार कर लेता है वह उसकी निजी सम्पत्ति हो जाती है। जो कुछ भी एक व्यक्ति उत्पन्न करता है वह उसके व्यक्तित्व का भाग बन जाता है।

यदि निजी सम्पत्ति केवल उन्हीं वस्तुओं तक सीमित है जोकि व्यक्ति अपने श्रम से उत्पन्न करता है और जो उसके जीवन तथा सुविधा के लिए आवश्यक हैं तो लॉक का सिद्धान्त सरलतापूर्वक स्वीकार किया जा सकता है। परन्तु यह स्पष्ट है कि स्थिति

* "God, who has given the world to men in common, has also given them reason to make use of it to the best advantage of life and convenience. Though all the fruits it naturally produces and the beasts it feeds belong to mankind in common; and nobody has originally a private dominion exclusive of the rest of mankind in any of them ...... whatsoever he removes out of the state that nature has provided and left it in, he has mixed his labour with, and joined to it something that is his own, and thereby makes it his property."

इतनी सरल न तो उसके ज़माने में थी और न आज है। जो कुछ मनुष्य अपने श्रम से उत्पन्न करते हैं और जो उनके लिये आवश्यक है उससे कहीं अधिक उनके पास होता है। यह कहना कठिन है कि उद्योगपति द्वारा अतुल धनराशि के संचित करने को लॉक उचित समझता था; किन्तु यह युक्ति काफ़ी वज़नदार मालूम होती है कि लॉक की तर्कना के अनुसार एक पूँजीपति को अपने श्रमिकों के श्रम के सारे फल को ले लेने का अधिकार है। यह बात यह सिद्ध करने के लिए काफ़ी है कि उसका सिद्धान्त आज के जटिल समाज पर लागू नहीं होता।

लॉक की असंगतियाँ (Locke's Inconsistencies)— लॉक के राजनीतिक दर्शन का उपसंहार करने से पूर्व उसकी कुछ प्रमुख असंगतियों का उल्लेख करना आवश्यक मालूम होता है, जिसमें से कुछ का उल्लेख पहिले ही किया जा चुका है। इनका मुख्य कारण यह है कि लॉक ने विभिन्न स्रोतों से लिए हुए परस्पर एक दूसरे से ताल न खाने वाले तत्वों को एक प्रणाली में मिलाने का प्रयास किया। ड्राइवर (Driver) के अनुसार लॉक 'फ्रांसीसी दार्शनिक डेकार्टे का दार्शनिक दृष्टिकोण, वैज्ञानिकों की प्रयोगात्मक पद्धति तथा वह उपयोगितावादी अनुभूतिवाद जो कि उसने शेफ्ट्सबरी तथा व्यावहारिक राजनीति से ग्रहण किया था, को एक क्रियाशील धारणा में समन्वित करने की चेष्टा कर रहा था।' वैज्ञानिकों के साथ सम्बन्ध रहने से उसने यह विश्वास स्वीकार कर लिया कि जन्म के समय मस्तिष्क एक कोरी स्लेट (Tabula rasa) के सदृश होता है और समस्त ज्ञान का मूल अनुभव है। प्रधानतः इसी अनुभव-प्रधान प्रवृत्ति के कारण उसने अन्तर्निहित विचारों (Innate Ideas) तथा राजतन्त्र के दैविक मूल का सिद्धान्त ठुकरा दिया। परन्तु अपने बुद्धिवाद से प्रेरित होकर उसने **प्राकृतिक अधिकारों** के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जो अनुभूतिवाद से सरलतापूर्वक ताल नहीं खाता। जैसा कि सैबाइन का कहना है इस बात का कोई अनुभूतिसिद्ध प्रमाण नहीं दिया जा सकता कि सामाजिक तथा राजनीतिक सम्बन्धों से अलग भी व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के प्राकृतिक अधिकार होते हैं। अन्तर्निहित विचारों को अस्वीकार करते हुए भी प्राकृतिक अधिकारों में विश्वास रखना कितना संगतिहीन है, इसे मैक्सी ने और भी ज़ोरदार शब्दों में व्यक्त किया है: "यह बात कि मूलभूत आन्तरिक विचारों से इन्कार करते हुए भी लॉक अन्तर्निहित अधिकारों का इतनी तत्परता के साथ समर्थन करता है एक ऐसा विलक्षण विरोधाभास है जिससे महानतम बुद्धि का भी मानवीय गुण सिद्ध होता है।"* लॉक में यह विरोधाभास इसलिए उत्पन्न हुआ है

* "That Locke, the denier of innate ideas, should be the daughty champion of inherent rights is one of those curious paradoxes which attest the human quality of even the greatest intellects."

—Maxey: *Political Philosophies*, page 254.

क्योंकि वह राजनीतिक चिन्तन में प्राकृतिक विधि को वही स्थान देना चाहता था जो कि स्वयंसिद्धियों को रेखागणित में होता है। डेकार्टे (Descartes) का प्रभाव इसमें स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। परन्तु, जैसा कि सैबाइन कहता है, यदि हम यह मान भी लें कि कुछ नैतिक मूल्य स्वयंसिद्ध होते हैं तो भी इससे कदापि सिद्ध नहीं होता कि वे व्यक्तिगत अन्तर्निहित अधिकारों का रूप धारण कर लेते हैं। सारांश यह कि लॉक के अनुभूतिवाद तथा नैतिक विचारों में विश्वास में कोई सामंजस्य संगतिबद्ध रूप से स्थापित नहीं किया जा सकता।

लॉक के 'ट्रीटाइज़' में तारतम्यपूर्ण तर्कना नहीं पाई जाती। उसका कारण यह है कि उसमें दो विभिन्न तथा विरोधी दृष्टिकोण पाये जाते हैं। एक ओर तो उसने हूकर से ली हुई मध्यकालीन परम्परा से इस विश्वास को अपनाया कि समाज का एक सामूहिक स्वरूप होता है। उसके लिए समाज एक सामाजिक तथ्य था, एक सम्पूर्ण था, स्वार्थी व्यक्तियों का समूह मात्र नहीं। यह सर्वहित के कार्यों में लगा हुआ है या लगा होना चाहिये। उसका उद्देश्य सामान्य हित की साधना होना चाहिये, केवल व्यक्तियों की स्वार्थ-साधना में उनकी सहायता करना नहीं। दूसरी ओर, उसने हॉब्स से इसके ठीक विरोधी व्यक्तिवाद की परम्परा ग्रहण की जिसके अनुसार समाज स्वार्थी व्यक्तियों का समूह मात्र है जो क़ानून तथा सरकार का आश्रय अपने ही जैसे स्वार्थी साथियों से रक्षा करने के लिए लेते हैं और उतना अधिक से अधिक निजी लाभ प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं जितना कि सामाजिक शान्ति से ताल खा सके। यदि इन दो परस्पर विरोधी बातों में से लॉक केवल एक को ही अपनाता तो उसमें भी उतनी ही संगतिबद्धता हो सकती थी जितनी कि हॉब्स में पाई जाती है। परन्तु परिस्थितियों ने उसे दोनों ही बातों को अपनाने के लिए विवश कर दिया। उसने इनमें एक वास्तविक सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा की; किन्तु यह कार्य उसकी शक्ति से परे था। परिणाम यह हुआ कि उसकी प्रणाली में कई असंगतियाँ और अनिश्चितताएँ आ गईं। उसके दर्शन के एक भाग में व्यक्ति तथा उसके अधिकार अन्तिम तत्त्वों के रूप में प्रगट होते हैं, उदाहरण के लिए जब कि वह राज्य को जन-इच्छा के ऊपर आधारित करता है और उसके कार्यों को नागरिकों के प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा करने तक सीमित करता है। दूसरे भाग में वह यही कार्य समाज को सौंपता है; उदाहरण के लिए, जब कि वह अल्पमत से बहुमत की इच्छा के सामने समर्पण कर देने को कहता है, अथवा जब कि वह जनता को तब तक सरकार को भंग करने के अधिकार से वंचित कर देता है जब तक कि वह ट्रस्ट का निर्वाह करती रहे। सरकार को ट्रस्टी केवल तभी समझा जा सकता है जब कि समाज को एक जीवित वास्तविकता मान लिया जाये। ये दोनों ही निरपेक्ष किस प्रकार हो सकते हैं, यह समझ में आना कठिन है।

लॉक में एक दूसरा विभ्रम भी उल्लेखनीय है। सम्पत्ति तथा स्वतन्त्रता के

प्राकृतिक अधिकारों पर लॉक ने जो बल दिया है उससे ऐसा दिखाई पड़ता है मानो ये अधिकार निरपेक्ष हों। परन्तु व्यवस्थापिक अंग को वह समाज में सर्वोच्च भी मानता है। इससे भी आगे बढ़ कर वह समाज को सर्वोच्च बना देता है जब कि वह यह स्वीकार करता है कि ट्रस्ट की अवहेलना करने पर समाज एक व्यवस्थापिका को भंग कर उसके स्थान में दूसरी को चुन सकता है। इस प्रकार कहीं तो वह समाज को, और कहीं व्यवस्थापिका को, और कहीं राजा को भी कुछ निहित अधिकारों से सुशोभित करता है जो कि उचित कारण के अतिरिक्त छीने नहीं जा सकते। इतने विभिन्न अंगों को निहित अधिकारों से सुशोभित कर देना विचार की स्पष्टता के लिए निश्चित रूप से घातक सिद्ध होता है।

लॉक ने उस मध्यकालीन परम्परा से आरम्भ किया जो कि शक्ति के ऊपर नैतिक बन्धनों की वास्तविकता, शासक के शासित समाज के प्रति उत्तरदायित्व तथा सरकार की विधि के प्रति अधीनता को स्वीकार करती थी। परन्तु व्यक्तिवाद की भावना, जो हॉब्स में स्पष्ट रूप से अभिव्यंजित हो उठी थी, के प्रभाव में आकर उसने अपने राजनीतिक दर्शन में सार्वजनिक अथवा सामाजिक हितों की अपेक्षा व्यक्तिगत स्वार्थ को अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दे दिया। इसका सर्वोच्च उदाहरण हमें उस परिवर्तित व्याख्या में मिलता है जो कि उसने प्राकृतिक विधि की की।

इस अर्थ-विपर्यय को भली प्रकार समझने के लिए हमें यह जानना आवश्यक है कि मध्यकालीन लेखक इसका किस अर्थ में प्रयोग करते थे। वे इसे एक वस्तु-प्रधान नियम अथवा मापदण्ड समझते थे जो ईश्वर से प्राप्त होता है और इसलिए इसका अस्तित्व मनुष्य से स्वतंत्र होता है। यद्यपि इसका न तो दैविक प्रकाश होता है और न यह किसी धर्म-ग्रन्थ में लिखा होता है तथापि मनुष्य अपने विवेक द्वारा इसे समझ सकता है। इसका स्थान ईश्वरीय क़ानून से नीचे किन्तु मानव-कृत क़ानून से ऊँचा होता है। इस प्रकार मानवी क़ानून से यह पहिले आता है, उससे उच्चतर तथा उससे अधिक आधारभूत होता है। यह एक ऐसी कसौटी प्रदान करता है जिसके ऊपर मानवी विधि को कसा जा सकता है और एक ऐसा मापदण्ड प्रस्तुत करता है जिसके द्वारा मनुष्य अपने आचरण विनियमित कर सकते हैं। एक बाह्य विनियमनकारी शक्ति के रूप में इसकी तुलना उस विधि से की जा सकती है जो कि नक्षत्रों की गति को विनियमित करती है। लॉक की धारणा थी कि यह न केवल प्राकृतिक अवस्था में क्रियाशील थी बल्कि राजनीतिक समाज में भी इसका अस्तित्व है और मनुष्यों को सत्य तथा अपने वचन का पालन करने तथा एक बार अपनी इच्छा द्वारा निर्मित सरकार की आज्ञा का पालन करने के लिए बाधित करती है। बोदाँ, ग्रोशियस तथा सुआरेज़ ने इस विचार को इस रूप में स्वीकार किया कि यह मानव प्राणियों के योग्य एक निश्चित प्रकार के आचरण को निर्धारित करता है तथा कुछ ऐसी निश्चित सीमायें लगाता है जिसके आगे राज्य

तथा सरकार नहीं जा सकते। किन्तु लॉक के हाथों में आकर इसने व्यक्तिवाद की ओर एक तीव्र प्रवृत्ति ग्रहण करली। इसे सामाजिक उत्तरदायित्व की अपेक्षा मानव अधिकारों का स्रोत बना दिया गया। लॉक ने इसका यह अर्थ लगाया कि मनुष्य के कुछ अदेय अधिकार होते हैं जिनका सम्मान तथा रक्षा करना समाज तथा सरकार का कर्त्तव्य है; इन अधिकारों में निजी सम्पत्ति का अधिकार सब से अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसलिये वह इस परिणाम पर पहुँचा कि समाज तथा सरकार का अस्तित्व मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिए है। गत विवेचना का सारांश प्रोफ़ेसर सैबाइन के इन शब्दों में दिया जा सकता है: "प्राकृतिक कानून के प्राचीन सिद्धान्त को अपनी समस्त भावात्मक व्यंजनाओं तथा प्रायः धार्मिक अनिवार्यता के साथ उसने यथापूर्व स्थिति में ही छोड़ दिया; किन्तु अनजाने में ही उसने इस शब्द का वह अर्थ पूर्ण रूप से बदल दिया जो कि हूकर सरीखे लेखकों में उसका पाया जाता था। समाज के सामान्य हित का आदेश देने वाले कानून के स्थान में लॉक ने कुछ अन्तर्निहित, अकाट्य, व्यक्तिगत अधिकारों की प्रतिष्ठा की जो कि समाज की क्षमता को मर्यादित करते हैं और व्यक्ति की स्वतंत्रता तथा सम्पत्ति में हस्तक्षेप को रोकते हैं।"*

निजी सम्पत्ति के लॉक के सिद्धान्त में आन्तरिक कठिनाइयों का उल्लेख हम पहिले ही कर चुके हैं। उसका यह विश्वास कि निजी सम्पत्ति का अधिकार प्राकृतिक अवस्था में अपने प्रायः पूर्ण विकसित रूप में पाया जाता था, इस सिद्धान्त के एकदम विपरीत है कि अधिकारों का स्रोत समाज है और उनके उपभोग तथा संरक्षण के लिये राज्य की आवश्यकता होती है। जन्मजात प्राकृतिक अधिकारों की धारणा आज तिरस्कृत हो चुकी है। जन्म से ही मनुष्य को जो चीज़ प्राप्त होती है वह उसकी अन्तर्निहित शक्तियाँ हैं, अधिकार नहीं। अधिकार तो जीवन की उन स्थितियों को कहते हैं जोकि मनुष्य की जन्मगत शक्तियों की सिद्धि के लिये आवश्यक हों और जिन्हें समाज ने निर्मित किया हो। यदि यह सच है कि जिस वस्तु में एक मनुष्य अपना श्रम मिला देता है वह उसकी निजी सम्पत्ति बन जाती है जिसका सम्मान तथा रक्षा राज्य को करना चाहिये तो हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि एक पूंजीपति स्वामी के नौकर जो भी उत्पन्न करते हैं उस सब पर पूंजीपति का अधिकार है, और इस प्रकार समाजवाद को हमें ठुकराना होगा। इससे

* "He left standing the old theory of natural law with all its emotional connotations and almost religious compulsion but he completely changed, without knowing it, the meaning which the term had in writers like Hooker. Instead of a law enjoining the common good of a society, Locke set up a body of innate, indefeasible, individual rights which limit the competence of the community and stand as bars to prevent interference with the liberty and property of private persons."

सिद्ध है कि सम्पत्ति सम्बन्धी लॉक के विचार आज के जटिल समाज में मान्य नहीं हो सकते।

सरकार को जन-इच्छा पर आधारित करना लॉक का निस्सन्देह एक महान् गुण था। परन्तु यह कहकर कि किसी व्यक्ति के किसी राज्य के क्षेत्र में रहने के लिए तैयार हो जाने में राज्य के प्रति रज़ामन्दी निहित है उसने रज़ामन्दी शब्द के सारे अर्थ को ही खो दिया। बीसवीं शताब्दी में भी जबकि वाहन साधनों की प्रचुरता के कारण एक व्यक्ति एक देश से दूसरे देश में सरलता से आ जा सकता है नागरिकों के लिए एक राज्य की भक्ति को त्याग कर दूसरे राज्य के प्रति भक्त हो जाना सरल नहीं है।

इन आलोचनाओं से जोकि लॉक के विरुद्ध की जा सकती हैं और की जा चुकी हैं, लॉक की महत्ता कम नहीं हो जाती। वह महान् राजनीतिक दार्शनिक है जिसकी कि वेपर के शब्दों में 'एक महान् परम्परा के बारे में अन्तिम महान् वाणी तथा दूसरी महान् परम्परा के बारे में प्रथम महान् वाणी थी। वह प्राचीन परम्परा जिसका कि वह अंतिम प्रतिनिधि था मध्यकालीन परम्परा है, तथा वह नवीन परम्परा जिसका कि वह प्रथम प्रवक्ता है, व्यक्तिवाद की परम्परा है।'

लॉक का प्रभाव— हॉब्स के सिद्धान्तों को उसके जीवन काल में बहुत कम समर्थन प्राप्त हुआ और आने वाले राजनीतिक विचार पर उनका प्रभाव और भी कम हुआ। इसके विपरीत लॉक के राजनीतिक दर्शन का भारी प्रभाव पड़ा है। उसके जीवन काल में भी उसकी धारणाओं का बहुत सम्मान था और दो शताब्दियों से भी अधिकतर यूरोप तथा अमेरिका के मस्तिष्क तथा विचार पर वे आच्छादित रहे। इङ्गलैण्ड में लॉक के विचारों ने ह्विग्स को अपने शासन का औचित्य तथा कृषि-सुधारकों को ज़मींदार-शाही के विरुद्ध युक्तियाँ प्रदान कीं। आगे चलकर मनोवैज्ञानिक सुखवादियों (Hedonists) तथा उपयोगितावादियों को उसकी कृतियों में अपने सिद्धान्तों का आधार मिला। फ्रांस में भी लॉक का प्रभाव व्यापक रूप से पड़ा। वाल्टेयर ने उसके विचारों को जन-प्रिय बनाया, और निरंकुश राजतन्त्र के आलोचकों को उनमें वे युक्तियाँ मिलीं जिन्हें वे पूर्व-क्रान्ति युग के सामाजिक अन्याय पर आक्रमण करने के लिए आवश्यक समझते थे। परन्तु उसका सब से बड़ा प्रभाव अमेरिका में हुआ। उसके ट्रीटाइज़ेज़ अमेरिकन क्रान्ति के पाठ्य ग्रन्थ बन गये। अमेरिका की "स्वतन्त्रता की घोषणा" (Declaration of Independence) इसी महान् ग्रंथ का लगभग प्रतिलेख है। वास्तव में रूप, वाक्य-विन्यास तथा तत्त्व के दृष्टिकोण से 'घोषणा' द्वितीय 'ट्रीटाइज़' के इतना समीप है कि जैफ़र्सन पर उसकी नकल कर लेने का आरोप लगाया गया था। निस्सन्देह, उसने नकल नहीं की किन्तु यह बात सत्य है कि 'घोषणा' के विचार ब्रिटिश संविधानवाद के विचार हैं जिन्हें लॉक ने अपने ग्रन्थ में व्यक्त किया है। राज्य की घोषणाओं तथा संविधानों की रचना में भी लॉक का प्रभाव अनुभव

किया गया। एक अमेरिकन लेखक कहता है: "लॉक का व्यक्तिवाद उसके द्वारा किया गया सम्पत्ति के अधिकारों का गौरवीकरण तथा उसका अन्तःकरण का प्रेम अमेरिका के जीवन के आर्थिक तथा सामाजिक जीवन के ढाँचे में गुंथित कर दिये गये हैं।"*

लॉक का यह महान् प्रभाव इस बात के बावजूद भी पड़ा कि वह न तो नवीन विचारों का प्रवर्त्तक था और न ही वह कोई युक्तियुक्त तथा संगतिबद्ध विचारक था। जैसा कि सैबाइन कहता है: "उसकी प्रतिभा का चिह्न न तो विद्वत्ता थी और न तर्क-शक्ति बल्कि उसकी अनुपम सहज बुद्धि थी जिसके द्वारा उसने दर्शन, राजनीति, आचार शास्त्र तथा शिक्षा के क्षेत्र में उन मुख्य धारणाओं को एक साथ संगृहीत किया जिन्हें कि भूतकाल के अनुभव ने उसकी समकालीन अधिक ज्ञानवान् संतति के मस्तिष्क में उत्पन्न किया था। उन्हें एक सरल, गम्भीर और हृदयग्राही भाषा में व्यक्त करके उसने उन्हें अठारहवीं शताब्दी को दे दिया, जहाँ जाकर वे एक ऐसी सामग्री बन गये जिसमें से आगे चल कर इंग्लैण्ड तथा यूरोपीय महाद्वीप के राजनीतिक दर्शन का विकास हुआ।"†

यद्यपि यह धारणा कि सृष्टिकर्त्ता मनुष्य को जन्म से ही कुछ प्राकृतिक अधिकारों से सुशोभित करके इस संसार में भेजता है आज पूर्ण रूप से तिरस्कृत हो चुकी है तथापि एक तरह से हम प्रोफ़ेसर डनिंग के इस कथन को स्वीकार कर सकते हैं कि यह सिद्धान्त राजनीतिक सिद्धान्त को लॉक की सब से विशिष्ट देन है। उसके दर्शन का यह सर्वाधिक गतिशील भाग रहा है। इस सुपरिचित धारणा को उसने ऐसा सुनिश्चित रूप दिया जो उसमें पहिले न था; उसने जीवन, स्वतंत्रता तथा सम्पत्ति के अधिकारों को यथार्थ जीवित मनुष्यों के साकार विशेषाधिकार बना दिये और उन्हें मनमानी तथा निरंकुश शक्ति के मार्ग में रुकावटों के रूप में खड़े कर दिये। उन्हें व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका की शक्तियों के ऊपर सांविधानिक सीमाओं का रूप दे देना एक महान् कारनामा था। अपने से पूर्व के विचारकों की अपेक्षा प्राकृतिक अधिकारों के निरूपण में लॉक ने जो प्रगति की उसका बहुत ही सुन्दर वर्णन हमें प्रोफ़ेसर डनिंग के निम्नलिखित शब्दों में

* "Locke's individualism, his glorification of property rights and his love of conscience have been interwoven into the economic and social structure of American Life."

† "The mark of his genius was neither learning nor logic but an incomparable commonsense by which he gathered together the chief convictions, in philosophy, politics, moral and education, that the experience of the past had generated in the more enlightened minds of his generation. By giving to them a simple and sober yet persuasive statement, he passed them on to the eighteenth century, where they became the matrix from which grew the later political philosophy both of England and the Continent." Sabine: *op. ct.*, page 523.

मिलता है : "पफ़ेन्डोर्फ द्वारा प्रतिपादित प्राकृतिक कानून में तथा मिल्टन और स्पिनोज़ा द्वारा सराहित स्वतन्त्रता में निरंकुशता के ऊपर वास्तविक रोक लगाने के लेखकों के उद्देश्य के बावजूद साधारणतया एक अवास्तविकता सी दिखलाई पड़ती है। हमारे हृदय पर उनका अधिक से अधिक प्रभाव यह पड़ता है कि ये लेखक केवल अत्यन्त मेधावी और अपवादस्वरूप व्यक्तियों की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखना चाहते हैं, प्रत्येक साधारण व्यक्ति की नहीं। इसके विपरीत लॉक के समान अधिकार उसकी राजनीतिक संस्थाओं की समीक्षा में इस प्रकार ओत प्रोत हैं कि वे वास्तविक राजनीतिक समाज के अस्तित्व के लिए ही अपरिहार्य दिखलाई पड़ते हैं।"* इसमें कोई सन्देह नहीं कि राजनीतिक लोकतन्त्र पर लॉक का बहुत बड़ा ऋण है।

राजनीतिक दर्शन को लॉक की दूसरी मुख्य देन है शासित की इच्छा पर आधारित सरकार तथा बहुमत शासन की उसकी धारणा। यद्यपि जन-इच्छा के प्रगट करने के ढंग की जो व्याख्या उसने की है वह नितान्त दोषपूर्ण है तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि शासन को जन-इच्छा पर आधारित करने की धारणा की जितनी स्पष्टता और विश्वासोत्पादक ढंग से विवेचना उसने की है, वैसी उससे पूर्व किसी ने न की थी। बहुमत द्वारा शासन का जितना अच्छा पक्ष-समर्थन उसने किया उतना अन्य किसी भी लेखक ने नहीं। सांविधानिक शासन सम्बन्धी लॉक के विचार ने १८वीं शताब्दी के मस्तिष्क को ऐसा विमोहित कर लिया था कि प्रोफेसर मैक्सी का यह कथन एकदम सत्य ही है कि यद्यपि 'निर्माण करने वाला हाथ, कहीं वाल्पोल का, कहीं जैफर्सन का, और कहीं गम्बेटा का अथवा कहीं केवूर का था, किन्तु प्रेरणा निश्चित रूप से लॉक की थी।'

राजनीतिक दर्शन को लॉक की अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण देनों में 'शक्ति विभाजन' का सिद्धान्त उल्लेखनीय है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के साधन के रूप में इस सिद्धान्त का प्रयोग करने वाला लॉक शायद सर्वप्रथम आधुनिक विचारक था। मांटेस्क्यू ने इसको और अधिक स्पष्ट तथा व्यापक बनाया और अमेरिका के संविधान का इसे आधारभूत सिद्धान्त बनाया गया।

* "In the law of nature as treated by Puffendorf, and in the liberty that is eulogized by Milton and Spinoza, there is despite the purpose of the writers to set up real barriers to despotism, a general effect of abstraction and unreality, or at best an impression that the immunity that is aimed at must be the privilege of only very wise and exceptional men, not of every ordinary mortal. Locke's equal rights, on the other hand, are so inwrought in his explanation of political institutions as to appear indispensable to the very existence of an actual political community." Dunning : *A History of Political Theories, From Luther to Montesquieu*, page 364.

संक्षेप में, लॉक की महानता इस बात में है कि उसने इस बात को पहिचाना कि राज्य की मुख्य समस्या व्यक्ति को अधिकतम स्वतंत्रता देना है और उसने संसार को व्यक्तिवाद तथा सांविधानिक सरकार का विचार प्रदान किया। आज बीसवीं शताब्दी में जबकि राज्य अधिकाधिक शक्तिशाली बनता जा रहा है, हमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के मूल्य एवं आवश्यकता का स्मरण करना आवश्यक है।

Select Bibliography

Cook : *History of Political Philosophy,* Chapter XIX.

Doyle : *History of Political Thought,* Chapter IX.

Dunning : *Political Theories from Montesquieu,* Chapter X.

Hearnshaw : *Social and Political Ideas of the Thinkers of the Augustan Age,* Chapter IV.

Jones : *Masters of Political Thought, Vol. II,* Chapter VI.

Laski : *Political Thought from Locke to Bentham,* Chapters I & II.

Locke : *The Second Treatise of Government.*

Sabine : *History of Political Theory,* Chapter XXVI.

Vaughan : *Studies in the History of Political Philosophy, Vol. I,* Chapter IV.

Wayper : *Political Thought,* Chapter II.

———

अध्याय ७

जीन जेकस रूसो (Jean Jacques Rousseau)

परिचयात्मक — हॉब्स, लॉक, तथा रूसो : ये तीन महान् नाम आधुनिक राजनीतिक विचार में **सामाजिक संविदा सिद्धान्त** से सम्बद्ध हैं। पहिले दो विचारकों के विचारों की विवेचना हम गत अध्यायों में कर चुके ; तीसरे की समीक्षा प्रस्तुत अध्याय का विषय होगा। वाइको तथा माँटेस्क्यू के राजनीतिक सिद्धान्तों का वर्णन आने वाले अध्याय में किया जायेगा, यद्यपि एक सीमा तक रूसो उनसे प्रभावित हुआ था। स्मरण रहे कि जब कि हॉब्स ने संविदा की धारणा का निरंकुशवाद का समर्थन करने के लिए एक अनूठा प्रयोग किया और उसे उसके स्वाभाविक उद्देश्य से पथ-भ्रष्ट कर दिया, लॉक ने उसका प्रयोग यह सिद्ध करने के लिये किया कि एक न्यायशील एवं विधिविहित सरकार शासित की इच्छा पर आधारित होनी चाहिये और इस प्रकार उसने इसके मूल उद्देश्य को पुनर्प्रतिष्ठित कर दिया। रूसो पर लॉक का गहरा प्रभाव पड़ा किन्तु उसने अपने मूल विचारों के विकास को एक दिशा दी जो लॉक को पसन्द नहीं आ सकती थी। रूसो एक लोकतंत्रवादी था जो कि लॉक नहीं था ; रूसो ने संविदा सिद्धान्त के आधार पर एक पूर्णरूपेण जनप्रिय संप्रभुता का सिद्धान्त खड़ा कर दिया। परिणाम यह हुआ कि जबकि लॉक का ग्रंथ 'ऐसे ऑन सिविल गवर्नमेण्ट' उस क्रांति का जोकि हो चुकी थी, एक नीरस समर्थन मात्र था और लॉक की कामना केवल यह थी कि जनता यथापूर्व स्थिति को स्वीकार कर ले। रूसो के **'सोशल कॉन्ट्रैक्ट'** (Social Contract) ने, जिसे कि हज़ारों व्यक्तियों ने पढ़ा, उनमें वर्तमान स्थिति के प्रति घोर असंतोष उत्पन्न कर दिया और उनमें यह भावना भर दी कि वर्तमान दोषों को दूर करने के लिए क्रांतिकारी क़दम उठाये जाने चाहियें। हमें यह याद रखना चाहिये कि फ्रांस की क्रांति के लिए मार्ग प्रशस्त करने में दीदरो (Diderot), वाल्टेयर (Voltaire) तथा मांटेस्क्यू की अपेक्षा रूसो का हाथ अधिक था। उसके ग्रन्थों— 'डिस्कोर्सेज़' तथा 'सोशल कॉन्ट्रैक्ट' ने प्राचीन शासन के सम्पूर्ण सामाजिक ढांचे की जड़ें हिलादीं तथा एक नवीन लोकतंत्रीय व्यवस्था के लिए मार्ग तैयार कर दिया, और जनता की संप्रभुता तथा सामान्य इच्छा की सर्वोपरि शक्ति के सम्बन्ध में उसकी घोषणा लॉक द्वारा किये गये सीमित अथवा सांविधानिक शासन के पक्ष पोषण की तुलना में ऐसी थी जैसी कि स्लेट की पेन्सिल की खड़खड़ाहट के सामने बिजली की कड़कड़ाहट।

रूसो का जीवन तथा उसकी कृतियाँ— यद्यपि रूसो का जीवन बहुत से अन्य दार्शनिकों की अपेक्षा कहीं अधिक उत्तेजक तथा रोमांचकारी था ; यद्यपि बहुत कम लेखकों की कृतियों में संसार के प्रति उनकी भावात्मक प्रतिक्रिया इतनी स्पष्ट और सच्चे

रूप में झलकती है जितनी कि रूसो की कृतियों में; और यद्यपि उसके कुछ समालोचक उसके विभक्त तथा अनुशासनहीन व्यक्तित्व में ही उसके लेखों की कतिपय तथाकथित असंगतियों तथा समाज और उसकी संस्कृति के प्रति उसके विद्रोह का स्रोत देखते हैं; तथापि उसके जीवन का कोई विस्तृत वर्णन हम नहीं करना चाहते। यद्यपि उसकी जीवन कथा कुछ व्यक्तियों को यह समझने में सहायता दे सकती है कि उसके विचारों का विकास किस प्रकार हुआ तथापि उससे उनके औचित्य तथा महत्त्व को आंकने में कोई सहायता नहीं मिल सकती।

रूसो का जन्म जनेवा में १७१२ ई० में एक मध्य वर्ग के घराने में हुआ। उसका पिता एक कुशल घड़ी बनाने वाला था, किन्तु उसका चरित्र अस्थिर था; उसमें उत्तर-दायित्व की भावना न थी और वह परिस्थितियों के हाथ का एक खिलौना मात्र बना रहता था। उसके प्रजनन में ही रूसो की माता का देहान्त हो गया, इसलिए उसके पालन पोषण का भार उसके पिता के ऊपर पड़ा जिसमें उसे नियमित रूप से शिक्षा दीक्षा देने की बिल्कुल सामर्थ्य न थी। शिक्षा देना तो दूर उलटा उसने अपने पुत्र को अपने अवांछनीय व्यसनों का साथी बना लिया। वह रूसो से उच्छृङ्खल रोमांचकारी ग्रन्थ पढ़वा कर सुनता था, जिसका पुत्र की शिशु भावनाओं पर निश्चित रूप से बुरा प्रभाव पड़ा। रूसो जब केवल दस वर्ष का शिशु था तब उसके पिता को उसे उसके एक चचा के संरक्षण में छोड़ कर अपनी सुरक्षा के लिए जनेवा छोड़ कर भागना पड़ा। एक निर्दयी तथा पाशविक संगतराश के अधीन तीन वर्ष तक रूसो ने एक दीक्षार्थी के रूप में कार्य किया और वहीं उसने चोरी करने तथा झूठ बोलने की कला सीखी। एक रात को जब रूसो को नगर वापिस आने में कुछ देर हो गई तो उसने द्वार बन्द पाया। निर्दयी स्वामी के कठोर दण्ड के भय से रूसो ने जनेवा छोड़ दिया; वहाँ से जाते समय उसके पास पहने हुए कपड़ों के अतिरिक्त और कुछ न था। १६ वर्ष की अवस्था में वह बिना ही किसी मार्गदर्शक यन्त्र के जीवन के अथाह सागर में कूद पड़ा। १७२८ ई० में उसकी अनुशासन-हीन किशोरावस्था समाप्त हुई और उसकी आवारागर्दी का युग आरम्भ हुआ जोकि १४ वर्ष तक चला। रूसो को आवारागर्द कहने का अर्थ यह है कि वह वर्तमान में रहता था; वह न तो भूत के लिये पछताता था और न भविष्य के लिये कोई चिन्ता करता था। इसी बीच में उसे बहुत से दयालु सहायक मिले; शायद उन्होंने उसमें प्रतिभा तथा महानता के कुछ चिह्न देख लिए हों। परन्तु अपने अहंकारवाद, अभिमान तथा अशिष्ट व्यवहार के कारण उसकी किसी से स्थायी मित्रता न हो सकी।

१७४२ ई० में उसके जीवन का तृतीय युग आरंभ हुआ। उसने अपनी संरक्षिका मैडम डी वार्नेत के आतिथ्य को त्याग कर पेरिस जाने का निश्चय किया जहाँ कि वह एक नवीन संगीत स्वर का प्रदर्शन करना चाहता था जिसका कि उसने आविष्कार किया था। उसके लिए वह मान्यता प्राप्त करने में तो विफल रहा, किन्तु मित्रों की सहायता से उसे वेनिस

में फ्रांसीसी दूतालय में एक नौकरी मिल गई। वहाँ वह अपने उच्च अधिकारी से झगड़ पड़ा और उसे पदच्युत कर दिया गया। वह पेरिस लौट आया, और एक बार फिर वैभवपूर्ण फ्रांसीसी समाज में प्रवेश करने का उसने प्रयास किया; किन्तु उसे सफलता प्राप्त न हो सकी। शिष्टाचार से वह बिल्कुल अपरिचित था और उसका मिज़ाज़ इतना ख़राब था कि बहुत शीघ्र ही वह दूसरों को रुष्ट कर बैठता था और दूसरों से बिगड़ बैठता था। १७४६ ई० तक रूसो को अनुभव हो गया कि सामाजिक, आर्थिक तथा नैतिक रूप से वह पूर्ण रूप से विफल रहा।

१७४६ ई० में एक ऐसी घटना हुई जिसने कि रूसो के जीवन की धारा ही बदल दी। उसने सुना कि डीजॉन की एकाडेमी ने इस प्रश्न पर कि 'विज्ञान तथा कला की प्रगति ने नैतिकता को भ्रष्ट करने में योग दिया है अथवा उसके विशुद्धीकरण में?' सर्वश्रेष्ठ निबन्ध लिखने के लिए एक पुरस्कार की घोषणा की है। उसके मन में एकदम यह विचार उत्प्रेरित हुआ कि इस धारणा की पुष्टि की जा सकती है कि विज्ञान तथा कला की प्रवृत्ति नैतिकता के ह्रास की ओर रही है। जनेवा में उसे जो दुराचार सहन करना पड़ा और इटली तथा पेरिस में जो मिथ्याचार, दम्भ तथा कृत्रिमता उसने देखे उसके आधार पर उस समाज के ऊपर, जिसमें कि वह रहता था, एक भारी आरोप लगाया जा सकता था। उसके निबन्ध का सार यह था कि मनुष्य स्वभावतः अच्छा होता है किन्तु अस्वाभाविक सभ्यता द्वारा उत्पन्न किये गये भ्रष्ट संस्थानों द्वारा वह बुरा बन जाता है। जीवनपर्यन्त यह उसका आधारभूत विश्वास बना रहा। वह इस परिणाम पर पहुँचा कि मनुष्य यदि अपना आदिकालीन आनन्द तथा निश्छलता प्राप्त करना चाहता है तो उसे प्राकृतिक जीवन की ओर लौट जाना चाहिये। इस निबन्ध ने न केवल पुरस्कार जीत लिया, बल्कि उसने 'विवेक युग के कृत्रिम समाज में एक बड़ी हलचल मचा दी; क्रांति की यह पहिली झंकार थी।' पेरिस के साहित्यिक क्षेत्रों में रूसो को सर्वोच्च सम्मान प्राप्त हुआ, परन्तु जिस नवीन विश्वास का उद्भास उसे हुआ था उसके जोश में आकर रूसो ने 'समाज' को त्यागने, भद्र समाज से सम्बन्ध विच्छेद करके निम्न कोटि के वर्ग से मिलने जुलने का निर्णय कर लिया। धनाढ्य महिलाओं का संसर्ग छोड़ कर वह एक दरिद्र तथा अशिक्षित धोबन के साथ रहने लगा जहाँ कि वह संगीत की प्रतिलिपि करके बड़ी कठिनता से ही अपनी रूखी सूखी रोटी कमा पाता था।

उसके मस्तिष्क में नवीन विचारों का एक बवण्डर सा आया हुआ था, और १७५४ ई० में उसने उसी एकाडेमी द्वारा पेश किये गये पुरस्कार के लिए निबन्ध-लेखन प्रतिस्पर्धा में भाग लिया। इस बार उसने 'Discourse on the Origin and Foundation of Inequality' नामक पुस्तक लिखी। यह निबन्ध उसके पहिले निबन्ध 'Discourse on the Arts and Sciences' की अपेक्षा अधिक सांगोपांग था और यह निजी सम्पत्ति के संस्थान के ऊपर एक कड़ा प्रहार था। उसने कहा कि

विषमता का मूल कारण निजी सम्पत्ति है और इसका कोई भी औचित्य नहीं हो सकता। जिन्होंने सर्वप्रथम सम्पत्ति का हरण कर लिया उनकी रक्षा करने के लिये ही राज्य का जन्म हुआ। परन्तु गरीबों को सिखाया यह जाता है कि इस अपहरण को कायम रखने के लिए नहीं बल्कि उनके कष्टों को दूर करने तथा दुष्टों को दण्ड देने के लिए ही राज्य कायम है। शीघ्र ही वह वास्तविक तथ्य को समझ जाते हैं और राज्य के यथार्थ स्वरूप को जान जाते हैं, किन्तु राज्य के विरुद्ध वे अपने को शक्तिहीन पाते हैं। रूसो कहता है कि जब तक राज्य कायम है, शान्ति असम्भव है; उसे प्राप्त करने का एकमात्र साधन प्राकृतिक अवस्था की ओर लौट जाना है। इस प्रकार पहिले की भांति दूसरा निबन्ध भी तत्कालीन फ्रांस के कृत्रिम जीवन पर एक करारा प्रहार था; यद्यपि उस पर प्राकृतिक तथा सभ्य समाज की तुलना के रूप में एक आवरण पड़ा हुआ था। इस आक्रमण का एक निशाना फ्रांस का निरंकुश राजतन्त्र भी था, कम से कम जहाँ तक कि वह जनता के कष्टों के लिए उत्तरदायी था। इस निबंध को मान्यता प्राप्त न हो सकी और पुरस्कार एक अन्य व्यक्ति को दिया गया जिसकी कृति रूसो की कृति की अपेक्षा हीन थी। इस घटना से रूसो के हृदय में समाज के विरुद्ध और भी अधिक कटुता आ गई।

उसके दोनों उपरोक्त निबन्धों का ध्येय निषेधात्मक है; उनमें वर्तमान सामाजिक दोषों की ध्वंसात्मक आलोचना पाई जाती है। उनमें कोई रचनात्मक सुझाव नहीं है; वे समाज के आदर्श संघटन की कोई रूपरेखा इंगित नहीं करते। वॉहन (Vaughan) उनमें एक 'उद्दण्ड व्यक्तिवाद' पाता है जो कि **'सोशल कॉन्ट्रेक्ट'** के उतने ही 'उद्दण्ड समष्टिवाद' के एकदम विपरीत है। रूसो के चिंतन के रचनात्मक पक्ष को देखने के लिए हमें उसके राजनीतिक विज्ञान पर लिखे हुए उस निबन्ध को देखना चाहिये जो कि १७५५ में प्रकाशित हुए फ्रेंच महाकोष में छपा था। इस लेख में बहुत से वे विचार पाये जाते हैं जो आगे चल कर उसके सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ **'सोशल कॉन्ट्रेक्ट'** अथवा **'प्रिंस्पिल्स ऑफ पोलिटिकल राइट'** (Principles of Political Rights) में विकसित हुए और जो १७६२ में प्रकाशित हुआ। अन्य महान कृतियाँ, जिनके कारण रूसो को ख्याति प्राप्त हुई, हैं **'नॉवेल हेलॉयज'** (La Nouvelle Heloise) जो १७६१ में प्रकाशित हुआ, तथा 'इमाइल' (Emile) जो कि शिक्षा के ऊपर एक ग्रन्थ है और जो १७६२ में प्रकाशित हुआ। **'नॉवेल हेलॉयज'** तथा **'सोशल कॉन्ट्रेक्ट'** के लेखक के नाते रूसो बहुत विख्यात हो गया; कुलीनतंत्रियों तथा उनकी महिलाओं द्वारा उसका बड़ा सम्मान हुआ; वे लोग उससे मिलने के इच्छुक रहने लगे। किन्तु **'इमाइल'** के प्रति प्रतिक्रिया इसके विपरीत हुई; बाल शिक्षा को पादरियों के हाथ से निकाल लेने तथा किशोरावस्था तक धर्म-शिक्षा का निषेध करने की उसकी प्रस्थापनाओं से पादरी वर्ग बहुत क्रोधित हो उठा। पेरिस के आर्कबिशप, फ्रांस की संसद तथा जनेवा की सरकार ने भी उसकी निन्दा की।

इस भय से कि कहीं उसे बन्दी न बना लिया जाये रूसो के मित्रों ने उसे भाग निकलने का परामर्श दिया। इसलिए १७६२ में उसने पेरिस छोड़ दिया और अपने जीवन के शेष सोलह वर्ष एक खानाबदोश के रूप में व्यतीत किये। उसकी आवारागर्दी का यह दूसरा युग था और हर्नशा के मर्मस्पर्शी शब्दों में यह 'उत्तरोत्तर घोरतर होने वाले अन्धकार, गिरते हुए स्वास्थ्य, टूटे हुए हृदय, आच्छादित भय, विनष्टकारी विभ्रम तथा बढ़ती हुई निराशा का युग' था। उसे इंग्लैण्ड में ह्यूम ने आमंत्रित किया और वहाँ वह तथा बर्क उसके मित्र बन गये। किन्तु बर्क उसकी अभिमानशीलता को सहन न कर सका। ह्यूम अधिक वफ़ादार सिद्ध हुआ। परन्तु रूसो को निराधार सन्देह हो गया कि ह्यूम उसके जीवन के विरुद्ध कोई षड्यन्त्र रच रहा है, और इसलिए वह गुप्त रूप से फ्रांस भाग गया जहाँ उसका १७७८ ई० में देहान्त हो गया। इसी बीच में उसने अपने **'कन्फैशन्स'** (Confessions), अपने **'डाइलौग्स'** (Dialogues) तथा अपने **'रिवरीज'** (Reveries) लिखे।

रूसो की परस्पर-विरोधी व्याख्याएं— थोड़े ही आधुनिक लेखकों का प्रभाव संसार पर रूसो से अधिक पड़ा होगा। जैसा कि हम पहिले ही कह चुके हैं, वह फ्रेंच क्रांति का सब से अग्रगण्य तथा महानतम बौद्धिक संदेशवाहक था। "अपनी सबल एवं मौलिक प्रतिभा की छाप उसने राजनीति, शिक्षा, धर्म, साहित्य पर छोड़ी और लैन्सन के इस कथन में कोई अतिरंजना नहीं कि आधुनिक युग को लाने वाले समस्त मार्गों के द्वार पर हम उसे खड़ा हुआ पाते हैं।"* लास्की का कहना है कि आधुनिक संसार में आधे दर्जन व्यक्ति भी ऐसे नहीं हैं जिन्होंने आधुनिक संसार के मस्तिष्क पर इतनी गहरी छाप छोड़ी हो जितनी कि रूसो ने। परन्तु कितनी विलक्षण बात है कि समालोचकों में जितना मत-वैभिन्न्य रूसो के विषय में है उतना कदाचित् ही अन्य किसी लेखक के विषय में हो। एक ओर तो उसे ऐसा महान् दार्शनिक समझा जाता है जिसका राज्य के स्वरूप के विषय में ज्ञान अफ़लातून और अरस्तु को छोड़ किसी भी अन्य विचारक की अपेक्षा अधिक गहरा था; दूसरी ओर उसके विषय में यह कहा गया है कि वह एक मिथ्याचारी और सभ्यताहीन (Charlatan savage) तथा उलूकवाणी (Hoot-owl) था, और उसके राजनीतिक विचार में न रूप की स्पष्टता थी और न युक्तियुक्त तत्त्व। मॉर्ले का तो यहाँ तक कहना है कि सोचना तो उसने कभी सीखा ही नहीं। यदि बर्क को रूसो का कल्प-विकल्प मूल्यहीन दिखाई पड़ा तो कान्ट को उसमें 'बुद्धि के अनुपम गाम्भीर्य' के दर्शन हुए। इसके अतिरिक्त, एक ओर तो ऐसे व्यक्ति हैं जो रूसो को पवित्र और

* "He feft the stamp of his strong and original genius on politics, education, religion, literature ; and it is hardly an exaggeration to say with Lanson that he is to be found at the entrance to all the paths leading to the present." —Wayper : *Political Thought*, p. 136.

भव्य वन्य अवस्था का अवतार समझते हैं; प्रकृति की ओर लौट चलने के उसके आवाहन का अर्थ लगाया गया है उन समस्त सुखों को त्याग देना जिन्हें सभ्यता ने सपरिश्रम प्राप्त किया है। वाल्टेयर का कहना था कि रूसो की कृतियों को पढ़ कर उसे पशुओं की भाँति हाथों, पैरों के साथ चलने की हुमुक होने लगी। 'Discourse on the Origin of Inequality' को पढ़कर वाल्टेयर ने उसके लेखक अर्थात् रूसो को ये शब्द लिखे: "महोदय! मैंने मानव जाति के विरुद्ध आपकी नवीन पुस्तक पढ़ी, और उसके लिये मैं आप को धन्यवाद देता हूँ। हमें पशु बनाने के प्रयास में जितना परिहास आपने किया है, अन्य किसी ने नहीं किया। आपकी पुस्तक पढ़ कर पैरों तथा हाथों के बल चलने को मन चाहता है। परन्तु इस अभ्यास को छोड़े हुए मुझे अब तो साठ वर्ष बीत चुके, इसलिए दुर्भाग्यवश मेरे लिए अब इसे फिर से अपनाना असम्भव है।"* इसके विपरीत कुछ विचारकों की धारणा यह है कि रूसो उच्चतर तथा उच्चतर संस्कृति को प्राप्त करने के लिए उत्सुक है। उदाहरण के लिये लास्की की यह धारणा थी कि रूसो का प्रगति में उत्कट विश्वास था। कुछ व्यक्तियों के मतानुसार रूसो एक पूर्ण व्यक्तिवादी था क्योंकि वह व्यक्ति के लिए अधिकतम स्वतंत्रता चाहता था; इसके ठीक विपरीत कुछ का विश्वास यह है कि वह व्यक्ति को पूर्ण रूप से राज्य के अधीन बना देना चाहता था। एक लेखक, **'कान्स्टेण्ट'** का उसके विषय में कहना है कि वह प्रत्येक प्रकार के निरंकुशवाद का सबसे भयंकर मित्र था। **वॉहन** के अनुसार रूसो एक ओर तो राज्य का घोर समर्थक था, और दूसरी ओर व्यक्ति का तीव्र पोषक, और इनमें से किसी भी आदर्श का परित्याग करने को वह तय्यार न था।

इसके अतिरिक्त, बहुत से व्यक्ति ऐसे हैं जिन्हें रूसो के लेख परस्पर विरोधी तत्त्वों का ढेर दिखाई देते हैं। वे कहते हैं कि उसकी एक पुस्तक उसकी दूसरी पुस्तक की काट कर देती है और एक ही पुस्तक के विभिन्न अवतरणों में संगतिहीनता पाई जाती है। उदाहरण के लिए **'डिस्कोर्स'** में रूसो सम्पत्ति को सारे संकट का मूल कारण समझता है किन्तु महाकोष में दिये हुए अपने निबन्ध में उसे वह एक पवित्र संस्थान मानता है। समस्त मनुष्यों के लिए वह सहिष्णुता का उपदेश देता है किन्तु नास्तिकों का राज्य से बहिष्कार करता है। रूसो को सामान्यतया रोमांटिक प्रतिक्रिया का प्रमुख प्रतिनिधि समझा जाता है; उसने एक बार विचारशील व्यक्ति को पतित प्राणी कह कर पुकारा

* "I have received, Sir, your new book against the human species, and I thank you for it. No one has ever been so witty as you are in trying to turn us into brutes; to read your book makes one long to go on all fours. As however it is now some sixty years that I gave up the practice, I feel that it is unfortunately impossible for me to resume it."

था; परन्तु उसके 'सोशल कॉन्ट्रेक्ट' में कोई भावुकतावाद नहीं पाया जाता; उसके अमूर्त तथा कल्पविकल्पात्मक स्वरूप के कारण उसके तर्क को पूर्णरूपेण समझना कठिन हो जाता है। इसके विपरीत **हॉर्फडिंग** तथा **लैन्सन** सरीखे समालोचकों के मतानुसार रूसो का विचार पूर्ण रूप से संकलित इकाई है; उसका सम्पूर्ण विचार एक ही केन्द्रीय धारणा पर आधारित है।

रूसो की ऐसी परस्पर विरोधी व्याख्याओं के कई कारण हैं। शायद इसका सब से बड़ा कारण उसकी चुटकले तथा विरोधाभासी उक्तियों का प्रयोग करने की आदत है। उसके द्वारा प्रयुक्त बहुत से वाक्यांश जिनके कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं, सरलता से समझ में नहीं आते और वे उसके विषय में भ्रम उत्पन्न करते हैं: 'मनुष्य जन्म से तो स्वतन्त्र होता है किन्तु सर्वत्र वह ज़ंजीरों में जकड़ा हुआ है; जो मनुष्य मनन करता है वह एक पतित पशु है; हमें सब तथ्य उठाकर एक ओर रख देने चाहियें क्योंकि समस्या से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है;' इत्यादि, इत्यादि। दूसरा कारण यह है कि जिन शब्दों का रूसो ने प्रयोग किया उनकी एक स्पष्ट और सुनिश्चित परिभाषा देने का उसने कष्ट नहीं उठाया और एक ही शब्द को विभिन्न प्रसंगों में उसने विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया। सब से अधिक गलत समझा जाने वाला शब्द शायद प्रकृति (Nature) है। जब रूसो प्राकृतिक मनुष्य का उल्लेख करता है तो एक Anthropologist उसका अर्थ एक आदि मनुष्य, एक मनोविज्ञानवेत्ता उसका अर्थ एक अपरिवर्तनशील मनु तथा एक आचारशास्त्री उसका अभिप्राय एक आदर्श मनुष्य समझता है। बहुत से स्थानों पर विरोध इसलिये भी उत्पन्न हो गया है क्योंकि रूसो बिना पाठक को सूचना दिये हुए ही एक स्तर (universe of discourse) को छोड़ कर दूसरे स्तर को आरंभ कर बैठता है। जब वह उस व्यक्ति पर आरोप लगाता है जिसने कि सर्वप्रथम एक भूखण्ड पर आधिपत्य जमाया था और संसार में पापों को लाने के लिए उसे घेरा था, तो वह एक स्तर पर बात कर रहा है, और जब वह यह कहता है कि सम्पत्ति का अधिकार वैध है और विधि उसे पवित्रता प्रदान करती है, तो वह एक दूसरे जगत में विचरण कर रहा है। इस पृष्ठभूमि को सामने रखते हुए अब हम रूसो के राजनीतिक सिद्धान्तों की विवेचना आरंभ करते हैं।

प्रकृति (Nature) का अर्थ— 'सोशल कॉन्ट्रैक्ट' के प्रथम अध्याय का आरम्भिक पैरा रूसो के राजनीतिक दर्शन को समझने की एक कुंजी है:—

"मनुष्य स्वतंत्र उत्पन्न होता है, और सर्वत्र वह ज़ंजीरों में जकड़ा हुआ पाया जाता है। बहुत से व्यक्ति अपने आपको दूसरों का स्वामी समझते हैं, तथापि वे दूसरों की अपेक्षा कहीं अधिक पराधीन हैं। यह परिवर्तन किस प्रकार हुआ? मुझे मालूम नहीं। इसे वैध किस प्रकार बनाया जा सकता है? मुझे विश्वास है कि मैं इस प्रश्न का निरा-

करण कर सकता हूँ।"*

पहिला वाक्य एक निरा चुटकुला सा दिखलाई पड़ता है। यदि मनुष्य स्वतन्त्र उत्पन्न होता है तो वह हर कहीं ज़ंजीरों में कैसे हो सकता है? और इसके विपरीत, यदि वह हर कहीं ज़ंजीरों में पकड़ा हुआ पाया जाता है तो यह कैसे माना जा सकता है कि वह स्वतन्त्र उत्पन्न होता है? दोनों बातों में कोई संगति नहीं दिखलाई पड़ती। तथापि रूसो ऐसा कहता है और अपने इस कथन के दोनों भागों में संगति खोजने का कार्य अपने पाठकों पर छोड़ देता है। यह तो निश्चित ही है कि स्वतन्त्रता नवजात शिशु का ऐसा गुण नहीं हो सकता जैसी कि उसकी स्वाँस लेने, रोने, हँसने और इसी प्रकार की बातें करने की योग्यता होती है। मनुष्य को स्वतन्त्र केवल इसी अर्थ में कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता उसका जन्मसिद्ध अधिकार है, और उसके स्वभाव की विभिन्न शक्तियों के पूर्ण विकास के लिए स्वतंत्रता आवश्यक है; दूसरे शब्दों में रूसो के यह कहने का कि मनुष्य तो जन्म से स्वतंत्र होता है अर्थ यह है कि उसके जीवन का उद्देश्य स्वतंत्रता है। अथवा उसे स्वतंत्र होना चाहिये। उसके ज़ंजीरों में होने का अर्थ यह हो सकता है कि समाज की परम्परायें, परिपाटियाँ तथा राज्य के नियम उस पर अनावश्यक बन्धन लगाते हैं और इस प्रकार उसके व्यक्तित्व के विकास में सहायक होने के बजाय बाधक होते हैं। रूसो कहता है कि वह यह नहीं बतला सकता कि किस प्रक्रिया द्वारा मनुष्य सामाजिक बन्धनों में ग्रस्त हुआ। इसका अर्थ यह है कि वह समाज के ऐतिहासिक मूल के प्रश्न में नहीं घुसना चाहता। उसका उद्देश्य यह दिखलाना अधिक है कि समाज को किस प्रकार संघटित किया जाये जिससे कि वह व्यक्ति के आत्म-स्वरूप की पूर्णता में सहायता दे सके। केवल वही समाज वैध है जो कि व्यक्ति को सर्वाधिक स्वतन्त्रता प्रदान करता है; वे अन्य समस्त समाज जो व्यक्ति के इस उद्देश्य की पूर्ति में बाधा डालते हैं, दूषित हैं; वे अवैध हैं और इसलिए अस्वाभाविक हैं। इस प्रकार वह सामाजिक तथा राजनीतिक संघटन के समुचित सिद्धान्तों की खोज करना चाहता है जो कि समाज को एक नीड़ बनायें, एक पिंजड़ा नहीं। एक उदाहरण देकर इस बात को अधिक स्पष्ट किया जा सकता है।

एक बीज में अंकुरित होने, विकसित होकर एक वृक्ष बन जाने तथा फल और छाया देने की अन्तर्निहित शक्ति होती है। परन्तु वह अंकुरित तभी होगा और वृक्ष तभी बनेगा जब कि उसे अनुकूल परिवेश में रखा जाये; जब कि उसे भूमि में आरोपित किया जाये, पानी से सींचा जाये, उष्णता तथा अन्य आवश्यक सामग्री उसे दी जाये। उसे अपने आप

* "Man is born free, and everywhere he is in chains. Many a one believes himself the master of others, and yet he is a greater slave than they. How has this change come about? I do not know. What can render it legitimate? I believe that I can settle this question."

परिवर्तित होने के लिए इस प्रकार भी छोड़ा जा सकता है जिस प्रकार कि वन में वृक्षों को छोड़ दिया जाता है। जहाँ तक कि वह मनुष्य के हस्तक्षेप के विना विकसित होता है, उसका विकास स्वाभाविक होता है। किन्तु जहाँ तक कि उसके विकास में अतिवृष्टि अथवा अनावृष्टि या और कोई इसी प्रकार की बाधा आ जाती है उसके अपने निजी स्वरूप का पूर्ण विकास नहीं हो पाता। मानव कला इन रुकावटों को दूर करके स्थान, धूप, पानी इत्यादि का उचित प्रबन्ध करके उसकी अभिवृद्धि में क्रियात्मक योग दे सकती है और इस प्रकार इसके अधिक पूर्ण विकास में सहायक हो सकती है। ऐसी कला स्वाभाविक होती है और वह वृक्ष के उसी की प्रकृति के अनुसार विकसित होने में सहायता देती है। परन्तु हमारी कला का प्रभाव ठीक इसके विपरीत भी हो सकता है। "हम उसे एक ऐसा रूप दे सकते हैं जो कि स्वयं अपनी गति से उसका कभी न होता; हम उसकी ऊपर की शाखाओं और पत्तियों को काट कर उसे एक गुच्छधारी शलाका बना सकते हैं, उसकी काट छांट करके उसे एक पिरामिड अथवा एक मोर का रूप दे सकते हैं; उसे कोणीय ढंग से अथवा नीचे ही नीचे फैलने के लिए विवश कर सकते हैं, अथवा उसकी प्रकृति के विपरीत हज़ार उद्देश्यों के लिये उसके रूप को विकसित कर सकते हैं। तब वह एक स्वाभाविक वृक्ष नहीं रह जाता; हमारी कला ने उसकी प्रकृति को विकृत कर दिया है।"* यही बात मनुष्य की भी है; बल्कि मनुष्य के बारे में तो यह बात और भी अधिक सत्य है क्योंकि मानव स्वभाव, वृक्ष की प्रकृति की अपेक्षा कहीं अधिक ढाला जा सकता है। "एक कला ऐसी होती है जिससे मनुष्य के स्वाभाविक विकास में कोई बाधा नहीं पड़ती, चाहे वह मनुष्य को संस्कृति के कितने ही ऊँचे शिखर पर क्यों न पहुँचा दे। इतना ही नहीं बल्कि ऐसी कला तो उसके स्वभाव को पूर्ण बनाने में उसकी सहायता करके उसे और अधिक स्वाभाविक बनाती है। और एक कला ऐसी भी है जो कि उसके स्वभाव को विकृत कर देती है। इसलिये संघर्ष प्रकृति तथा कला में नहीं है, बल्कि प्रकृति तथा दूसरी प्रकार की कला में है।"

---

* "We may make it into something it would never be of its own motion— may pollard it into a tufted pole, trim it to the shape of a pyramid or peacock, force it to grow slantwise or horizontally, or bend it to thousand purposes alien to its principle. Then it is no longer a natural tree; our art has but denatured it."

—Wright: *Meaning of Rousseau*, page 9.

† "There is an art which leaves him natural, to whatever height of culture it may lift him; nay, that makes him the more natural, so to say, in aiding him to the perfection of his nature. And there is an art that only denatures him. So the conflict is not between nature and art, but only between nature and the second kind of art."

—*Ibid*, page 9.

रूसो ने महसूस किया कि तत्कालीन यूरोपीय समाज की कला एवं संस्कृति मनुष्य के स्वाभाविक विकास में सहायता नहीं कर रही है। बजाय उसे श्रेष्ठतर मनुष्य बनाने के यह उसका अमानवीकरण कर रही थी और उसके स्वभाव द्वारा अपेक्षित सत्पथ से उसे दूर ले जा रही थी। मनुष्य को प्रकृति की ओर लौट जाने के उसके आवाहन का तात्पर्य यह नहीं था कि मनुष्य को पशुओं की भाँति चलना चाहिये, या जंगली अवस्था में रहना चाहिये, अथवा उसे स्वाभाविक भावनाओं और प्रवृत्तियों के हाथ का एक खिलौना मात्र बन जाना चाहिये, जैसा कि निम्न कोटि के पशु करते हैं। उसके लिए ऐसा करना नितान्त अस्वाभाविक होता। उसके लिए स्वाभाविक यह है कि वह शैशवावस्था, तथा आदि मनुष्य के जंगलीपन का अतिक्रमण करे और भावना तथा इच्छा के स्थान में अन्तःकरण तथा विचारशीलता को अपना पथप्रदर्शक बनाये। रूसो चाहता था कि मनुष्य को उस मिथ्या कला तथा संस्कृति का परित्याग कर देना चाहिये जो कि उसके विकास को एक गलत दिशा देकर उसके सच्चे स्वरूप की प्राप्ति में बाधा डालती है; उसे उस सच्ची कला तथा संस्कृति को अपनाना चाहिये जो कि उसको पूर्ण बनाने में सहायता देती है। इसलिए प्रश्न उठता है : मनुष्य का सच्चा स्वभाव क्या है जिसके द्वारा हम यह जान सकें कि हमारी कला सही है या ग़लत ? इस प्रकार मनुष्य के सच्चे स्वरूप अथवा आदर्श मनुष्य की खोज करना रूसो के लिए एक प्रमुख प्रश्न था। परन्तु दुर्भाग्यवश रूसो ने 'आदर्श मनुष्य' शब्दों का प्रयोग न करके 'Natural Man' शब्दों का प्रयोग किया जिसके कारण उसके अर्थ का अनर्थ कर दिया गया।

राजनीतिक विचार के इतिहास में मनुष्य के मूल स्वभाव के विषय में दो विभिन्न तथा परस्पर-विरोधी धारणायें प्रचलित रही हैं। एक ओर तो मैकियावेली तथा हॉब्स सरीखे विचारकों की यह धारणा रही है कि मनुष्य स्वभाव से ही इतना बुरा है और इसलिए सच्ची कला उसे उसकी दुष्ट प्रकृति से त्राण दिलाने में है। इसके विपरीत अफलातून तथा रूसो की यह धारणा है कि मनुष्य स्वभावतः अच्छा होता है और इसलिए सच्ची कला उसकी स्वाभाविक अच्छाई का विकास करना है। रूसो का विश्वास था कि संसार में पाया जाने वाला पाप, भ्रष्टाचार तथा दुष्टता मनुष्य की जन्मजात दुष्टता का परिणाम नहीं है, वल्कि वे पूर्ण रूप से ग़लत सामाजिक संस्थाओं की उत्पत्ति हैं। एक ग़लत कला तथा संस्कृति ने मनुष्य को उसके लक्ष्य से विचलित कर दिया है और उसे पथभ्रष्ट कर दिया है। सारांश यह कि मनुष्य स्वभाव से ही बुरा नहीं होता, वल्कि भ्रष्ट कला के परिणामस्वरूप वह बुरा बन जाता है। परन्तु अभी तक तो यह केवल एक मान्यता ही है। इसे सच्ची मान लेने से पहिले इसकी पुष्टि में कुछ साक्ष्य तो मिलना चाहिये। हमारे आदि-स्वभाव की खोज करने के प्रयास में रूसो मनुष्य को उन समस्त गुणों से नग्न कर देता है जिन्हें कि उस कला अथवा संस्कृति की उपज कहा जा सकता है जिसका प्रभाव अब तक मनुष्य पर पड़ता रहा है।

रूसो ने महसूस किया कि हमारे मौलिक स्वाभाव की निर्णायक दो प्रवृत्तियाँ होती हैं; इन्हें कला का उपहार नहीं कहा जा सकता। इनमें से एक है आत्मप्रेम, अथवा आत्म-प्रतिरक्षण की भावना। "मनुष्य का प्रथम कानून स्वयं अपना प्रतिरक्षण करना है; उसे सब से पहिले स्वयं अपनी चिंता रहती है।"* यदि स्वभाव से ही मनुष्य में यह भावना न होती तो वह अपने आदि काल में ही नष्ट हो गया होता। इस भावना को हम शुभ कहेंगे क्योंकि इसी के कारण हम अपने को प्रतिरक्षित रख पाते हैं। दूसरी प्रवृत्ति है सहानुभूति, अथवा परस्पर सहायता की भावना। यदि प्रकृति हमें यह भावना प्रदान न करती तो जीवन संग्राम हमारे लिए अति दुष्कर हो उठता और हम उसमें नष्ट हो जाते। जीवन संग्राम की कठोरता को जो चीज़ कम करती है वह है परस्पर सहायता की भावना, अर्थात् संवेदना। परिवार का आधार यही भावना है। इसे भी एक शुभ भावना कहा जा सकता है क्योंकि इसका क्रियात्मक प्रभाव कल्याणकारी होता है। रूसो की धारणा है कि हमारी समस्त प्राकृतिक प्रदेन केवल ये ही दो भावनायें हैं; अन्य प्रत्येक गुण इन्हीं के ऊपर बाहरी वातावरण से आरोपित किये जाते हैं। ये भावनायें समस्त मनुष्यों में पाई जाती हैं, बल्कि सम्पूर्ण जीवधारी सृष्टि के ये सामान्य गुण हैं। क्योंकि ये भावनायें शुभ होती हैं, इसलिये स्वभावतया मनुष्य को अच्छा ही माना जाना चाहिये, बुरा नहीं। मनुष्य को स्वभावतया अच्छा कहने से रूसो का तात्पर्य इससे अधिक और कुछ नहीं है कि हमारी आदि भावनायें हमारे लिए तथा हमारे साथी मानव प्राणियों के लिये हानि की अपेक्षा लाभ अधिक पहुँचाती हैं। यदि मानव प्रकृति का रूसो का यह विश्लेषण सही है तो हॉब्स तथा वे सब लोग जो मनुष्य को स्वभावतया स्वार्थी, झगड़ालू तथा दुष्ट समझते हैं, गलत होने चाहियें।

इन दो आदि भावनाओं, आत्म-प्रतिरक्षण तथा संवेदना, का कभी कभी एक दूसरे से संघर्ष होना अनिवार्य है। आत्म-प्रेम एक माता को अपनी भूख बुझाने के लिए प्रेरित करेगा, परन्तु अपने बच्चे के लिये संवेदना उसे बच्चे को भोजन देने के लिये विवश करेगी। परिवार हित की इच्छा कभी कभी ऐसे कार्य की माँग करती है जोकि समाज के हितों से ताल नहीं खाता। इस प्रकार से आत्म-प्रतिरक्षा तथा परमार्थ के लिए आवश्यक कामों में संघर्ष प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक समस्या उत्पन्न कर देता है। दोनों भावनायें पूर्ण रूप से संतुष्ट नहीं की जा सकतीं, इसलिए व्यक्ति इनमें समझौता करने के लिये विवश होता है। इस प्रकार के निरंतर समझौतों से एक नवीन भावना उत्पन्न होती है जिसे अन्तःकरण (Conscience) कहा जाता है। यह भावना बुद्धि की उपज नहीं हो सकती, क्योंकि बुद्धि का अभी तक प्रादुर्भाव नहीं हुआ है; यह शिक्षा की उपज भी नहीं

* "His first law is to attend to his own preservation; his first cares are those which he owes to himself."

— *Social Contract*, Book I, Chapter II.

हो सकती, क्योंकि शिक्षा का आधार है अच्छे, बुरे सम्बन्धी परिताड़नायें जिनका कि अभी तक जन्म नहीं हुआ। अन्तःकरण बुद्धि तथा शिक्षा दोनों से प्राचीन है; यह प्रकृति का उपहार है। यह अभी तक नैतिक नहीं है; किन्तु यह उस आधार का निर्माण करता है जिसके ऊपर विवेक नैतिकता का ढाँचा खड़ा कर सकता है। यह स्वाभाविक रूप से मनुष्य को प्राप्त होता है और इसका उद्देश्य मनुष्य का कल्याण है, इसलिए यह निश्चित रूप से ही शुभ है।

अन्तःकरण का जन्म मनुष्य की दो आदि भावनाओं में संघर्ष का निराकरण करने के लिए होता है। जब तक जीवन सरल रहता है, यह अपने उद्देश्य में सफल होता रहता है। ज्यों ही जीवन जटिल हो जाता है, यह अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए अपर्याप्त हो जाता है। यह अपर्याप्त इसलिए होता है क्योंकि यह अन्धा होता है और इसमें सदसद् का विवेक करने की सामर्थ्य नहीं होती। आखिर यह एक भावना मात्र ही तो है जिसका कार्य मनुष्य को सत्य से प्रेम करने तथा असत्य से घृणा करने के लिए प्रेरित करना है। यह उसे यह नहीं सिखाता कि सत्य क्या है, यह तो केवल उसे सत्कार्य करने के लिए प्रेरित करता है। सत्कार्य क्या है? इसके जानने का स्रोत भिन्न है। सारांश यह कि यह एक नैतिक शक्ति है, नैतिक मार्गदर्शक नहीं। मार्ग-दर्शन के लिए उसे एक दूसरी शक्ति पर निर्भर करना पड़ता है जो कि मनुष्य में विकसित होती है। यह शक्ति है विवेक। विवेक व्यक्ति को यह सिखाता है कि उसे क्या करना चाहिये; किन्तु उससे वह उस कार्य को करा नहीं सकता। सत्कार्य की ओर प्रवृत्त करने वाला एकमात्र अन्तःकरण है। दूसरे शब्दों में, विवेक हमारे लक्ष्य को निर्धारित करता है; वह हमें बतलाता है कि क्या सत्य है और क्या असत्य। विवेक द्वारा प्रदत्त इस ज्ञान के आधार पर अन्तःकरण नैतिक जीवन का निर्माता बन जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि रूसो के अनुसार आत्म-प्रेम तथा संवेदना में सामंजस्य स्थापित करने तथा अन्य भावनाओं के विकास करने में विवेक तथा अन्तःकरण साथ साथ कार्य करते हैं। यदि रूसो ने विवेक की अपेक्षा अन्तःकरण को अधिक महत्त्व दिया तो उसका कारण यह था कि उसके समय में अन्तःकरण की बहुत उपेक्षा की जा रही थी। वह ज्ञान का युग था; अन्तःकरण के अस्तित्व से इन्कार करना उस समय एक फ़ैशन बन चुका था। इसके अतिरिक्त रूसो अन्तःकरण को अच्युत समझता था क्योंकि यह सदैव सत्य से प्रेम तथा असत्य से घृणा करती है। निस्सन्देह, इस से भयंकर भूल भी हो सकती थी; किन्तु उसमें दोष विवेक का होता, स्वयं उसका नहीं। अन्तःकरण पर इतना बल देने के कारण कभी कभी रूसो को विवेक-विरोधी और रोमांचकारी कह कर उसकी निन्दा की जाती है। केवल इस कारण ही कि वह अन्तःकरण को विवेक से प्राचीनतर मानता था और विवेक को अच्युत नहीं समझता था, उसे विवेक-विरोधी कहना उचित नहीं। जैसा कि हम आगे चल कर दिखलायेंगे, व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में वह विवेक

को उचित स्थान प्रदान करता है, परन्तु हाँ, उसे वह अपरिमित अधिकार नहीं देता। "उसे सुरक्षा केवल उस संघटन में दिखाई पड़ती है जिसमें कि भावना तथा विवेक एक दूसरे को संयत तथा नियंत्रित करते हैं— जिसमें भावना विवेक को सन्मार्ग की ओर ले जाती है, तथा जिसमें विवेक हमें उसके सहारे पूर्णता की ओर ले जाता है।"* इस वाक्यांश का कि 'भावना विवेक को सन्मार्ग की ओर अग्रसर करती है' अर्थ केवल यह है कि स्वयं विवेक अपने द्वारा इंगित सन्मार्ग का अनुसरण मनुष्य से नहीं करा सकता; उसके लिए अन्तःकरण की प्रेरक शक्ति की आवश्यकता है।

गत पृष्ठों में हमने रूसो की मानव स्वभाव सम्बन्धी धारणा को व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। हमने देखा कि उसके अनुसार हममें से प्रत्येक दो भावनाओं— आत्म-प्रेम तथा संवेदना का सम्मिश्रण है जिनके आधार पर विवेक तथा अन्तःकरण संस्कृति के भवन का निर्माण करते हैं। परिवर्धित होना तथा विकास करना भी हमारे स्वभाव का एक अंग है। "अपने विवेक द्वारा तथा समाज में रह कर अपने को पूर्ण बनाना मनुष्य का जीवन लक्ष्य है।"† जहाँ तक व्यक्ति अपने विकास में अपनी आधारभूत भावनाओं को अक्षुण्ण रख पाता है वहाँ तक उसका जीवन स्वाभाविक रहता है। जब ये भावनायें विकृत हो जाती हैं या इनका दमन किया जाता है तो उसका जीवन अस्वाभाविक हो जाता है। इसलिए सब से अधिक स्वाभाविक मनुष्य— 'नेचुरल मैन' (Natural Man) वह है जिसने अपने को पूर्ण बना लिया है; वह विकास की प्रक्रिया के अन्त में पाया जायेगा, आरम्भ में नहीं। वह न तो वह शिशु है जो चारों हाथों, पैरों के बल चलता है और न जंगली अवस्था में रहने वाला मनुष्य है; वह तो वह दार्शनिक-राजा है जिसका सपना अफ़लातून ने देखा था, अथवा श्री रामचन्द्र जिनका चरित्र चित्रण गोस्वामी तुलसीदास ने अपने अमर महाकाव्य 'रामचरित-मानस' में किया है। भगवान बुद्ध तथा ईसामसीह सरीखे अवतार और महात्मा गाँधी तथा श्री रामकृष्ण परमहंस सरीखे ईश्वरप्रिय व्यक्ति रूसो द्वारा चित्रित स्वाभाविक मनुष्य— "नेचुरल मैन" के बहुत निकट हैं। रूसो की यह धारणा कि एक वस्तु का स्वभाव वह है जो कि सर्वाधिक अनुकूल स्थितियों में हो सकता है, अरस्तु के बहुत निकट है।

यहाँ पर स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि यदि मनुष्य का स्वभाव शुभ है, यदि उसका जीवन लक्ष्य अपने स्वभाव को विवेक द्वारा तथा समाज में रह कर पूर्ण

* "He sees safety only in a perfect union in which sentiment and reason mutually check and control each other— in which sentiment urges reason to the right path, and in which reason leads us along it towards perfection." Wright : *op. ct.*, page 16.

† "Perfection of man's nature by his reason and through society is man's destiny." Wayper : *op. ct.*, page 141.

बनाना है तो साधारण मनुष्य इसकी प्राप्ति क्यों नहीं कर पाते ? हम बुरे कैसे बन गए ? "आत्म-प्रेम तथा संवेदना के सम्मिश्रण से हमारा निर्माण हुआ, प्रथम उपहार हमें अन्तःकरण का मिला। हमसे सद् होने की आशा की जाती थी और सद् की प्राप्ति के लिए हमने विवेक का आश्रय लिया। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रक्रिया में हम से कहीं भूल हो गई। अपने मार्ग से हम कब बहके ?"*

रूसो इस प्रश्न का उत्तर यह देता है कि मनुष्य सन्मार्ग से विचलित तब होता है जब कि उसका आत्मप्रेम दम्भ में बदल जाता है। आत्मप्रेम अभिमान से उतना ही भिन्न है जितना कि स्वाभाविक मांस एक सूजे हुए अंग से जो कि अस्वस्थता का चिह्न है। आत्म-प्रतिरक्षा की स्वाभाविक भावना व्यक्तियों को केवल उन वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए प्रेरित करती है जो कि उसकी वास्तविक आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करती हैं; ये बहुत थोड़ी होती हैं और सरलता से तृप्त की जा सकती हैं। परन्तु यदि वह उनसे आगे बढ़ता है और आवश्यकता से अधिक या जो कुछ उसके पड़ौसियों के पास है उससे अधिक लेने का प्रयत्न करता है तो हमें समझ लेना चाहिये कि उसका आत्मप्रेम पतित होकर दम्भ बन गया है और उसने एक ऐसा क़दम उठा लिया है जो अन्तिम रूप से उसे उस जीवन से दूर ले जायेगा जो कि प्रकृति के पूर्ण रूप से अनुकूल है। आत्मप्रेम नहीं बल्कि दम्भ के कारण ही मनुष्य मनोवांछित वस्तु के छिन जाने पर लज्जित होता है और प्रतिस्पर्धा में जीत जाने पर मिथ्याभिमान से फूल उठता है। और दम्भ ही, (आत्मप्रेम नहीं), उसमें दूसरों को अपमानित करने, उनसे बदला लेने की भावना तथा मिथ्या महत्त्वाकांक्षा इत्यादि भरता है। इस प्रकार दम्भ उन समस्त दोषों का मूल तथा स्रोत है जिनमें कि आज संसार ग्रस्त है। सारांश यह है कि जब दम्भ हमारे विवेक को आच्छादित कर लेता है तो हमारी आधारभूत भावनायें विकृत हो उठती हैं, उन पर आवरण पड़ जाता है और हमारे जीवन की विकासधारा हमारे स्वभाव के विपरीत दिशा में प्रवाहित होने लगती है। दम्भ की छत्रछाया में पनपी हुई कला तथा संस्कृति हमारे स्वभाव को विकृत कर देती है। इसलिए यदि हम अपने आपको अक्षुण्ण रखना चाहते हैं और अपनी प्रकृति की क्षमता के अनुसार पूर्णता प्राप्त करना चाहते हैं जो कि हमारा स्वाभाविक लक्ष्य है तो हमें दम्भ का परित्याग कर देना चाहिये और केवल अपनी स्वाभाविक भावनाओं, आत्मप्रेम तथा संवेदना पर ही संतोष करना चाहिये। यदि हम आत्मप्रेम तथा संवेदना में सामंजस्य स्थापित करने में अपने अन्तःकरण के लिये विवेक का निर्देशन प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें विवेक को दम्भ के चंगुल से

* "Made up of self-love and sympathy, with conscience for a first gift, we were meant to be good and we waited upon reason to lift us up to virtue. But somewhere in the process we seem to have gone wrong. When did we stray ?" —Wright : *op. ct.*, page 17.

निकालना होगा। जब रूसो हमें प्रकृति की ओर लौट चलने का सन्देश देता है तो उस का यही अर्थ होता है, इससे अधिक और कुछ नहीं। "हम दम्भ का परित्याग कर सकते हैं। हम दूसरों के साथ तुलना करना छोड़कर केवल अपने ही कार्य में लगे रह सकते हैं। हम बहुत सी कल्पनात्मक इच्छाओं का परित्याग करके केवल आवश्यकता की वस्तुओं तक ही सीमित रह सकते हैं; हम मायामय संसार का परित्याग करके अपने स्वरूप को पुनः प्राप्त कर सकते हैं। हम विनम्र हो सकते हैं और अपनी आत्मा को प्राप्त कर सकते हैं। एक शब्द में, हम **'प्रकृति की ओर लौट सकते हैं।'** इस प्रसिद्ध वाक्य का यही अर्थ है।"*

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि यह कहना कि रूसो हमें चारों हाथों और पैरों के बल चलने को कहता है, अथवा हमें जंगली अवस्था में ले जाना चाहता है तथा हमें सभ्यता की समस्त देनों का परित्याग करके पूर्व-राज्य की अवस्था में ले जाना चाहता है, रूसो के अभिप्राय का अनर्थ करना है। रूसो हमें पीछे नहीं ले जाना चाहता; वह अत्यन्त उत्सुकतापूर्वक प्रगति में विश्वास करता है। वह मानता था कि जीवन की प्रारम्भिक अवस्था की अपेक्षा राज्य के अपरिमित लाभ हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि रूसो का "नेचुरल मैन" वह आदर्श है जिसको विकास करते करते हमें प्राप्त करना है, वह उस अवस्था का प्रतिनिधि नहीं है जिससे कि हम चले थे और जिसे हम पीछे, बहुत पीछे छोड़ आये हैं। यदि हम अपने जीवन लक्ष्य पर पहुँचना चाहते हैं तो हमें अनावश्यक एवं कल्पनात्मक इच्छाओं, अर्थात् मिथ्या दम्भ का परित्याग करना होगा। समाज के वर्तमान संघटन, उसकी कला तथा संस्कृति, बहुत से तत्त्व ऐसे हैं जो मनुष्य की स्वाभाविक भावनाओं के पूर्ण विकास के लिए पर्याप्त स्थान नहीं छोड़ते, इस लिये यदि हम अपने स्वरूप को प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें उन तत्त्वों का परित्याग करना पड़ेगा। लास्की के शब्दों में "हमें एक ऐसे पुनर्प्रतिष्टान की आवश्यकता है जो एक ही साथ व्यक्ति तथा उन संस्थाओं का जोकि आज उसे पतित कर रहे हैं, पुनर्निर्माण करेगी।"

इस प्रसंग में हमें यह न समझ बैठना चाहिये कि अभीष्ट पूर्णता को प्राप्त करने के लिए दम्भ तथा समस्त अनावश्यक इच्छाओं के परित्याग करने की बात केवल रूसो ने कही है। क्या भगवान बुद्ध का अष्टमार्ग हमें यही संदेश नहीं देता? क्या महात्मा ईसा ने मनुष्य को आत्मप्राप्ति के लिए विनम्र होने का आदेश नहीं दिया था? और

* "We can give up pride. We can cease from all comparison with other men and simply go about our destiny. We can renounce a host of imaginary desires and hold fast to the true things needful; cast away a world of illusion and rediscover our own self. We can be meek, and inherit our soul. In a word, we can return to nature. That is all the famous phrase means."

—Wright: *Meaning of Rousseau*, page 20-1.

चर्खा धर्म का अर्थ भी इसके अतिरिक्त और क्या है कि हमें सत्य तथा अहिंसा के अनुसार व्यक्ति को ढालना और जीवन को सरल बनाना चाहिये? इसमें कोई सन्देह नहीं कि १८वीं शताब्दी का यूरोपीय समाज मनुष्य को उसकी प्रकृति के अनुकूल नहीं बल्कि प्रतिकूल ढाल रहा था। आज के समाज तथा सभ्यता के बारे में भी यह बात उतनी ही सत्य है। रूसो ने अपने समय की कला तथा संस्कृति की अस्वाभाविकता तथा कृत्रिमता के प्रति विरोध प्रदर्शित किया; गाँधी जी ने २०वीं शताब्दी के जगत में भौतिक मूल्यों के प्रसार के फलस्वरूप मानव आत्मा के पतन के विरुद्ध आवाज़ उठाई।

रूसो के विषय में हमें एक और भ्रम से बचना है। जैसा कि पहिले ही कहा जा चुका है, रूसो को कभी कभी विवेक-विरोधी (Anti-rational) कहकर उसकी निन्दा की जाती है। ऐसा कदाचित् इसलिए हो क्योंकि वह विकास क्रम के दृष्टिकोण से अन्तःकरण के प्रादुर्भाव को विवेक से पहिले मानता था और विवेक को अच्युत नहीं समझता था। परन्तु वह स्वयं विवेक का विरोध नहीं करता। वह सद्बुद्धि तथा असद्बुद्धि में विवेक करता है और असद्बुद्धि को मिथ्या तथा भ्रष्ट कला और संस्कृति के लिए उत्तरदायी समझता है जिन्होंने कि मनुष्य को प्रकृति-भ्रष्ट कर दिया है। बुद्धि सत् तभी होती है जब कि वह आत्म-प्रेम को हमारी वास्तविक आवश्यकताओं तक सीमित रखती है और हमारी संवेदना को परिष्कृत करके उसे विवेकशील दयालुता का रूप देती है। वह असत् तब बन जाती है जब कि दम्भ के प्रभाव में आकर वह हमारे अन्तःकरण को भ्रष्ट करती है तथा एक अस्वाभाविक समाज और संस्कृति का निर्माण करती है। यदि मनुष्य अपने वास्तविक लक्ष्य अर्थात् पूर्णता को प्राप्त करना चाहता है तो उसे सद्बुद्धि द्वारा उस सब को नष्ट कर देना चाहिये जिसे कि असद्बुद्धि ने उत्पन्न किया है। रूसो के अनुसार राज्य में मनुष्य को स्वाभाविक बनाने का कार्य तथा गौरव बुद्धि को ही प्राप्त है। प्रकृति-विरोधी समस्त वस्तुओं का परित्याग करके और तब नव-निर्माण करके ही बुद्धि अपने इस कार्य को सम्पन्न कर सकती है। यह कठिन कार्य है, परन्तु यही एकमात्र सद्कार्य है और बुद्धि ही इसे कर सकती है। बुद्धि को इतना महान् तथा गौरवमय कार्य सौंपने वाले को हम बुद्धि-विरोधी कैसे कह सकते हैं? अपने *Emile* नामक ग्रंथ में रूसो उस सद्शिक्षा का वर्णन करता है जो कि स्वाभाविक मनुष्य का निर्माण कर सकती है, और 'सोशल कॉन्ट्रेक्ट' में वह उस आदर्श राज्य की रूपरेखा प्रस्तुत करता है, केवल जिसमें रहकर ही "नेचुरल मैन" आदर्श पूर्णता को प्राप्त कर सकता है। सद्शिक्षा तथा आदर्श राज्य, ये दोनों ही बौद्धिक रचनायें हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि रूसो बुद्धिवादी है, बुद्धि-विरोधी नहीं; उसकी समस्त कृतियों का केन्द्र बिन्दु यह धारणा है कि मनुष्य अपनी बुद्धि द्वारा पूर्णता को प्राप्त हो सकता है।

अन्त में एक अन्य तत्त्व भी उल्लेखनीय है जिसे वह मानव स्वभाव का एक अंग समझता है। प्रकृति ने मनुष्य को न केवल आत्म-प्रेम तथा संवेदना तत्त्व प्रदान किये हैं

जिनका स्वाभाविक विकास अन्तःकरण तथा बुद्धि के निर्देशन में होता है ; उसने हमें एक अन्य महान् उपहार भी प्रदान किया है। यह है अपना मार्ग चुनने की स्वतंत्रता। इस स्वतंत्रता के कारण ही मनुष्य पशु से भिन्न है। यदि हमारे समस्त कार्य उतने ही आवश्यक होते जितने कि पशुओं के, तो हम में तथा पशुओं में कोई भेद न रहता और हमारे विकास का कोई प्रश्न ही न उठता। यदि मनुष्य को पूर्णता प्राप्त करनी है तो उसके लिए स्वतंत्रता अपरिहार्य है। रूसो अपने **'सोशल कॉन्ट्रेक्ट'** को इन चिरस्मरणीय शब्दों के साथ आरम्भ करता है : **मनुष्य स्वतंत्र उत्पन्न होता है।**

स्वतंत्रता कोई परिवर्तनहीन चीज़ नहीं है ; यह विभिन्न अवस्थाओं में बदलती रहती है। पूर्व-राज्य अवस्था में मनुष्य की स्वतंत्रता एक प्रकार की होती है और राज्य में दूसरे प्रकार की। एक जंगली मनुष्य के लिए इसका एक अर्थ होता है और सुकरात सरीखे एक महापुरुष के लिये इसका दूसरा अर्थ होता है। पूर्णता की ओर उठने वाले हमारे प्रत्येक क़दम के साथ साथ इसका विकास होता रहता है और इसमें परिवर्तन होता रहता है। इसलिए इसके विभिन्न अर्थ हमें भली प्रकार समझ लेने चाहियें।

शिशुओं की स्वतन्त्रता तथा पशुओं की स्वतन्त्रता में कोई भेद नहीं होता। रूसो इसे स्वाधीनता कहकर पुकारता है। इसे इस नाम से इसलिये पुकारा जा सकता है क्योंकि यह मानवीय क़ानून पर निर्भर नहीं करती। जिस समय पूर्णता की ओर हम अपनी यात्रा आरम्भ करते हैं उस समय हमें अपने कर्त्तव्यों का ज्ञान नहीं होता ; और न ही हमारा कुछ उत्तरदायित्व होता है ; हम अपनी इच्छानुसार आचरण कर सकते हैं। परन्तु इस स्वाधीनता को पूर्ण नहीं कहा जा सकता ; वस्तु धर्म के प्रति अधीनता की सीमायें इस पर लगी होती है ; इसका अर्थ यह भी होता है कि हम अपनी प्रवृत्तियों तथा भावनाओं के दास होते हैं। "मनमानी करने की पशु की भांति अपनी इच्छाओं को तृप्त करने की स्वतंत्रता तो केवल इन्द्रियों की दासता है ; और जबकि जंगली मनुष्य की वासनाओं को तृप्त करने की स्वतन्त्रता वासनाओं की दासता सिद्ध होती है तो दो अति बिन्दु एक जगह मिल जाते हैं।"* इससे आगे चलकर मनुष्य नागरिक स्वतन्त्रता पर आता है। इसका प्रादुर्भाव नागरिक समाज की स्थापना होने पर होता है ; इसमें मानवीय क़ानून के प्रति अधीनता आती है। मानवीय कानून के प्रति अधीनता के साथ ही साथ अधिकार तथा कर्त्तव्य सम्बन्धी धारणाओं का प्रवेश होता है। "स्वाधीनता किसी कर्त्तव्य को नहीं जानती ; स्वतन्त्रता की मांग यह है कि हमें प्रत्येक कार्य को कर्त्तव्य समझ कर करना चाहिये। स्वाधीनता की अवस्था में कोई अधिकार नहीं हो सकते, क्योंकि यदि सब लोग

* "Brute freedom to do as we please is only bondage to our pleasure ; and the extremes meet when the freedom of the savage to glut appetite turns out to be slavery to appetite."

—Wright : *op. ct.*, page 27.

मनमानी करने लगें तो कोई अधिकार नहीं रह सकता, और न ही अधिकारों को निर्धारित करने वाली कोई शक्ति रह सकती है ; स्वतन्त्रता में हमारे अधिकार निर्धारित रहते हैं, और समूह की सम्पूर्ण शक्ति का प्रयोग उनकी सुरक्षा के लिए किया जाता है। अधिकारों की यह सुरक्षा ही स्वतन्त्रता होती है। इसलिये जो चीज़ हमने खोई है वह है मनमानी करने की संदिग्ध स्वतन्त्रता, किन्तु जो कुछ हमने पाया है वह है उस कार्य को करने की सुरक्षित स्वतन्त्रता जिसे हम सब सत् समझते हैं।"†

इस उद्धरण की पूर्ण व्याख्या तो हम तभी करेंगे जब कि **'सोशल कॉन्ट्रेक्ट'** में प्रतिपादित रूसो के सिद्धान्त की हम समीक्षा करेंगे। यहाँ पर तो हमारा उद्देश्य केवल यह दिखलाना है कि जिस स्वतन्त्रता का उपभोग मनुष्य राज्य में करते हैं और जो हमारे स्वरूप की पूर्णता के लिये अपरिहार्य है, वह उस स्वाधीनता से बहुत भिन्न है जो कि कल्पित पूर्व-राज्य अवस्था में मनुष्य के पास थी।

एक प्रकार की स्वतन्त्रता नागरिक स्वतन्त्रता से भी उच्चतर होती है। यह वह उच्चतम अवस्था है जो मनुष्य अपनी प्रकृति के विकास में प्राप्त कर सकता है ; यह उसे स्वयं का स्वामी बना देती है। इसकी प्राप्ति उस समय होती है जबकि मनुष्य अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं को इतना संयत कर लेता है कि उसकी केवल एक इच्छा शेष रह जाती है ; और वह है विवेक के साथ एकाकार हो जाने की कामना। अपने स्वभाव के अनुकूल मनुष्य पूर्ण स्वतन्त्रता तभी प्राप्त कर सकता है जब कि वह पूर्ण रूप से अपने आपको बुद्धि धर्म के सामने समर्पित कर देता है। यह एक ऊँचा और, इसीलिए, एक कठिन आदर्श है। इसमें तथा भगवद्गीता में चित्रित भक्त अथवा सन्त के आदर्श में तत्त्वतः कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता। भगवान कृष्ण कहते हैं कि मेरा सर्वप्रिय भक्त वह है जिसने अपने आप को पूर्ण रूप से समर्पित कर दिया है।

यह है रूसो द्वारा चित्रित 'नेचुरल मैन' अर्थात्, आदर्श मानव का पूर्ण चित्र। स्थानाभाव के कारण हम रूसो द्वारा प्रस्तावित '*Emile*' में आदर्श शिक्षा की योजना का यहाँ वर्णन नहीं कर सकते। इसलिये अब हम उन सिद्धान्तों की समीक्षा आरम्भ करते हैं जिनके ऊपर वह आदर्श अथवा स्वाभाविक समाज आधारित है, केवल

† "Independence knew no duty; liberty requires every act to be a duty. Independence knew no rights, for there could be no right when all did as they would, nor any power to fix one; in liberty our rights are fixed, and all the power of the group is engaged for their security. It is that security in rights that constitutes liberty. What we have lost is therefore the precarious freedom to do so as we please, and what we have gained is the assured freedom to do what all consider right." —*Ibid*, page 28.

जिसमें ही 'नेचुरल मैन' जीवित रह सकता है तथा अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है।

रूसो की समस्या— मानव स्वभाव सम्बन्धी रूसो की धारणा की गत विवेचना के अन्त में हमने कहा था कि अपने स्वरूप के विकास के लिये हमें जिस चीज़ की सब से अधिक आवश्यकता है वह है कर्म-स्वातन्त्र्य। यदि प्रकृति हमें कर्म करने की स्वतन्त्रता से विभूषित न करती तो हम जीवनपर्यन्त पशुओं के स्तर पर ही रहते। अपने लिये कर्म-निर्धारण की स्वतंत्रता ही हमें वासनाओं की दासता से ऊपर उठाकर धर्ममय जीवन की प्राप्ति कराती है। अब रूसो एक कदम और आगे बढ़ता है और कहता है कि सच्ची स्वतंत्रता हमें केवल समाज की सदस्यता द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। वह कहता है कि राज्य से अलग रहकर हम 'मूर्ख तथा परिमित पशु' ही बने रहते और हमारे कार्यों को कोई नैतिक गुण प्राप्त न होता। राज्य की सदस्यता द्वारा ही शारीरिक प्रवृत्तियों के स्थान पर कर्त्तव्यशीलता प्रतिष्ठित होती है और मनुष्य अपनी प्रवृत्तियों के सामने झुकने से पूर्व अपनी बुद्धि की वाणी सुनने लगता है। इस प्रकार प्रवृत्ति के स्थान पर न्याय प्रतिष्ठित होता है और मनुष्य नैतिक बन जाता है। सामाजिक जीवन के-वृक्ष पर ये मधुर फल केवल तभी लगते हैं जबकि राज्य की व्यवस्था सही हो। एक सद्व्यवस्थित समाज में ही मनुष्य उस सच्ची स्वतन्त्रता को प्राप्त कर पाता है जोकि इच्छाओं को संयत रखने से प्राप्त होती है। और यह सम्भव तब होती है जबकि हमारा आचरण विधि के अनुसार हो। रूसो के अनुसार मनुष्य को न्याय एवं स्वतन्त्रता की प्राप्ति विधि द्वारा ही होती है और विधि ही मनुष्य के बीच स्वाभाविक अथवा नैतिक समता स्थापित करती है, तथा उसे अपने निर्णय के अनुकूल, (स्वयं अपने ही प्रतिकूल नहीं,) कार्य करना सिखलाती है। विधि मूल रूप से **'सामान्य इच्छा'** (General Will) की आवाज़ है; यह नागरिकों की विवेकसम्मत इच्छाओं के साकार रूप की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार की विधि की आज्ञा का पालन करना मनुष्य को स्वतन्त्र बनाता है; व्यक्ति की इच्छा के विरुद्ध बनाई गई विधि के सामने झुकना दासता है। सारांश यह कि रूसो के अनुसार व्यक्ति सच्चे रूप से स्वतंत्र तब होता है जबकि वह अपनी इच्छा को विधि के साथ और उसके द्वारा बुद्धि के साथ एकाकार कर लेता है; अर्थात् जबकि **'कान्ट'** के दृष्टि-कोण से वह 'स्वशासक' बन जाता है। अब प्रश्न यह है कि व्यक्ति की इच्छा तथा **'सामान्य इच्छा'** अथवा बुद्धि में तद्रूपता किस प्रकार लाई जाये। हम स्वशासक अथवा स्वतन्त्र केवल तब बन सकते हैं जबकि हम नैतिक नियम के अनुसार आचरण करें। ऐसा किस प्रकार हो सकता है?

रूसो अपने सुविख्यात ग्रन्थ, **सोशल कॉन्ट्रैक्ट**, में इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास करता है। वहाँ वह उन सिद्धान्तों का वर्णन करता है जिनके ऊपर कि समाज को संगठित किया जाना चाहिये, यदि हम इस उद्देश्य, अर्थात् व्यक्तिगत इच्छा तथा **सामान्य इच्छा** में एकरूपता, की प्राप्ति करना चाहते हैं। इस ग्रन्थ का उपशीर्षक है: **दी प्रिंसिपल्स**

ऑफ पोलिटिकल राइट (The Principles of Political Right)। यह उपशीर्ष इस ग्रन्थ के उद्देश्य तथा विषय को उस शीर्षक से कहीं अधिक स्पष्टता से अभिव्यक्त करता है जिससे कि यह ग्रन्थ आज प्रसिद्ध है। यह पुस्तक यदि इसी उपशीर्ष से प्रसिद्ध होती तो रूसो को समझने में शायद इससे कुछ अधिक सहायता मिलती।

दी सोशल कॉन्ट्रेक्ट (The Social Contract)— सोशल कॉन्ट्रेक्ट में प्रतिपादित रूसो की राज्यविषयक धारणा की समीक्षा करने से पूर्व कुछ शब्द इस पुस्तक के सामान्य स्वरूप के विषय में कह देना अनावश्यक न होगा। कहा जाता है कि यह ग्रन्थ उसके लेखक की अन्य सभी कृतियों, विशेषकर 'Discourses on the Origin of Inequality among Men' से भिन्न है। डिस्कोर्सेज़ को कभी कभी 'बुद्धि की बलिवेदी पर भावना का उद्रेक' कहा जाता है। यह कथन कहाँ तक ठीक है, इस प्रश्न की समीक्षा करना हमारे लिये आवश्यक नहीं, किन्तु इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि **सोशल कॉन्ट्रेक्ट** न केवल **डिस्कोर्सेज़** से बल्कि रूसो के अन्य सभी ग्रन्थों की अपेक्षा कहीं अधिक बुद्धिसंगत और कम भावुकतापूर्ण है। इसकी तर्कना इतनी क्रमबद्ध है और इसका न्याय इतना कठोर है कि इसमें भावुकता की गुंजायश ही नहीं रह गई है। इन दो ग्रन्थों में मुख्य अन्तर का कारण यह है कि इनका लेखक इनमें दो विभिन्न समस्याओं का निराकरण करना चाहता था। **डिस्कोर्सेज़** में वह इस प्रश्न का उत्तर देना चाहता था कि मनुष्यों ने अपने प्रथम समाज का निर्माण किस प्रकार किया। उसके लिए उसने यह कल्प-तथ्य (Hypothesis) प्रस्तुत किया कि राज्य का जन्म सम्भवतया इसलिए हुआ क्योंकि कुछ चालाक व्यक्तियों ने, जो कि धनाढ्य बन गये थे और जो गरीबों के ऊपर अपने प्रभुत्व को मान्य तथा अमर बनाना चाहते थे, अपनी युक्तियों द्वारा गरीबों को राज्य की स्थापना में उनके साथ सहयोग करने के लिए बहका लिया। प्रगट रूप से राज्य का उद्देश्य महत्त्वाकांक्षी व्यक्तियों को संयत रखना तथा गरीबों की रक्षा करना बतलाया गया। इस प्रकार के समाज की स्थापना के परिणाम अधिकतर बुरे निकले, इसलिए रूसो ने मनुष्य को प्रकृति के सरल जीवन की ओर लौट जाने का परामर्श दिया। **सोशल कॉन्ट्रेक्ट** में उसका इस प्रश्न से कोई सम्बन्ध नहीं कि प्रथम राज्य की स्थापना किस प्रकार हुई; उसमें वह भूत का इतिहास नहीं लिख रहा है। उसमें वह राज्य के मूल स्वरूप की समीक्षा कर रहा है और इस प्रश्न का उत्तर खोजने का प्रयास कर रहा है कि एक आदर्श समाज को किस प्रकार संघटित किया जाये जिसमें मानव जाति को अपने कष्टों से मुक्ति मिल सके, तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और राज्याधिकार में संगति स्थापित की जा सके। उसे विश्वास था कि इस प्रकार के समाज की रचना की पद्धति वह जानता था। वह पद्धति थी **सामाजिक संविदा**। उसका यह सामाजिक समझौता "एक ऐसी चीज़ नहीं है, जैसा कि साधारणतया माना जाता है, जिसके ऊपर कि हम सब ने बहुत पहिले, प्रथम समाज की स्थापना करने के लिए अपने

हस्ताक्षर किये ; यह एक ऐसी चीज़ है जिसे हमें अब स्वीकार करना होगा, यदि हम आदर्श समाज की स्थापना करना चाहते हैं। वह इतिहास नहीं है ; बल्कि किसी दिन इतिहास हो सकता है।"*

सोशल कॉन्ट्रेक्ट की समस्या को समुचित रूप से समझने के लिए हमारे लिये यह बात ध्यान में रखनी आवश्यक है कि रूसो ने अपने प्रश्न का निर्माण किस प्रकार किया है। यह उत्पन्न इसलिए हुआ क्योंकि मानव के आन्तरिक स्वभाव के लिए अपेक्षित सच्ची स्वतन्त्रता तथा तत्कालीन फ्रांस में राज्य के पाशविक बल और प्राधिकार में नितान्त असंगति थी। उन दिनों फ्रांस पर व्यक्तियों का शासन था, कानून का नहीं ; वहाँ जनता को कोई स्वतन्त्रता न थी ; उन्हें अपने प्रभुओं की प्रत्येक उचित, अनुचित आज्ञा का पालन करना पड़ता था। इसके विपरीत रूसो का विश्वास था कि समाज के एक सच्चे संघटन में न कोई स्वामी होगा और न कोई आदेश ; उसमें सब सच्ची स्वतन्त्रता का उपभोग करेंगे। इस लिए स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठा कि क्या कोई ऐसा राजनीतिक संघटन सम्भव हो सकता है जो कि व्यक्ति को पूर्ण सुरक्षा प्रदान करने के साथ साथ उसे अधिक से अधिक स्वतन्त्रता भी दे सके। रूसो ने इस समस्या को इस प्रकार रखा है : "क्या कोई इस प्रकार का समुदाय बनाना सम्भव है जो कि अपने सदस्यों के धन, जन की समाज की सम्पूर्ण शक्ति के साथ रक्षा करे और जिसमें प्रत्येक व्यक्ति दूसरों के साथ गुंथित रहते हुए भी केवल अपनी आत्मा के आदेशानुसार आचरण कर सके और पूर्व की भांति ही स्वतन्त्र रह सके ?"† ज़ाहिर है कि यह समस्या राजनीतिक विज्ञान की सब से आधारभूत समस्या है ; यह व्यक्ति तथा राज्य के सम्बन्ध की समस्या है ; यह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा राज्य के अधिकार में सामंजस्य स्थापित करने की समस्या है ; यह उस तत्त्व को खोजने की समस्या है जिसके कारण राज्य वैध तथा उसकी आज्ञा का पालन करना एक कर्त्तव्य बन जाता है। रूसो का विश्वास था कि इस कठिन समस्या के निराकरण की कुंजी उसे सामाजिक संविदा की धारणा में मिल गई थी।

रूसो की युक्ति— उसकी युक्ति यह है कि केवल वही समाज जो कि उसकी

* His Social Pact "is not, as commonly supposed, a thing that we all signed long ago to start the first society ; it is what we must sign now if we are to have the right one. It is not history ; but may some day be history." —Wright : *Ibid*, page 71.

† "Is it possible to find a form of association which will defend and protect with the whole force of the community the person and property of each associate, and in which each, while uniting with all, may nevertheless obey himself alone, and remain as free as before ?"

कल्पना के सामाजिक संविदा के ऊपर आधारित हो अपने सदस्यों को वह नैतिक स्वतंत्रता जो कि बुद्धि के अनुसार आचरण करने से प्राप्त होती है, तथा वह सुरक्षा जो राजकीय विधि तथा व्यवस्था का फल है, प्रदान कर सकता है। शक्ति के ऊपर आधारित समाज सुरक्षा तो प्रदान कर सकता है; किन्तु वह स्वतंत्रता नहीं दे सकता; क्योंकि उसकी आज्ञा का पालन करने का व्यक्ति का कोई नैतिक कर्त्तव्य नहीं हो सकता। राजनीतिक प्राधिकार को शक्ति कभी भी न्यायोचित आधार प्रदान नहीं कर सकती; उससे बल मिलता है, औचित्य नहीं। एक व्यक्ति शक्ति के सामने इसलिये नहीं झुकता कि ऐसा करना उसका धर्म है, बल्कि इसलिये झुकता है क्योंकि ऐसा करने के लिए वह विवश है। जैसा कि रूसो स्वयं कहता है: "शक्ति भौतिक बल है; मैं नहीं देख पाता कि उससे नैतिकता कैसे उत्पन्न हो सकती है। शक्ति के सामने मनुष्य आवश्यकता से विवश होकर झुकता है, इच्छा से प्रेरित होकर नहीं। अधिक से अधिक इसे हम दूरदर्शिता कह सकते हैं। परन्तु यह कर्त्तव्य किस प्रकार हो सकता है?"† क्योंकि शक्ति से कभी कोई अधिकार उत्पन्न नहीं हो सकता, इसलिए शक्ति के ऊपर आधारित समाज एक असद् समाज है; वह रूसो की कल्पना का वह सत्समाज कभी नहीं हो सकता जो कि हमें पूर्णत्व की ओर ले जाने का एकमात्र साधन है। रूसो का कहना है कि समाज को ईश्वर-इच्छा के ऊपर आधारित करना भी उतना ही निरर्थक है। राज्य के दैविक जन्म के सिद्धान्त का वह यह कह कर मज़ाक़ उड़ाता है कि प्रत्येक बीमारी भी ईश्वर ही भेजता है; किन्तु इस कारण हम चिकित्सक को बुलाने से तो नहीं रुक जाते।

रूसो ने देखा कि राज्य के प्राधिकार को वैध बनाने तथा उसके प्रति भक्ति को एक कर्त्तव्य बनाने का एकमात्र उपाय उसे अपने सदस्यों के परस्पर समझौते के ऊपर आधारित कर देना है। उसी के शब्दों में, "क्योंकि किसी को भी अपने साथियों के ऊपर कोई स्वाभाविक प्राधिकार प्राप्त नहीं है, और क्योंकि शक्ति सत् का स्रोत नहीं है, इसलिए मनुष्यों के समस्त वैध प्राधिकार का आधार समझौता ही रहता है।" इसका केवल एक अपवाद है और वह है माता पिता का अपनी सन्तान के ऊपर अधिकार जो कि तब तक एक स्वाभाविक आवश्यकता रहती है जब तक कि बच्चों के प्रतिरक्षण के लिए वह अपेक्षित है। रूसो इस परिणाम पर बहुत सुगमता से पहुँच सका क्योंकि उस समय के बौद्धिक वातावरण का **सामाजिक संविदा सिद्धान्त एक महत्त्वपूर्ण अंग था**। हॉब्स तथा लॉक, अल्थूसियस तथा पफेन्डोर्फ़ सरीखे विचारकों ने इस सिद्धान्त को पहिले ही जनप्रिय बना दिया था। परन्तु रूसो जिन परिणामों पर पहुँचा उनसे इसकी संगति नहीं बैठती। वह

† "Force is physical power; I do not see what morality can result from its effects. To yield to force is an act of necessity, not of will; it is at most an act of prudence. In what sense can it be a duty?"

इसे सरकार के विरुद्ध व्यक्तियों के अधिकारों तथा स्वतंत्रताओं का आधार नहीं बनाता। वह सांविधानिक शासन को उसके ऊपर आधारित नहीं करता जैसा कि लॉक ने किया था। रूसो के हाथों में संविदा सिद्धान्त राज्य की व्यक्तिवादी धारणा का पोषण नहीं करता ; उसके अनुसार समाज प्रमुख नीतिकारक अभिकरण है और इसलिए वह सर्वोच्च नैतिक मूल्य का प्रतिनिधि है। यह उसके इस विश्वास से भी ताल नहीं खाता कि राज-नीतिक अधीनता तत्त्वतः नैतिक है और विधि तथा व्यवस्था का विषय वह केवल गौण रूप से है। निस्सन्देह यह बात आश्चर्यजनक है कि रूसो संविदा सिद्धान्त द्वारा इस परिणाम पर पहुँचा कि राज्य एक सावयविक इकाई है तथा उसका एक नैतिक एवं सामूहिक व्यक्तित्व है। सैबाइन के इस कथन में बहुत बड़ा सत्य है कि रूसो का संविदा शब्द का प्रयोग उतना ही भ्रमात्मक है जितना कि उसके द्वारा चुना हुआ अन्य कोई शब्द हो सकता था। जबकि संविदावादी का आधारबिन्दु व्यक्तिगत रूप में मनुष्य है, रूसो का आधार-बिन्दु है नागरिक। शायद रूसो ने संविदा की धारणा को इसलिए अपनाया था क्योंकि उस युग में वह एक जनप्रिय धारणा थी। आगे चलकर इन्हीं बातों पर अधिक विस्तार-पूर्वक प्रकाश डाला जायेगा।

भूमिकास्वरूप इन प्रारम्भिक बातों के पश्चात् अब हम उस सामाजिक संविदा की विवेचना करते हैं जोकि उस आदर्श अथवा प्राकृतिक राजनीतिक समाज को जन्म देता है जिसकी कल्पना रूसो करता है।

सामाजिक संविदा— सामाजिक संविदा की शर्तें क्या होनी चाहियें, यह इस बात के ऊपर निर्भर करता है जिसकी प्राप्ति के लिये हम राज्य का निर्माण करते हैं। इस उद्देश्य के दो अङ्ग हैं। प्रथम, मनुष्य समूह इसलिए बनाते हैं ताकि अपने धन-जन की रक्षा करने में सम्पूर्ण समाज की सहायता उन्हें प्राप्त हो सके। दूसरे, वे अधिकतम स्वतन्त्रता चाहते हैं। ये दोनों लक्ष्य विश्वव्यापक हैं, इसलिये इनकी पूर्ति करने वाले समझौते की शर्तें भी उतनी ही विश्वव्यापक होनी चाहियें। अर्थात् समस्त देश-काल के लिये केवल एक ही सद् समझौता हो सकता है ; समझौते की शर्तें विभिन्न समयों में और विभिन्न समाजों में अलग अलग नहीं हो सकतीं। इसका अर्थ यह है कि हॉब्स, लॉक तथा अन्य विचारकों द्वारा वर्णित समझौते की शर्तें मान्य नहीं हो सकतीं; उन्हें आदर्श राज्य के संघटन का बुद्धिपरक आधार नहीं बनाया जा सकता। समझौते की शर्तों का वर्णन रूसो निम्नलिखित शब्दों में करता है : "हममें प्रत्येक अपने शरीर तथा अपनी सम्पूर्ण शक्ति को सब के साथ सामान्य रूप से **सामान्य इच्छा** के सर्वोच्च निर्देशन में रख देता है, और अपने समूहिक स्वरूप में हम प्रत्येक सदस्य को सम्पूर्ण के एक अविभाज्य अंग के रूप में स्वीकार करते हैं। एकदम, समझौता करने वाले प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तिगत व्यक्तित्व के स्थान में, इस समूहीकरण से एक नैतिक तथा सामूहिक निकाय का जन्म होता है जोकि उतने ही घटकों से मिलकर बनता है जितने कि उसमें मत होते

हैं। समूहीकरण के इस कार्य से ही इस निकाय को अपनी एकता, अपनी सामान्य सत्ता, अपना जीवन तथा अपनी इच्छा प्राप्त होते हैं। समस्त व्यक्तियों के संघटन से बने हुए इस सार्वजनिक व्यक्ति को पहिले नगर कहते थे, अब उसे गणराज्य अथवा राजनीतिक समाज कहते हैं; जब यह निष्क्रिय रहता है तो इसे राज्य कहते हैं और जब सक्रिय होता है तो संप्रभु तथा ऐसे ही अन्य निकायों से इसकी तुलना करने पर इसे शक्ति कहते हैं।'*

उपरोक्त सामाजिक संविदा के क्रियाशील एवं केन्द्रीय भाग का अर्थ यह है कि प्रत्येक सदस्य अपने समस्त अधिकार अथवा शक्तियाँ सम्पूर्ण समाज को समर्पित कर देता है। इस हस्तांतरण की शर्त है समता, अर्थात् समस्त के साथ एक ही सी शर्त। क्योंकि ये शर्तें सब के लिये एक ही होती हैं, इसलिये कोई भी व्यक्ति उन्हें कठोर तथा दुस्सह नहीं बनाना चाहता क्योंकि उनसे उसे भी उतनी ही पीड़ा पहुंचेगी जितनी कि किसी दूसरे को। दूसरे शब्दों में, इस समझौते के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ समाज कभी भी दमनकारी तथा स्वतंत्रता-विरोधी नहीं हो सकता। इस प्रसंग में एक अन्य बात भी उल्लेखनीय है। यद्यपि समझौते द्वारा पूर्ण समर्पण होता है और अशर्त होता है; तथापि वह समस्त जोकि समर्पित किया जाता है वह केवल वह होता है जो सम्पूर्ण समाज से सम्बन्धित होता है। वह जो कि विशुद्ध रूप से व्यक्तिगत होता है, व्यक्ति के पास ही छोड़ दिया जाता है; जैसे कि यह कि व्यक्ति क्या खाता है और वह क्या पहिनता है। समाज का उससे कोई सम्बन्ध नहीं होता। निस्सन्देह यह निर्णय करना तो समाज का ही कार्य होगा कि अमुक विषय सार्वजनिक महत्त्व का है या उसका सम्बन्ध केवल व्यक्तिगत हित से है। ऐसी परिस्थितियों की कल्पना भी की जा सकती है जब कि समाज सामान्य हितों की रक्षा करने के लिये अपने सदस्यों के भोजन तथा वस्त्र को भी नियंत्रित करना आवश्यक समझे, जैसा कि, उदाहरण के लिए, युद्ध काल में होता है।

दूसरी बात, जिसके ऊपर रूसो ज़ोर देता है, यह है कि इस समझौते में प्रत्येक को

* "Each of us puts his person and all his power in common under the supreme direction of the general will, and, in our corporate capacity, we receive each member as an indivisible part of the whole. At once, in place of the individual personality of each contracting party, this act of association creates a moral and collective body, composed of as many members as the assembly contains votes, and receiving from this act its unity, its common identity, its life and its will. This public person, so framed by the unicn of all persons, formerly took the name of city, now takes that of republic, or body-politic; it is called by its members *State* when passive, *Sovereign* when active, and *Power* when compared with others like itself."

—*Social Contract*, Book I, Chapter VI.

लाभ ही होता है, हानि किसी को नहीं होती। किसी भी व्यक्ति की हानि इसलिये नहीं होती क्योंकि अपने आपको सब के प्रति समर्पित करने में वह किसी एक के भी प्रति समर्पण नहीं करता ; और जो कुछ वह सब को देता है, उसे वह सम्पूर्ण का एक अविभाज्य अङ्ग होने के नाते वापिस पा लेता है। दूसरे यह कि इस समझौते के कारण वह कुछ नहीं खोता क्योंकि जो अधिकार वह अपने ऊपर दूसरों को देता है वही अधिकार वह समाज के प्रत्येक सदस्य के ऊपर स्वयं प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति जो कुछ खोता है उसके बराबर ही प्राप्त कर लेता है। प्रत्येक व्यक्ति को लाभ ही होता है क्योंकि अपने धन, जन की रक्षा के लिए उसे समाज का बल और प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार राज्य की स्थापना से व्यक्ति की स्वतंत्रता कम नहीं होती बल्कि व्यक्ति को और अधिक सुरक्षा और शक्ति प्राप्त हो जाती है।

इसके अतिरिक्त समाज के लिये सदस्यों का अपनी शक्तियों को पूर्ण रूप से समर्पण कर देने के कारण तद्जनित एकता अधिक से अधिक पूर्ण होती है। किसी भी सदस्य को विशेषाधिकार प्राप्त नहीं होते ; सब का स्थान समान होता है। इस प्रकार राज्य में नागरिक न केवल स्वतन्त्रता बल्कि समानता भी प्राप्त करते हैं।

तीसरी बात यह कि, हॉब्स की भाँति, रूसो के दर्शन में व्यक्ति अपनी शक्तियों को किसी अनुत्तरदायी संप्रभु को नहीं बल्कि सम्पूर्ण समाज को समर्पित करता है जिसकी क्रियाओं के ऊपर समाज के समस्त सदस्यों को समान अधिकार प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि रूसो के अनुसार संविदा व्यक्ति के दो स्वरूपों के मध्य होता है। मनुष्य एक ही साथ निष्क्रिय प्रजाजन भी है और क्रियाशील संप्रभु भी। इसलिए यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक अपने को सब के प्रति समर्पित करके वास्तव में किसी के भी प्रति अपना समर्पण नहीं करता। एक संप्रभुता पूर्ण संघ का सदस्य होने के नाते प्रत्येक व्यक्ति न केवल उतना ही स्वतन्त्र रहता है जितना कि वह पहिले था, वरन् सामाजिक स्थितियों के अन्तर्गत वह पहिले से कहीं अधिक स्वतन्त्र हो जाता है।

चौथी उल्लेखनीय बात इस प्रसंग में यह है कि संविदा के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले समाज का स्वरूप सावयविक (organic) होता है, हॉब्स तथा लॉक की धारणा के समाज के सदृश व्यक्तिवादी नहीं। समाज केवल ऐसा साधनमात्र नहीं है जिसे कि संविदा करने वाले पक्षों ने अपने परस्पर लाभ के लिये बनाया हो और उनकी सुरक्षा तथा सुविधा की प्राप्ति से बढ़ कर जिसका कोई लक्ष्य नहीं है। यह नैतिक तथा सामूहिक प्राणी है जिसका अपना निजी जीवन है, अपनी निजी इच्छा है तथा अपना अपना निजी अस्तित्व है। रूसो इसे सार्वजनिक व्यक्ति (Public Person) कह कर पुकारता है। इसका अपना निजी और सामान्य जीवन होता है, ठीक ऐसा ही जैसा कि एक वृक्ष का अथवा एक जीव का, जिसको व्यक्तिगत सदस्य इसी प्रकार योग देते हैं जिस प्रकार कि जड़ें, पत्तियाँ तथा शाखायें वृक्ष के जीवन में योग देती हैं ; और जिस प्रकार कि वृक्ष से हट कर जड़ों,

पत्तियां तथा शाखाओं का कोई मूल्य नहीं रह जाता, इसी प्रकार ही व्यक्ति भी अपना सारा महत्त्व समाज के सामान्य जीवन में योग देने तथा भाग लेने से ही प्राप्त करते हैं। इसका अर्थ है उस व्यक्तिवाद का पूर्ण परित्याग जो कि हॉब्स तथा लॉक के दर्शन की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता थी और उस प्राचीन यूनानी धारणा की पुनर्प्रतिष्ठा जिसके अनुसार व्यक्ति एक पूर्ण, शुभ तथा सुखी जीवन की प्राप्ति समाज में रह कर और समाज द्वारा ही कर सकता है। यदि राज्य का स्वरूप सावयविक है तो उसका एक ऐसा सामान्य हित होना चाहिये जो उसके सदस्यों के व्यक्तिगत हितों के योग से भिन्न हो और जिसकी प्राप्ति के लिये समस्त मनुष्य प्रयत्न कर सकते हैं और उन्हें प्रयत्न करना चाहिये। जिन मूल्यों की राज्य रक्षा तथा पोषण करता है उनके अतिरिक्त स्वयं राज्य का अपना भी एक मूल्य होता है। और जो कारण मनुष्यों को राज्य की आज्ञा का पालन करने को प्रेरित करता है वह उनका बुद्धिसम्मत स्वहित नहीं है; बल्कि उनकी यह आत्मानुभूति है कि केवल राज्य ही उन्हें पशु जीवन से ऊपर उठाता है और उन्हें सच्चे रूप से मानव बनाता है; राज्य ही वे स्थितियाँ प्रस्तुत करता है जो कि एक पूर्ण, समृद्ध तथा नैतिक व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक हैं; और समाज से बाहर स्वतंत्रता तथा विकास जैसी कोई चीज़ तो हो ही नहीं सकती। यही अर्थ सैबाइन के इस कथन का है कि रूसो का आधारभूत तत्त्व मनुष्य नहीं बल्कि नागरिक है और राजनीतिक अधीनता मूलतः नैतिक है; विधि तथा व्यवस्था की स्थापना तो उसका केवल एक गौण पहलू है। सैबाइन के इस कथन से हम पूर्णतया सहमत हैं कि रूसो से 'राजनीतिक दर्शन में प्राचीन प्रभाव का एक नवीन युग प्रारम्भ होता है, जिसका प्रसार हीगलवाद के द्वारा हुआ और जो कि १८वीं शताब्दी के नकली प्राचीनतावाद से कहीं अधिक सच्चा यूनानी था।' मुख्यतः अफलातून के अध्ययन के कारण ही रूसो अपने आपको हॉब्स तथा लॉक के व्यक्तिवाद से मुक्त रख सका परन्तु फिर भी वह उससे पूर्ण रूप से मुक्त न हो सका; समस्त व्यक्तिवादी धारणाओं से वह पूर्ण रूप से निर्लिप्त न रह सका, अन्यथा वह यह न कहता कि राज्य में भी व्यक्ति उतना ही स्वतन्त्र है जितना कि वह पहिले था। रूसो के सिद्धान्त में इन दो विभिन्न तथा परस्पर विरोधी धारणाओं के सम्मिश्रण से जो दोष उत्पन्न हो गया है उसका उल्लेख हम रूसो की असंगतियों के शीर्षक के अन्तर्गत करेंगे। अन्तिम उल्लेखनीय बात है वह महान् भौतिक तथा नैतिक परिवर्तन जो कि व्यक्ति में राज्य का सदस्य होने के नाते हो जाता है। इसका उल्लेख पहिले भी किया जा चुका है और इसका सविस्तार विवरण रूसो की **सामान्य इच्छा** के सिद्धान्त की विवेचना करते समय किया जायेगा। यहाँ केवल इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि रूसो के अनुसार जो चीज़ मनुष्य को पशुओं के स्तर से ऊपर उठाती है और उसे सचमुच मानवीय बनाती है, वह है उसकी राज्य की सदस्यता। इसके द्वारा ही मनुष्य में भाव के स्थान में कर्त्तव्य भावना प्रतिष्ठित होती है और यही इसके कार्यों को वह नैतिक गुण प्रदान करती है जो

कि उसमें पहिले नहीं था। यह इसलिए होता है क्योंकि उसे अपनी इच्छाओं को एक नैतिक सिद्धान्त द्वारा विनियमित करने तथा इस प्रकार सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त करने का अवसर मिलता है। सामाजिक संविदा से पूर्व 'उनके पास उन वस्तुओं के ऊपर जिन्हें कि वे अपनी कहने का साहस करते थे, एक अस्थिर आधिपत्य था'; संविदा के उपरान्त 'उन्हें अपनी सम्पत्ति में स्वामित्व का अधिकार प्राप्त हो जाता है; स्वामित्व का अधिकार शब्द का तब तक कोई अर्थ नहीं हो सकता जब तक कि उसे सार्थक करने के लिये कोई समाज न हो।'

परन्तु अभी तक हम रूसो के सामाजिक संविदा के मर्मस्थल तथा सबसे अधिक विशिष्ट अंग पर नहीं आये हैं। वह अंग वह है जोकि यह दिखलाता है कि यह कैसे होता है कि मनुष्य 'अपने ऊपर किसी आज्ञा देने वाले के हुए बिना ही आज्ञा का पालन करते हैं, बिना ही किसी स्वामी के हुए वे सेवा कर सकते हैं, और वे और भी अधिक स्वतन्त्र हो जाते हैं, जबकि उनमें से प्रत्येक प्रगटतः अनिवार्यता के अधीन कार्य करते हुए अपनी स्वतन्त्रता का केवल वही भाग खोता है जिससे कि वह दूसरों को हानि पहुँचा सकता है।' यह है उसकी **सामान्य इच्छा** का सिद्धान्त। एक पहिले दिये हुए उद्धरण में रूसो कहता है कि संविदा द्वारा प्रत्येक सदस्य अपने शरीर तथा अपनी सम्पूर्ण शक्ति को सामान्य रूप से **सामान्य इच्छा** के सर्वोपरि निर्देशन में रख देता है और प्रत्येक सम्पूर्ण का एक अभिन्न अथवा अविभाज्य अङ्ग बन जाता है। हॉब्स तथा लॉक के सिद्धान्तों में ऐसी कोई चीज़ नहीं है। जैसा कि हम पहिले ही कह चुके हैं, हॉब्स की संविदा मानव स्वतन्त्रता का परवाना नहीं, बल्कि दासता का बन्धन है; इसके द्वारा मनुष्य बुरी तरह से एक निरंकुश संप्रभु के अधीन हो जाते हैं। वह इच्छा जो कि संविदा के फलस्वरूप उत्पन्न होती है और जो राजनीतिक एकता स्थापित करती है निस्सन्देह यथार्थ होती है; किन्तु वह सामान्य नहीं होती। लॉक की विचार धारा में अल्पमत को बहुमत की इच्छा को शिरोधार्य करना होता है, चाहे वह उसकी न्याय तथा औचित्य की धारणाओं के कितनी ही विरुद्ध क्यों न हो। यह कहना अनुचित न होगा कि लॉक के सिद्धान्त में इच्छा एक प्रकार से सामान्य होती है, किन्तु वह यथार्थ नहीं होती; वह राज्य की एकता के लिए घातक होती है। रूसो का महान् गुण यह है कि उसने अपने **सामान्य इच्छा** के सिद्धान्त द्वारा जनता को संप्रभु बनाया और एक ऐसी इच्छा की व्यवस्था की जो कि एक ही साथ यथार्थ भी है और सामान्य भी। यद्यपि रूसो के राजनीतिक लेखों में यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथा उर्वर विचार है तथापि उसने इसका जो विवरण दिया है वह बहुत सुनिश्चित नहीं है; उसमें अस्पष्टता और संगतिहीनता भी पाई जाती है।

सामान्य इच्छा (General Will)— रूसो के **सामान्य इच्छा** के सिद्धान्त का उसकी लोकप्रिय संप्रभुता की धारणा से घनिष्ट सम्बन्ध है। इसलिये उसकी सामान्य इच्छा को समझने के लिये उसकी संप्रभुता को समझ लेना अच्छा होगा।

स्मरण रहे कि बोदाँ तथा हॉब्स जिनके नाम आधुनिक राजनीतिक विचार के इतिहास में संप्रभुता की धारणा के विकास एवं परिभाषा से अभिन्न रूप से सम्बद्ध हैं, इसका स्थान शासक में निर्धारित करते थे; वे निरपेक्ष अथवा निरंकुश राजतंत्र के अधिवक्ता थे। लॉक तथा मांटेस्क्यू व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के पोषक थे; उन्होंने सांविधानिक अथवा परिमित सरकार का समर्थन किया। संप्रभुता के सिद्धान्त के प्रति उन्होंने कुछ ऐसी उपरामता दिखलाई मानो वह स्वतन्त्रता का घातक शत्रु हो। उनका विचार था कि संप्रभुता की धारणा अभिन्न रूप से राजतन्त्री तथा निरंकुशवादी विचारों से सम्बद्ध है जैसी कि बोदाँ तथा हॉब्स के हाथों में वह सचमुच थी भी। रूसो ने अपने उत्प्रेरित हृदय-चक्षुओं से देखा कि यदि संप्रभुता को शासक के बजाय जनता में प्रतिष्ठित कर दिया जावे तो निरंकुशवाद के विरुद्ध लड़ने के लिये यह सब से अधिक शक्तिशाली शस्त्र सिद्ध हो सकता है। बड़े साहस के साथ उसने लोकप्रिय संप्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उस के पश्चात् यह सिद्धान्त समस्त जनतंत्रवादियों का एक संगठन बिन्दु बन गया।

रूसो की सामाजिक संविदा का विशिष्ट तत्व यह है कि संविदा द्वारा उत्पन्न होने वाला समाज अथवा राज्य ही स्वयं संप्रभुता-सम्पन्न होता है। यह अपने से बाहर की अन्य किसी शक्ति को संप्रभुता का स्वामी नहीं बनाता बल्कि उसका स्वयं स्वामी बन जाता है और तदुपरान्त सदैव के लिये ही स्वयं स्वामी रहता है। जिस भाषा में रूसो ने संविदा की शर्तों का वर्णन किया है वह इस दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वह कहता है कि संघीकरण का कार्य एक नैतिक तथा सामूहिक सत्ता को जन्म देता है जिस का अपना अस्तित्व तथा जीवन होता है तथा जिसकी अपनी इच्छा होती है। इस इच्छा को वह **सामान्य इच्छा** कह कर पुकारता है और इसी **सामान्य इच्छा** के निर्देशन में ही प्रत्येक सदस्य अपना शरीर तथा अपनी सम्पूर्ण शक्ति रख देता है। इस प्रकार यह पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाता है कि अपने से पहिले लेखकों के विपरीत जिन्होंने समाज द्वारा संविदा करके एक संप्रभु के प्रतिष्ठान की कल्पना की थी रूसो की कल्पना यह है कि अपने निर्माण की प्रक्रिया में समाज स्वयं संप्रभुताधारी बन जाता है और सदैव के लिए ऐसा ही बना रहता है। जैसा कि हम पहिले ही कह चुके हैं समाज का प्रत्येक सदस्य इस संप्रभुतासम्पन्न निकाय का एक निर्मायक भाग है।

सोशल कॉन्ट्रेक्ट के वे पाठक जो कि संप्रभुता की केवल कानूनी धारणा से ही परिचित हैं और सर्वोपरि बाध्यकारी शक्ति को उसका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथा आधारभूत गुण समझते हैं, तथा जिन्हें एक ऐसे सामान्य अहं अथवा सामान्य इच्छा का ज्ञान नहीं है जो कि सदा सामान्य हित की कामना करती है, रूसो की **सामान्य इच्छा** की धारणा के सब से महत्त्वपूर्ण तथा विशिष्ट तत्त्व को नहीं समझ पायेंगे। इस विशेषता को अधिक स्पष्ट करने के लिये उस महान् नैतिक परिवर्तन का, जो कि व्यक्तियों में

सामाजिक संविदा द्वारा उत्पन्न होने वाले राज्य के सदस्य हो जाने पर आता है, अधिक विस्तृत वर्णन करना आवश्यक है। इसका सर्वोत्तम वर्णन रूसो के अपने ही शब्दों में किया जा सकता है: "प्राकृतिक अवस्था से राज्य में आवर्तन होना मनुष्य में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन उत्पन्न करता है। यह परिवर्तन इसलिये होता है क्योंकि राज्य में प्रवृत्ति-प्रधान आचरण के स्थान में न्याय भावना प्रतिष्ठित हो जाती है; और उसके कार्यों में वह नैतिकता आ जाती है जिसका उनमें पहिले अभाव था। केवल तब ही, जब कि कर्त्तव्य की वाणी शारीरिक प्रवृत्तियों का तथा सद् वासना का स्थान ग्रहण कर लेती है, मनुष्य जो कि अब तक स्वार्थ से ही प्रेरित होता था, यह अनुभव करता है कि वह विभिन्न सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करने तथा अपनी प्रवृत्तियों के अनुसार आचरण करने से पूर्व अपनी बुद्धि के अनुसार चलने के लिए विवश है। सामाजिक संविदा द्वारा वह जो चीज़ खोता है वह है उसकी प्राकृतिक स्वतंत्रता तथा प्राप्त की हुई प्रत्येक चीज़ पर उसका अपरिमित अधिकार; और जो चीज़ वह प्राप्त करता है वह है नागरिक स्वतन्त्रता .... जो सामान्य इच्छा द्वारा सीमित होती है। ... . इन सब से बढ़ कर, राज्य में मनुष्य जो चीज़ प्राप्त करता है, वह है नैतिक स्वतन्त्रता, केवल जिसके कारण ही मनुष्य वास्तव में स्वयं अपना स्वामी बनता है; क्योंकि केवल वासना की प्रवृत्ति दासता है; जब कि हमारे अपने लिए बनाये हुए स्वयं अपने ही नियम का पालन करना स्वतन्त्रता है।"*

इस उद्धरण में रूसो यह कहता है कि सामाजिक संविदा द्वारा मनुष्य अपनी मनमानी करने तथा यथाशक्ति प्राप्त करने की प्राकृतिक स्वाधीनता को नागरिक स्वतन्त्रता (जो कि **सामान्य इच्छा** द्वारा सीमित तथा सुरक्षित होती है) से बदल लेता है। वह यथाशक्ति प्राप्त की हुई चीज़ों पर आधिपत्य के बदले में समस्त वस्तुओं में सम्पत्ति का

* "The passage from the state of nature to the civil state produces a very remarkable change in man, by substituting justice for instinct in his conduct, and giving his actions the morality they had hitherto lacked. Then only, when the voice of duty takes the place of physical impulse and right of appetite, does man, who so far had considered only himself, find that he is forced to act on differernt principles, and to consult his reason before listening to his inclination. What man loses by the social contract is his natural liberty and an unlimited right to everything he tries to get and succeeds in getting ; what he gains is civil liberty ...... which is limited by the general will ...... We might, over and above all this, add to what man acquires in the civil state, moral liberty, which alone makes him truly master of himself ; for the mere impulse of appetite is slavery, while obedience to a law which we prescribe to ourselves is liberty."

—*Social Contract*, Book I, Chapter VIII.

अधिकार प्राप्त कर लेता है। इससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण बात है वह नैतिक परिवर्तन जो कि व्यक्ति में आ जाता है। राज्य में रहकर और राज्य की सदस्यता द्वारा ही वह एक नैतिक प्राणी बनता है; उसके कार्यों में वह नैतिक गुण आ जाता है जो कि उनमें पहिले नहीं था। प्रवृत्ति के स्थान में न्याय-भावना प्रतिष्ठित हो जाती है; वासना की दासता के स्थान में नैतिक स्वतन्त्रता आ जाती है जो कि स्वनिर्मित नियमों का पालन करने से प्राप्त होती है। एक व्यक्ति में नैतिकता तभी आती है जब कि वह यह सीख जाता है कि शक्ति के अतिरिक्त भी एक कानून होता है और उसके करने के योग्य कुछ ऐसे कार्य होते हैं जो उन कार्यों से भिन्न होते हैं जिन्हें करने के लिए वह विवश किया जा सकता है। मनुष्य में इस प्रकार की चेतना का उदय राज्य का सदस्य होते हुए ही हो सकता है। समाज से अलग रह कर मनुष्य अपनी प्रवृत्तियों का दास बना रहता है; शारीरिक प्रवृत्ति के अतिरिक्त जीव के किसी भी कानून से वह अवगत नहीं होता; समाज का एक सदस्य होकर वह अपनी प्रवृत्तियों को विश्वव्यापक कानून द्वारा विनियमित करना सीखता है। कोरे स्वार्थ को त्याग कर वह समाज-हित के लिए कार्य करना सीखता है। जिस हद तक उसके कार्य विश्वव्यापक कानून द्वारा निर्दिष्ट होते हैं वे नैतिक कहे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त जब तक मनुष्य अपनी भावनाओं का दास रहता है तब तक उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का किसी एक ही लक्ष्य की साधना के साथ सामंजस्य स्थापित नहीं किया जा सकता; ऐसा सामंजस्य केवल बुद्धिसम्मत लक्ष्यों की साधना में प्राप्त किया जा सकता है, जो स्वयं एक राज्य में ही सम्भव हो सकता है।

व्यक्ति के इस परिवर्तन को जो चीज़ सम्भव बनाती है वह है उसका **सामान्य इच्छा** में निरंतर भाग लेना; उस **सामान्य इच्छा** में जिसमें कि संप्रभुता का निवास होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि रूसो संप्रभुता को एक सर्वोपरि बाध्यकारी शक्ति से, जैसा कि बोदाँ तथा हॉब्स उसे मानते थे, कहीं अधिक समझता है। यह उस निर्लिप्त विवेक के अधिक सदृश है जिसे कि अफलातून तथा अरस्तु एक आदर्श राज्य के कानूनों तथा अनुशासन का स्रोत समझते थे। इसकी तुलना हम **कान्ट** की 'विशुद्ध व्यावहारिक बुद्धि' से भी कर सकते हैं जिसके कारण मनुष्य स्वशासक बन जाता है और जिसके कारण उसे सदा एक साध्य ही समझा जाना चाहिये, एक साधन कभी नहीं। रूसो के अनुसार संप्रभुता का प्रमुख गुण सर्वोपरि बाध्यकारी शक्ति का प्रयोग नहीं, वरन् निष्काम भावना है। सामान्य इच्छा द्वारा प्रेरित कार्य सदैव निष्काम होंगे।

इस प्रकार **सामान्य इच्छा** निष्काम होती है। यह निष्काम दो प्रकार से होती है। प्रथम, इसका ध्येय सदैव सामान्य हित होता है; इसका सम्बन्ध केवल उन चीज़ों से होता है जो सामान्य हित की पूर्ति करती हैं; विशुद्ध रूप से व्यक्तिगत बातों से इस का कोई सम्बन्ध नहीं होता। दूसरी बात यह कि सामान्य हित की बातों में यह जन-सेवा भाव से प्रेरित होती है। यदि समाज के सदस्य सामान्य हित की समस्याओं पर

व्यक्तिगत अथवा किसी वर्ग विशेष के दृष्टिकोण से विचार करते हैं तो उसका परिणाम सामान्य इच्छा नहीं हो सकता। **सामान्य इच्छा** की प्राप्ति के लिए सदस्यों को न केवल सामान्य हित के विषयों को लेना चाहिये बल्कि उन पर सामान्य हित के दृष्टिकोण से ही विचार करना चाहिये।

सारांश यह कि सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति के लिए सदस्यों को 'सामान्य हित प्राप्ति के लिए संकल्पबद्ध तथा अपने व्यक्तिगत हित को भूल जाने के लिए सहर्ष तय्यार रहना चाहिये'। 'जिस अनुपात में वे सार्वजनिक हित को सामने रख सकेंगे और जिस अनुपात में वे अपने व्यक्तिगत हितों को भुला सकेंगे, उसी अनुपात में' **सामान्य इच्छा** पूर्ण होगी।

परन्तु यहाँ पर यह शंका उठनी स्वाभाविक है कि क्या मनुष्य इतने निस्स्वार्थ हो सकते हैं कि वे सदा सामान्य हित को सर्वोपरि समझें और अपने व्यक्तिगत हितों का सर्वथा परित्याग कर दें? बहुत बार सामान्य हित के प्रश्नों पर हमारा मत हमारे व्यक्तिगत हितों द्वारा निर्धारित होता है। परन्तु यह कहा जा सकता है कि ऐसी स्थिति में **सामान्य इच्छा** का अन्त नहीं हो जाता, उसकी केवल अवहेलना की जाती है। इससे शुभ प्राप्ति की इच्छा नष्ट नहीं हो जाती, बल्कि व्यक्तिगत हित हमारे मन पर इतने आच्छादित हो जाते हैं कि वहाँ सामान्य हितों का स्थान केवल गौण रह जाता है। समाज के जीवन में भी **सामान्य इच्छा** उतनी ही अभिव्यंजित है जितनी कि एक प्रकार की शुभ कामना व्यक्ति के जीवन में वर्तमान है। हाँ, कभी कभी अधिक बलवान शक्तियाँ उसे, चाहे वह सामाजिक स्तर पर हो चाहे व्यक्तिगत स्तर पर, पृष्ठभूमि में धकेल देती हैं। परन्तु पूर्ण रूप से विनाश इसका कभी नहीं होता।

रूसो कहता है कि **सामान्य इच्छा**, न केवल अपने उद्देश्य की दृष्टि से, वरन् अपनी रचना में भी सामान्य होनी चाहिये। इसका अर्थ यह है कि इसे समाज के प्रत्येक सदस्य की इच्छा को ध्यान में रखना चाहिये। **सामान्य इच्छा** की यह विशेषता उस भाषा में निहित है जिसमें कि वह सामाजिक संविदा की शर्तों का वर्णन करता है। उपरोक्त उद्धरण में वह कहता है कि प्रत्येक सदस्य अपने शरीर तथा अपनी समस्त शक्तियों को **सामान्य इच्छा** के सर्वोपरि निर्देशन के अधीन कर देता है और इस प्रकार उत्पन्न होने वाले नैतिक तथा सामूहिक निकाय में उतने ही सदस्य होते हैं जितने कि उस सभा के मत। प्रत्येक सदस्य को समाज का एक अभिन्न अंग समझा जाता है।

इस आवश्यकता से कई कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। क्या इसका अर्थ यह है कि **सामान्य इच्छा** को उत्पन्न करने के लिए समाज के समस्त सदस्यों को सर्वसम्मत होना चाहिये? निस्सन्देह उस सामाजिक समझौते में, जोकि आदर्श समाज को जन्म देता है, समस्त सदस्यों को भाग लेना चाहिये; वह समझौता सर्वसम्मति की माँग करता है।

परन्तु रूसो इस बात को भली प्रकार जानता था कि एक बार समाज का निर्माण हो जाने पर किसी भी विषय के ऊपर पूर्ण मतैक्य प्राप्त होना प्रायः असम्भव है। प्रायः प्रत्येक प्रश्न के ऊपर मत-वैभिन्य होना अनिवार्य सा ही है। और, यदि यह मान भी लिया जाये कि समाज में सदैव मतैक्य होगा तो भी इससे हमें **सामान्य इच्छा** की प्राप्ति न हो सकेगी। "ठीक जिस प्रकार कि एक व्यक्ति केवल एक ही ध्येय से बिना ही इच्छा अथवा इच्छा की चेतना के इसके ऊपर कार्य करता है, उसी प्रकार एक राज्य जिसके सदस्य सदैव सर्वसम्मत होते हैं, एक स्वचालित यंत्र के रूप में कार्य करता है और वह यह कभी नहीं जान पाता कि उसकी कोई इच्छा भी होती है।"* इसलिए इच्छा की सामान्यता पूर्ण मतैक्य में नहीं हो सकती।

और न ही सामान्य इच्छा का अर्थ समाज के समस्त सदस्यों की इच्छाओं का कुल योग होता है। **सामान्य इच्छा** तथा 'समस्त की इच्छा' में विभेद करने के लिए रूसो बड़ा परिश्रम करता है। वह कहता है कि समाज के समस्त सदस्यों की इच्छाओं का कुल योग **सामान्य इच्छा** कभी नहीं हो सकता, क्योंकि समस्त सदस्यों की इच्छाओं में सदस्यों के व्यक्तिगत हितों का सम्मिश्रण होता है जबकि **सामान्य इच्छा** का सम्बन्ध केवल सामान्य हितों से ही होता है। इसके अतिरिक्त **सामान्य इच्छा** एक ऐसी एकता होती है जैसी कि 'समस्त की इच्छा' कभी नहीं हो सकती। सामान्य इच्छा एक सम्पूर्ण के रूप में (व्यक्तियों के एक समूहमात्र के रूप में नहीं) समाज की इच्छा को अभिव्यक्त करती है; यह सदस्यों की परस्पर विरोधी इच्छाओं के बीच एक समझौता नहीं है, बल्कि यह एकल तथा एकात्मक इच्छा है। हॉब्स का यह कथन कि **लैवियाथन** की सर्वोच्च इच्छा सब की इच्छाओं से कहीं अधिक है; वह एक ही व्यक्ति में उन सब का एकीकृत हो जाना है, रूसो की सामान्य इच्छा के ऊपर भी लागू होता है। **सामान्य इच्छा** एकात्मक होती है क्योंकि इसे अभिव्यक्त करने वाला संप्रभुताधारी निकाय एक नैतिक तथा सामूहिक निकाय होता है, जिसका अपना जीवन, अपनी इच्छा तथा अपना उद्देश्य होता है। रूसो के अनुसार जो चीज़ इच्छा को सामान्य बनाती है वह इसे रखने वाले व्यक्तियों की संख्या नहीं है, वरन् वह सामान्य हित है जो उन्हें प्रेरित करता है तथा उन्हें एक सम्पूर्ण में गुन्थित करता है।

इसलिए हम कह सकते हैं कि रूसो की **सामान्य इच्छा** एक राजनीतिक जीव रूपी सम्पूर्ण समाज की इच्छा है। यह एक ऐसी सामूहिक इच्छा है जो केवल एक ऐसे निकाय की ही हो सकती है जिसका अपना एक सामान्य जीवन हो। हाथ गिनकर हम इसका

* "For just as an individual with a single motive would act on it without any exercise of will or any notion that he had one, so a state whose members are always unanimous would act as an automaton and never know that it owned a will at all." Wright : *op. ct.*, page 75.

पता नहीं लगा सकते ; यह सब के लिये सामान्य होती है जिसके निर्माण में समाज का प्रत्येक सदस्य योग देता है। रूसो ने जो गुण इसमें आरोपित किये हैं ; अर्थात् अच्युतता तथा अदेयता, उन्हें दृष्टि में रखते हुए तो यह भी कहा जा सकता है कि ज्यामिति के बिन्दु की भाँति इसका वास्तविक जीवन में अस्तित्व कहीं है ही नहीं। सामान्य इच्छा के इस स्वरूप की व्याख्या बोज़ान्के के निम्नलिखित शब्दों से अधिक सुन्दर कहीं नहीं मिल सकती : "It is of the nature of a principle operating among and underneath a great variety of confusing and disguising factors, and can only be defined by the help of an 'as such' or 'in so far as'. It is, we might say, the will of the whole society 'as such' or the wills of all individuals 'in so far as' they aim at the common good." Bosanquet : *Philosophical Theory of the State*, page 99. जिस ढंग से ब्रिटिश मंत्रीमण्डल अथवा भारतीय मंत्रीमण्डल सरीखे निकाय राष्ट्रीय महत्त्व के प्रश्नों पर निर्णय करते हैं वह रूसो की धारणा के सब से अधिक समीप है। उस वादविवाद के फलस्वरूप जिसमें कि प्रत्येक सदस्य को भाग लेने का अधिकार है एक सामान्य दृष्टिकोण उत्पन्न होता है जो कि समस्त सदस्यों के मध्य अधिकतम मतैक्य का सूचक होता है। यह सम्पूर्ण मंत्रीमण्डल की सर्वोत्तम बुद्धि को, उसके निर्मायक सदस्यों में से प्रत्येक की सच्ची इच्छा को अभिव्यक्त करता है। यदि किसी विषय में पूर्ण मतैक्य सम्भव न भी हो तो भी सहमत न होने वाले सदस्य उन निर्णयों को सद्-भावनापूर्वक मान लेते हैं ; उन्हें यह सन्तोष रहता है कि उनकी बात सुनी गई और निर्णय के करने में उन्होंने भी योग दिया। रूसो की **सामान्य इच्छा** का एक दूसरा उदाहरण प्राचीन काल की पंचायतों की कार्य पद्धति भी है। परन्तु मंत्रीमण्डल अथवा पंचायतों के सफलतापूर्वक कार्य करने की एक शर्त है और वह यह कि समस्त सदस्यों को अपने सामने आने वाली समस्याओं के ऊपर अपने समस्त स्वार्थों को त्याग कर सामान्य हित के दृष्टिकोण से विचार करना चाहिये। **सामान्य इच्छा** को उत्पन्न करने का मार्ग है सामान्य हित साधन की भावना को प्रसारित करना।

सामान्य इच्छा के स्वरूप की उपरोक्त विवेचना का आधार-बिन्दु यह आधारभूत धारणा है कि प्रत्येक व्यक्ति का उद्देश्य एक ऐसी चीज़ की प्राप्ति है जिसे कि वह शुभ समझता है। यदि व्यक्ति के जीवन में यह शुभ (good) की इच्छा न होती तो सामान्य इच्छा भी न होती। सामान्य इच्छा तथा व्यक्ति के जीवन में शुभ की इच्छा, ये दोनों एक बड़ी हद तक एकरूप हैं। यहाँ पर बोज़ान्के के सुन्दर शब्द उद्धरणीय हैं। वह कहता है : "The General Will seems to be, in the last resort, the ineradicable impulse of an intelligent being to a good extending beyond itself, in so far as that impulse takes the form of a common good. Though this impulse may be mastered and cheated in a degree,

yet, if it were extinct, human life would have ceased ...... This indestructible impulse towards the good, which is necessarily a common good, is what Rousseau plainly has before him in his account of the General Will." Bosanquet: *op. ct.*, pages 102-3.

हम ऊपर कह चुके हैं कि शुभ की कामना, जो कि प्रत्येक व्यक्ति में होती है और जिसके अभाव में मानव जीवन सर्वथा मूल्यहीन तथा निरर्थक हो जाता है, और **सामान्य इच्छा** प्रायः तद्रूप हैं। इस कथन की तनिक अधिक विस्तृत व्याख्या आवश्यक है जिससे **सामान्य इच्छा** की धारणा को अधिक स्पष्ट रूप से समझने में हमें सहायता मिल सकती है।

चैतन्य व्यक्ति होने के नाते हम विभिन्न समय पर विभिन्न पदार्थों की कामना करते हैं। एक व्यक्ति की इच्छित विभिन्न वस्तुओं का परस्पर सामंजस्य तब तक नहीं हो सकता जब तक कि उनको निर्दिष्ट करने वाला उसके जीवन का एक केन्द्रीय लक्ष्य न हो। जीवन के इसी केन्द्रीय लक्ष्य को, जिसकी प्राप्ति से मनुष्य को पूर्ण संतोष प्राप्त हो जाता है, हम उसकी वास्तविक इच्छा कह सकते हैं। उन विभिन्न तथा आंशिक उद्देश्यों को, जिन्हें कि मनुष्य समय समय पर अपने सामने रखता है, हम उसकी यथार्थ इच्छा कह सकते हैं। इसलिये यथार्थ इच्छा वह होती है जो क्षण क्षण मनुष्य में उठती रहती है। यथार्थ इच्छा की एक विशेषता यह होती है कि वह वास्तविक इच्छा की पूर्ण मांग को तृप्त नहीं कर सकती; और इसकी तृप्ति से व्यक्ति को पूर्ण सन्तोष प्राप्त नहीं हो सकता। यथार्थ इच्छा जितनी ही वास्तविक इच्छा के समीप होती है उतनी ही अधिक तृप्ति उससे प्राप्त होती है। यथार्थ इच्छा को वास्तविक इच्छा के निकट तभी लाया जा सकता है जब कि वास्तविक इच्छा को सामने रखते हुए यथार्थ इच्छा की समीक्षा की जावे और उसका संशोधन किया जावे। सामान्य हित के विषयों पर व्यक्तियों के परस्पर वाद-विवाद करने से समीक्षा तथा संशोधन की यह प्रक्रिया की गति और तीव्र हो जाती है। एक क्षण विशेष में व्यक्ति की जो इच्छा हो, उसका सामंजस्य न केवल उसी व्यक्ति की अन्य इच्छाओं तथा उसके सम्पूर्ण लक्ष्य से होना चाहिये बल्कि उसका समन्वय अन्य व्यक्तियों की इच्छाओं से भी होना चाहिये। व्यक्तिगत तथा सामूहिक स्तर पर इस प्रकार के पर्याप्त समीक्षण तथा संशोधन के उपरान्त हमारी जो इच्छा निर्मित होगी उसका रूप हमारी इच्छा के आरंभिक रूप से कहीं भिन्न हो सकता है। यह वास्तविक इच्छा होगी। समाज के व्यक्तिगत सदस्यों की इच्छाओं का सामंजस्य और समन्वय ही समाज की वास्तविक इच्छा है। इस विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि **सामान्य इच्छा** तथा एक समूह के समस्त व्यक्तियों की स्वार्थ-मयी इच्छा के योग में एक बहुत बड़ा अन्तर है।

गत विवेचन में यह बात निहित है कि संशोधन एवं परिशोधन के फल-स्वरूप व्यक्ति की जिस वास्तविक इच्छा का उदय होता है वह उसकी यथार्थ इच्छा से

न केवल बहुत भिन्न हो सकती है, वरन् उसके विरुद्ध भी हो सकती है। रूसो इस बात को जानता था कि एक मनुष्य विशेष होने के नाते एक व्यक्ति की जो इच्छा विशेष होती है वह उसी व्यक्ति की एक नागरिक होने के नाते सामान्य इच्छा के विपरीत हो सकती है। उसके विशेष तथा व्यक्तिगत हित उसे ऐसा कार्य करने के लिए प्रेरित कर सकते हैं जो **सामान्य इच्छा** के अभीष्ट से भिन्न और उसके विरुद्ध हो। जब इस प्रकार का संघर्ष उत्पन्न हो तो समाज का यह अधिकार तथा कर्त्तव्य हो जाता है कि वह पथभ्रष्ट व्यक्ति को **सामान्य इच्छा** के अनुसार आचरण करने के लिए विवश करे, इस प्रकार का निरंतर संघर्ष समाज को बिल्कुल नष्ट कर सकता है। रूसो के अपने ही शब्दों में : "सामाजिक संविदा में यह बात निहित है कि जो कोई भी सामान्य इच्छा की आज्ञा पालन करने से इन्कार करता है उसे सम्पूर्ण समाज द्वारा ऐसा करने के लिए विवश किया जायेगा। इसका अर्थ इससे अधिक कुछ नहीं है कि उसे स्वतन्त्र होने के लिए वाध्य किया जायेगा; क्योंकि यही वह शर्त है जोकि प्रत्येक व्यक्ति को उसके देश को देकर उसे समस्त व्यक्तिगत अधीनता से सुरक्षित करती है। यदि राज्य एक नैतिक व्यक्ति है जिसका जीवन उसके घटकों के संघटन में निहित है और यदि उसका सब से महत्त्वपूर्ण कार्य स्वयं अपने को सुरक्षित रखना है तो उसे प्रत्येक अंग को सम्पूर्ण के हित के लिये प्रयोग करने की सर्वोच्च तथा वाध्यकारी शक्ति प्राप्त होनी चाहिये।"* हमारे संविधान में निरोधात्मक बन्दीकरण (Preventive detention) की जो व्यवस्था की गई है उसका औचित्य उपरोक्त उद्धरण से श्रेष्ठतर अन्यत्र न मिलेगा। निरोधात्मक बन्दीकरण के आलोचकों को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा जनतन्त्र के महान् अवतार, रूसो, के सारगर्भित शब्दों पर ठण्डे दिल से विचार करना चाहिये।

'स्वतंत्र होने के लिए विवश करना' रूसो के इन शब्दों में बहुत बड़ा विरोधाभास दिखलाई पड़ता है। भौतिक बल के प्रयोग का परिणाम स्वतन्त्रता कैसे हो सकती है? परन्तु रूसो के लिए इसमें कोई विरोधाभास नहीं; वह तो उसकी नैतिक स्वतन्त्रता तथा अपना स्वयं का एक वास्तविक अस्तित्व रखने वाले एक

* "The social compact ...... tacitly includes the undertaking that whosoever refuses to obey the general will shall be compelled to do so by the whole body. This means nothing less than that he will be forced to be free; for this is the condition which, by giving each citizen to his country, secures him against all personal dependence. If the state is a moral person whose life is in the union of its members, and if the most important of its cares is the care of its own preservation, it must have a universal and compelling force in order to dispose each part as may be the most advantageous to the whole."

नैतिक व्यक्ति के रूप में राज्य सम्बन्धी धारणा का एक तार्किक परिणाम है। यदि राज्य को मानव के विचारशील मस्तिष्क से प्रभूत कल्पना अथवा एक क़ानूनी कल्पना समझ लिया जावे जैसा कि व्यक्तिवादी समझते हैं तो इसके द्वारा बल प्रयोग का व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से सामंजस्य स्थापित करना कठिन हो जाता है। परन्तु रूसो के लिए ऐसी कोई समस्या नहीं हो सकती। स्मरण रहे कि रूसो के लिए स्वतन्त्रता एक ऐसी स्थिति है जिसकी ओर हमारा विकास होता है; यह हमारे आत्म-स्वरूप की प्राप्ति की दशा है। परन्तु आत्म-स्वरूप की प्राप्ति के लिए हमें सदैव उत्तरोत्तर आत्मविकास करते रहना चाहिये। ऐसा तभी हो सकता है जब कि हम यथार्थ इच्छा अथवा वासना तथा प्रवृत्ति को वास्तविक इच्छा द्वारा नियन्त्रित करने के लिए निरन्तर संघर्ष करते रहें। "विवेकशील प्राणी होने के नाते हम उस कानून और व्यवस्था को मानने के लिए तय्यार हो सकते हैं जो कि हमारी सच्ची और विश्वव्यापक आत्मा की अभिव्यक्ति को सम्भव बनाती है, यद्यपि वह क़ानून और व्यवस्था हमारी विशिष्ट इच्छाओं को इस प्रकार नियन्त्रित करने की चेष्टा करते हैं जिसे हम पसन्द नहीं करते और यहाँ तक कि उसकी निन्दा भी करते हैं।"* इसलिए रूसो के यह कहने में कि मनुष्य को स्वतन्त्र होने के लिए विवश किया जाना चाहिये कोई आत्मविरोध नहीं है। सारांश यह कि सामान्य इच्छा के अनुसार आचरण करने के लिए विवश होने में व्यक्ति उस सर्वोच्च स्वतन्त्रता का अनुभव कर रहा है जो कि इन्द्रिय-निग्रह तथा स्वेच्छापूर्वक विवेकानुसार आचरण करने से ही प्राप्त होती है।

जिस प्रकार सम्पूर्ण शरीर के हितों तथा शरीर के विभिन्न अंगों के हितों में कोई संघर्ष नहीं हो सकता इसी प्रकार राज्य के वास्तविक हितों तथा व्यक्ति के सच्चे हितों में भी कोई विरोध नहीं हो सकता। जब हमें यह अनुभव हो जाता है तो रूसो के कथन का सारा विरोधाभास जाता रहता है। राज्य एक सावयविक इकाई है जिसकी तुलना हम शरीर से कर सकते हैं। संघर्ष उत्पन्न तभी होता है जब कि व्यक्ति कोई ऐसा कार्य करना चाहता है जो कि सम्पूर्ण के हित के विरुद्ध हो। ऐसी दशा में समाज को व्यक्ति को अपनी इच्छा का पालन करने को विवश करने का अधिकार है।

यहाँ हमें यह याद रखना चाहिये कि उपरोक्त विश्लेषण केवल जनतन्त्री राज्यों पर ही लागू होता है जहाँ कि **सामान्य इच्छा** की खोज तथा निर्माण के लिए किसी न किसी रूप में एक साधन होता है। एक सर्वभक्षक (Totalitarian) राज्य पर, जहाँ कि

---

* "It is possible for us to acquiesce, as rational beings, in a law and order which on the whole makes for the possibility of asserting our true or universal selves, at the very moment when this law and order is constraining our particular private wills in a way which we resent, or even condemn." Bosanquet : *op. ct.*, page 118.

समस्त जनता को एक ही साँचे में ढालने की चेष्टा की जाती है, इसे लागू करना भूल होगी। ऐसे राज्यों को तो रूसो अपने आदर्श समाज के एकदम विपरीत समझता। ऐसे राज्यों द्वारा बनाये हुए कानूनों का पालन करने से व्यक्ति सर्वोच्च स्वतन्त्रता की प्राप्ति नहीं कर सकता; रूसो के दृष्टिकोण से तो उन्हें कानून ही नहीं समझा जा सकता; वे तो मालिक द्वारा दिये गये आदेश हैं। ऐसा तो नहीं कहा जा सकता कि रूसो द्वारा प्रतिपादित **सामान्य इच्छा** का आदर्श किसी वर्तमान लोकतन्त्री राज्य में पूर्ण रूप से प्राप्त हो जाता है; हमारे कहने का अभिप्राय केवल यह है कि वह आदर्श केवल लोकतन्त्र में ही प्राप्त किया जा सकता है। कुछ लोकतन्त्रवादी राज्यों में इस आदर्श की प्राप्ति न्यूनाधिक मात्रा में की जा सकती है। रूसो द्वारा दिया गया राज्य का यह विवरण एक शाश्वत सत्य है कि राज्य एक नैतिक प्राणी है जिसकी अपनी एक सामान्य इच्छा होती है 'जिसकी प्रवृत्ति सम्पूर्ण तथा उसके प्रत्येक अंग का कल्याण करने की ओर होती है', और जो कानूनों का स्रोत है, तथा राज्य समस्त सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के लिये न्याय, अन्याय के नियम निर्धारित करता है।' यह एक मापदण्ड है जिसके द्वारा हम वास्तविक राज्यों का मूल्यांकन कर सकते हैं। हमें याद रखना चाहिये कि रूसो ने वास्तविक राज्यों का वर्णन नहीं किया; उसका उद्देश्य तो एक ऐसे आदर्श राज्य की रूप-रेखा अंकित करना था जिसमें कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा राज्य की प्रभुता का परस्पर सामंजस्य हो सके।

प्रभुता तथा निःस्वार्थता के अतिरिक्त **सामान्य इच्छा** की कुछ अन्य विशेषतायें भी यहाँ उल्लेखनीय हैं। रूसो कहता है कि यह सदा सद् एवं अच्युत होती है। यह सद् एवं अच्युत इसलिए होती है क्योंकि अपने स्वभाव से ही इसका लक्ष्य सामान्य हित की सिद्धि होता है। यदि इसके प्रत्यादेशों का पूर्णरूपेण पालन किया जावे और उसके परिणाम-स्वरूप व्यक्तियों की वास्तविक इच्छाओं में तद्रूपता स्थापित कर दी जावे तो वे सदैव सार्वजनिक हित के लिए ही अपना मत देंगे। सामान्य हित साधना के मार्ग से हटकर किसी व्यक्तिविशेष अथवा वर्गविशेष के हितों की साधना में लग जाना जैसा कि कोई व्यक्तिगत शासक अथवा एक वर्गतन्त्र कर सकता है, **सामान्य इच्छा** के लिये असम्भव है। सब के कल्याण की कामना करने में **सामान्य इच्छा** कान्ट द्वारा प्रतिपादित **शुभ इच्छा** (Good Will) के सदृश है जो कि शुभ इच्छा के अतिरिक्त और किसी वस्तु की इच्छा ही नहीं कर सकती।

इसका अर्थ यह नहीं है कि **सामान्य इच्छा** का प्रतिनिधित्व करने वाली एक परिषद का प्रत्येक निर्णय तत्त्वतः सही और न्यायसंगत ही होता है। इतिहास इसका खण्डन करता है। हमें ऐसे असंख्य उदाहरण मिलते हैं जबकि मानव समुदायों ने अन्यायपूर्ण कार्य किये हैं। रूसो स्वयं यह मानता है कि यद्यपि सामान्य इच्छा का लक्ष्य सदा सामान्य हित होता है तथापि 'वह निर्णय जो उसका पथ-प्रदर्शन करता है सदैव ज्ञान

पूर्ण नहीं होता। व्यक्ति उस शुभ को देखते हैं जिसे वह निरस्त कर देते हैं; जनता ऐसे शुभ की कामना करती है जिसे वह नहीं देखती।' आगे चलकर वह कहता है: 'हमारी इच्छा सदैव हमारी भलाई के लिये होती है, परन्तु हम सदैव उसे जान नहीं पाते; जनता कभी भ्रष्ट नहीं होती, परन्तु वह प्रायः धोखा खा जाती है, और केवल ऐसे अवसरों पर ही ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी इच्छा भ्रष्ट है।' **सामान्य इच्छा** की निस्स्वार्थता के विषय में जो कुछ हम ऊपर कह आये हैं, उस पर इस व्याख्या से कुछ और अधिक प्रकाश नहीं पड़ता। इसका अर्थ यह है कि **सामान्य इच्छा** जब तक सचमुच सामान्य रहती है तब तक वह सदैव और स्वाभावतः ही सद् रहती है। **सामान्य इच्छा** के मूल स्वभाव के विषय में यह कथन निरपवाद है; परन्तु जब हम यह याद करते हैं कि इतिहास में मानव समुदायों ने घोरतम अन्याय किये हैं तो इसके व्यावहारिक मूल्य तथा महत्त्व के सम्बन्ध में गम्भीर सन्देह उत्पन्न हो जाता है। यह कथन कि सामान्य इच्छा सदैव न्यायशील होती है और उसका लक्ष्य सदैव सामान्य हित होता है, इस शब्द की परिभाषा के रूप में तो निश्चित रूप से सही है, परन्तु सार्वजनिक समुदायों के वास्तविक व्यवहार के विवरण के रूप में हम उसे सत्य नहीं मान सकते।

परन्तु रूसो के सिद्धान्त के पक्ष में एक बात कही जा सकती है। रूसो का यह कहना एकदम सत्य है कि वाग्वीरता तथा दलबन्दी की भावना से प्रेरित होकर ही मनुष्यों की परिषद् सर्वहित को व्यक्तिगत हित के लिये बलिदान करती है, और यदि इन कुप्रभावों को दूर कर दिया जावे तो मानव स्वभाव की स्वाभाविक अच्छाई की अवश्य विजय होगी। **सामान्य इच्छा** के आदर्श के निकटतम पहुँचने के लिये आवश्यकता इस बात की है कि विपरीत दिशा में ले जाने वाली शक्तियों को नष्ट किया जाये। यह कहना अनुचित न होगा कि रूसो के आदर्श की अधिकतम प्राप्ति प्राचीन यूनान के छोटे नगर-राज्यों में हो सकती थी; आज के बड़े राष्ट्र-राज्यों में नहीं। रूसो के राजनीतिक दर्शन पर उसके अफलातून के अध्ययन तथा उसके अपने जेनेवा राज्य के प्रति उसकी प्रशंसा भावना का गहरा प्रभाव पड़ा था।

रूसो के अनुसार **सामान्य इच्छा** संप्रभुताधारी है। इसमें संप्रभुता की सभी विशेषतायें होनी चाहियें। संप्रभुता निरपेक्ष होती है, इसलिये इसे भी निरपेक्ष होना चाहिये। **सामान्य इच्छा** की इस विशेषता का उल्लेख हम पहिले ही कर चुके हैं। रूसो कहता है कि संप्रभुता अविभाज्य तथा अदेय है। अतः **सामान्य इच्छा** में भी ये गुण अवश्य होने चाहियें। ये गुण राज्य के स्वरूप का तार्किक परिणाम हैं। संप्रभुता को अविभाज्य कहने से रूसो का अभिप्राय यह है कि वह सम्पूर्ण समाज में ही रह सकती है और रहनी चाहिये; उसे छोटे छोटे समूहों में विभक्त नहीं किया जा सकता जैसा कि आधुनिक बहुवादी (Pluralists) उसे करना चाहते हैं; और न ही उसे सरकार के विभिन्न अङ्गों, व्यवस्थापिका, और कार्यपालिका में विभक्त किया जा सकता है। उसे विभक्त करना

उसे नष्ट कर देना होगा; क्योंकि ऐसी स्थिति में एक भाग अन्य भागों के ऊपर अपना अधिकार जतायेगा और इसका अर्थ यह होगा कि संप्रभुता अथवा सामान्य इच्छा एक इकाई के रूप में सम्पूर्ण समूह की इच्छा नहीं रहेगी। व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका संप्रभुता-सम्पन्न नहीं हो सकतीं; वे तो **सामान्य इच्छा** के प्रत्यादेशों का पालन करने वाले अभिकरण मात्र हैं। इसी प्रकार संप्रभुता अथवा **सामान्य इच्छा** अदेय है। जनता अपनी प्रभुशक्ति को किसी एक व्यक्ति अथवा व्यक्तिसमूह के सामने समर्पित नहीं कर सकती। उसे व्यवस्थापिका को सौंप देने का अर्थ होगा कि प्रभुशक्ति के प्रयोग में जनता का निरन्तर भाग नहीं रहा और इसलिये वह स्वतन्त्र नहीं रही। स्पष्ट है कि यहाँ पर रूसो के मस्तिष्क में नगर-राज्य हैं केवल जिनमें ही प्रत्यक्ष जनतन्त्र फल फूल सकता है; उसका अदेय **सामान्य इच्छा** का सिद्धान्त आधुनिक राष्ट्र-राज्य पर लागू नहीं हो सकता; क्योंकि उनका आकार इतना बड़ा होता है और जनता इतनी अधिक होती है कि उनमें प्रतिनिधि संस्थाओं के बिना काम नहीं चल सकता। आज के युग में परोक्ष जनतन्त्र अथवा प्रतिनिधि जनतन्त्र अपरिहार्य हो गया है। परन्तु रूसो की तो यह स्पष्ट घोषणा है कि ज्यों ही कोई राष्ट्र प्रतिनिधियों को नियुक्त कर लेता है, त्यों ही उसकी स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है। उसका विचार था कि ब्रिटेन केवल निर्वाचन के समय ही स्वतन्त्र रहता है। निर्वाचन समाप्त होते ही जनता दास बन कर रह जाती है और उसे कोई नहीं गिनता।

अन्त में, **सामान्य इच्छा** की एक अन्य विशेषता भी उल्लेखनीय है। यह कार्यपालिक इच्छा नहीं हो सकती; इसका कार्य कानून बनाना है, उन्हें लागू करना नहीं; वह कार्य एक दूसरे अभिकरण का है जिसे सरकार कहते हैं। **सामान्य इच्छा** कानूनों को लागू करने का कार्य स्वयं नहीं कर सकती क्योंकि वह अव्यक्तिगत तथा विश्वव्यापक होती है; जबकि सरकार के प्रत्यादेश विशिष्ट एवं व्यक्तिगत होते हैं। इस प्रकार रूसो संप्रभुता-संपन्न जनता तथा उसके अधीनस्थ और उसके प्रति उत्तरदायी सरकार में विभेद करता है। रूसो का मत है कि जब तक **सामान्य इच्छा** संप्रभुता-सम्पन्न रहती है तब तक इस बात से कोई अन्तर नहीं पड़ता कि सरकार लोकतन्त्री है, कुलीनतन्त्री है अथवा राजतन्त्री है।

रूसो के **सामान्य इच्छा** के सिद्धान्त में जो कठिनाइयाँ तथा असंगतियाँ हैं उनकी समीक्षा करने से पहिले हमें दो शब्द रूसो की विधि सम्बन्धी धारणा तथा विधि निर्माता के कार्य के विषय में कहने हैं।

राज्य में विधि का स्वरूप तथा कार्य— बार बार इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि **सामाजिक संविदा** का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि आधिपत्य का अधिकार में तथा प्रवृत्ति का न्याय में परिवर्तन हो गया। अब, अधिकारों तथा

न्याय का निर्धारण विधि द्वारा होता है। इसलिये व्यवस्थापन सामाजिक संविदा द्वारा उत्पन्न राज्य का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। रूसो स्वयं कहता है : "संविदा राज्य को अस्तित्व तथा जीवन प्रदान करती है ; अब व्यवस्थापन द्वारा हमें उसे गति तथा इच्छा प्रदान करनी है। क्योंकि वह मूल संविदा, जिसके द्वारा राज्य का निर्माण तथा संगठन होता है, किसी भी प्रकार यह निर्धारित नहीं करता कि राज्य को अपने प्रतिरक्षण के लिये क्या करना चाहिये।"* इसलिए हमें इस बात का अध्ययन करना है कि विधि का क्या स्वरूप होता है और उसका किस प्रकार निर्माण होता है।

अपने समय में प्रचलित धारणा का अनुसरण करते हुए रूसो यह मानता है कि विधि निर्माण संप्रभुताधारी का कार्य है। वह संप्रभुता का स्थान **सामान्य इच्छा** को समझता है; इसका स्वाभाविक परिणाम यह है कि विधि निर्माण एकमात्र **सामान्य इच्छा** का कार्य होना चाहिये। **सामान्य इच्छा** के अतिरिक्त और कोई चीज़ विधि नहीं बना सकती। जिस बात पर रूसो इतना ज़ोर देता है वह यह कि संप्रभु शक्ति का एकमात्र और समुचित प्रयोग व्यवस्थापन है; और व्यवस्थापन का कोई कार्य तब तक समुचित नहीं हो सकता जब तक कि सामान्य हितों के विषय में सम्पूर्ण समाज निर्णय न कर ले। इस तर्क में हमें कई ऐसे प्रश्नों का उत्तर मिल जाता है जो कि अनादि काल से उठते रहे हैं। विधि निर्माण किसका कार्य है? यह उस सामान्य इच्छा का है जिसे न किसी को हस्तांतरित किया जा सकता है और न जिसका प्रतिनिधित्व किया जा सकता है। क्या शासक विधि के ऊपर है? नहीं, वह विधि के ऊपर नहीं हो सकता, क्योंकि वह राज्य का एक सदस्य है। क्या विधि अन्यायपूर्ण हो सकती है? नहीं, कोई भी स्वयं अपने प्रति अन्याय नहीं कर सकता। सम्पूर्ण समाज स्वयं अपने साथ अन्याय नहीं कर सकता। हम विधि के अधीन रहते हुए भी स्वतन्त्र कैसे रह सकते हैं? विधि की अधीनता के बावजूद भी हम स्वतन्त्र रह सकते हैं यदि विधि स्वयं हमारी इच्छा को ही अभिव्यक्त करती हो।

सारांश यह कि रूसो के अनुसार विधियाँ नागरिक संघटन की वे शर्तें हैं जिन्हें जनता स्वयं अपने ऊपर लगाती है। 'क्योंकि जनता विधि के अधीन होती है, इसलिए उसका निर्माण भी उसी के द्वारा होना चाहिये। समाज की शर्तों का निर्धारण केवल उन्हीं के द्वारा होना चाहिये जो कि उसका निर्माण करने के लिए एकत्रित होते हैं, उनमें से किसी व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह द्वारा नहीं। इसके अतिरिक्त, विधि का सम्बन्ध

---

* "The compact gives the body politic existence and life ; we have now by legislation to give it movement and will. For the original pact by which the body is formed and united still in no respect determines what it ought to do for its preservation."
—*Social Contract*, Book II, Chapter VI.

केवल सामान्य हितों के विषयों से होना चाहिये, व्यक्तिगत हितों से नहीं। विधि को भी उतना ही सामान्य होना चाहिये जितनी कि स्वयं **सामान्य इच्छा** है जिसका वह एक कार्य है। जो चीज़ किसी व्यक्ति, अथवा किसी विशेष समूह पर विशेष ढंग से लागू होती है उसे विधि नहीं कहा जा सकता। व्यक्तिगत रूप से किसी मनुष्य अथवा किसी विशेष कार्य के निर्धारण के लिए विधि नहीं बनाई जाती। जहाँ भी इन दो शर्तों में से एक का अभाव होता है, अर्थात् कोई आदेश या तो सामान्य इच्छा से प्रसूत नहीं होता या वह सम्पूर्ण जनता से सम्बन्धित नहीं होता तो उसे हम विधि नहीं कह सकते ; वह प्रत्यादेश होता है। यह कार्यपालिका का कार्य होगा, संप्रभुता का नहीं। विधि का अस्तित्व केवल तभी होता है जब कि सब लोग सब लोगों के ऊपर कार्य करते हैं।' सारांश यह कि रूसो की कल्पना की विधि केवल सामान्य कामों से सम्बन्धित हो सकती है ; वह समान रूप से सब के द्वारा बनाई जाती है ; वह सब के लिए समान रूप से मान्य होती है और सामान्य हित के लिए उसका निर्माण किया जाता है।

उपरोक्त विवेचना से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि रूसो ने जिस कानून का वर्णन किया है वह आधारभूत अथवा सांविधानिक कानून है जो दीवानी अथवा फ़ौजदारी के कानूनों से भिन्न है। दीवानी तथा फ़ौजदारी के कानून राज्य का जन्म हो जाने के उपरान्त उसके प्रशासन से सम्बन्ध रखते हैं। **सोशल कॉन्ट्रेक्ट** के पहिले भाग में रूसो का सम्बन्ध राज्य के आधार से है और इसलिये वह केवल आधारभूत अथवा सांविधानिक कानून के स्वरूप तथा स्रोत की ही विवेचना करता है। **सामान्य इच्छा** का केवल इसी से सम्बन्ध है, प्रशासन की छोटी मोटी बातों से नहीं।

विधि निर्माता— गत वर्ग में हम यह देख चुके हैं कि संप्रभुतासम्पन्न जनता द्वारा बनाये हुए कानून राजनीतिक संघटन की स्थितियाँ निर्धारित करते हैं ; उनका सम्बन्ध राज्य के ढाँचे से होता है। कानून बनाने के लिये बहुत बड़े ज्ञान तथा दूरदर्शिता की आवश्यकता है। आवश्यक विशेषज्ञ ज्ञान तथा दूरदर्शिता कैसे और कहाँ से प्राप्त हो ? यथार्थ मनुष्यों को देखते हुए तो यह कहना अनुचित न होगा कि श्रेष्ठतम इरादों के रखते हुए भी इस यथार्थ जगत के साधारण मनुष्य ऐसे कानून बना सकते हैं जो कि उस उद्देश्य को ही नष्ट कर दें जिसके लिये वे राज्य स्थापित करना चाहते हैं। दूसरे शब्दों में, इस बात से कि यद्यपि **सामान्य इच्छा** सदैव सद् होती है, परन्तु उसका निर्देशन करने वाली निर्णय बुद्धि ज्ञानयुक्त नहीं होती ; इस बात से कि व्यक्ति उस शुभ को देखते हैं जिसे वे निरस्त कर देते हैं तथा जनता उस शुभ की इच्छा करती है जिसका उसे ज्ञान नहीं होता, यह कठिनाई उत्पन्न होती है कि जनता को शुभाशुभ का ज्ञान किस प्रकार कराया जाये। इस कठिनाई को दूर करने के लिए रूसो विधि-निर्माता अथवा विधायक (Legislator) की व्यवस्था करता है।

विधायक की आवश्यकता को एक दूसरे ढंग से भी व्यक्त किया जा सकता है। अन्यत्र कहीं कहा जा चुका है कि **सामान्य इच्छा** का उदय तब होता है जबकि सामान्य हित के विषयों पर विचार-विमर्श करते समय व्यक्तिगत इच्छाओं में संशोधन तथा परिशोधन किया जाता है और प्रत्येक व्यक्ति से अपनी इच्छा को दूसरों की इच्छाओं से समन्वित करने की माँग की जाती है। इस संशोधन और परिशोधन को स्वतन्त्र छोड़ा जा सकता है; व्यक्तिगत इच्छाओं के पारस्परिक संघर्ष में जिन बातों के सम्बन्ध में मत-भेद है वे समाप्त हो जायेंगी और जिन बातों में सब सहमत हैं वे शेष रह जायेंगी। परन्तु परीक्षण, संशोधन तथा परिशोधन अथवा प्राकृतिक चयन की यह प्रक्रिया बहुत लम्बी होती है और उस पर सदैव भरोसा नहीं रखा जा सकता। अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिये रूसो एक विशेषज्ञ तथा प्रज्ञावान् व्यक्ति के ऊपर अधिक निर्भर करता है। विधि-निर्माता के मार्गदर्शन से इस प्रक्रिया को अधिक सुविधापूर्ण तथा गतिशील बनाया जा सकता है। रूसो की कल्पना का विधि-निर्माता मूसा, सोलन तथा लाईकर्गस के समान एक महान् नायक है। वह अपने पद पर भी उतना ही अपूर्व है जितना कि अपनी बुद्धि में वह अद्वितीय है। इस प्रसंग में हमें मनु की याद आना स्वाभाविक है। विधि-निर्माता की प्रतिभा अद्वितीय होनी चाहिये। जनता क्या चाहती है; उसके लिये क्या आवश्यक है, यह जानने तथा उसके लिए समुचित कानूनों और संस्थाओं की व्यवस्था करने की उसमें सामर्थ्य होनी चाहिये। जनता की विभिन्न आवश्यकताओं तथा परिस्थितियों के अनुकूल कानून की रूपरेखा बनाने की योग्यता रखने के लिए विधि-निर्माता को एक महान् दार्शनिक होना चाहिये। परन्तु यद्यपि वह कानून का मसविदा तय्यार करता है, तथापि वह उसे न पारित कर सकता है और न लागू कर सकता है; वह न तो संप्रभुता-सम्पन्न है और न न्यायरक्षक है। उसका कार्य केवल लोगों को यह बतलाना है कि उनके लिये सर्वोत्तम क्या है और उन्हें अपनी सिफारिशों को मानने के लिए तय्यार करना है। यदि उसके तय्यार किये हुए मसविदे जनता की अनुमति के बिना ही कानून बन जायें तो वह स्वामी बन जायेगा और जनता अपनी स्वतन्त्रता खो बैठेगी। अपनी स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखने के लिये जनता को कानून बनाने का अधिकार अपने पास सुरक्षित रखना चाहिये। विधि-निर्माता का कार्य तो एक विशेषज्ञ परामर्शदाता का है। स्वयं संप्रभुता-सम्पन्न अथवा न्यायरक्षक बन बैठने का प्रयास करना उसके उद्देश्य को ही नष्ट कर देगा।

यद्यपि रूसो एकल विधि-निर्माता का ही उल्लेख करता है, किन्तु उसका कार्य व्यक्तियों के एक समूह को भी सौंपा जा सकता है जिसे आज की भाषा में हम **संविधान निर्मात्री परिषद** कह सकते हैं। परन्तु दोनों में एक अन्तर है। संविधान निर्मात्री परिषद संविधान को बिना जनता के सामने रखे हुए ही पारित कर सकती है जैसा कि संयुक्त राज्य अमेरिका तथा हमारे देश में हुआ। रूसो के विधि-निर्माता के निकटतम वह

परिषद आती है जो कि संविधान का मसविदा तय्यार करती है और वह मसविदा स्वीकृति के लिए जनता के सामने रखा जाता है जैसा कि **चतुर्थ फ्रेंच गणराज्य** में किया गया था।

सारांश— रूसो के राजनीतिक सिद्धान्त के विषय में हमने अब तक जो कुछ कहा है उसका सारांश यहाँ दे देने से उसके आधारभूत बिन्दुओं को भली प्रकार समझने में कदाचित् सहायता मिलेगी। उसका आधार-बिन्दु यह मान्यता है— और निस्सन्देह यह एक मान्य मान्यता है— मनुष्य के पूर्णता की ओर विकास करने के लिए स्वतन्त्रता अपरिहार्य है। दूसरे, वह इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है कि राज्य एक प्रगतिशील शक्ति है जो कि मनुष्य को उसकी आदिकालीन स्थिति से उठाकर ऊपर की ओर ले जाती है। इसलिये उसके लिए एक ऐसे आदर्श राज्य का चित्र खींचना आवश्यक हो गया केवल जिसके अन्तर्गत ही व्यक्ति अपनी समस्त स्वाभाविक शक्तियों का विकास कर सकता है और सचमुच मानव बन सकता है। ऐसे अभीष्ट राज्य की रचना को उसने **सामान्य इच्छा** में पाया (और केवल **इच्छा** में नहीं), यह कहा जा सकता है कि उसका **सामान्य इच्छा** का सिद्धान्त मानव स्वतन्त्रता सम्बन्धी उसकी धारणा को राजनीतिक संस्थानों के ऊपर आरोपित करने का एक प्रयास है। उसका आदर्श राज्य 'प्रत्येक का समस्त के साथ समानता के आधार पर संघटन है जिसका उद्देश्य सामान्य कल्याण है, जिसमें संप्रभुता के सभी अधिकारी हैं, जो अदेय और अविभाज्य है, और जो ऐसे कानून को जन्म देती है जिसका स्वतन्त्रता से एकदम सामंजस्य हो सकता है।' यह **सामान्य इच्छा** है और इस नाते इसमें न्याय तथा सद् के शाश्वत सिद्धान्त निहित हैं। यद्यपि रूसो का आरम्भ-बिन्दु यह धारणा थी कि जनता का पारस्परिक समझौता ही राज्य का एकमात्र मान्य आधार है तथापि उसने शीघ्र ही यह अनुभव कर लिया कि संविदा सिद्धान्त की व्यक्तिवादी मान्यताओं की उसके इस विचार से (जोकि उसे अफलातून के अध्ययन से मिला था) कि राज्य तत्त्वतः एक नैतिक सावयव है, संगति नहीं बैठती। इसलिए उसने संविदा सिद्धान्त के स्थान में **सामान्य इच्छा** का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। **सामान्य इच्छा** एक विवेकमय आदर्श है जिसकी ओर बढ़ने का यथार्थ राज्यों को प्रयास करना चाहिये यदि मानव जाति को प्रगति करनी है। यह है उसके राजनीतिक सिद्धान्त का सार और यही है राजनीतिक विचार को उसकी प्रमुख देन। उसके सिद्धान्त की मान्यता **सामान्य इच्छा** की वास्तविकता पर निर्भर करती है। रूसो उसकी वास्तविकता में विश्वास अवश्य करता था; परन्तु अपने स्वभाव के कारण ही उसकी पूर्ण अनुभूति किसी वास्तविक समाज में नहीं हो सकती; वह तो एक ऐसा आदर्श है जिसके निकट पहुँचने का हम न्यूनाधिक प्रयत्न कर सकते हैं; किन्तु जिसका पूर्ण रूप से प्रत्यक्षीकरण नहीं किया जा सकता। कोल ने ठीक लिखा है:— "Regarded as actual, it must always be qualified by 'in so far as'

or its equivalent. This, however, is so far from destroying the value of the conception that therein lies its whole value. In seeking the universal basis of society, we are not seeking anything that is wholly actualised in any State, though we must be seeking something which exists, more or less perfectly, in every state." Cole : *Introduction to the Social Contract, Everyman's Library,* page XXXVIII.

रूसो के सामान्य इच्छा के सिद्धान्त में कठिनाइयाँ :— इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि अपने **सामान्य इच्छा** के सिद्धान्त में रूसो ने समाज में वर्तते हुए एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का अनावरण किया है। उसमें उसने 'एकीकृत करने वाला एक ऐसा सिद्धान्त पाया जो कि न केवल राज्य को उसके समस्त रूपों में एकबद्धता दे सकता था, वरन् राज्य के सम्पूर्ण जीवन को अर्थ तथा दिशा प्रदान कर सकता था।' **सामान्य इच्छा**, जिसका लक्ष्य सामान्य शुभ है, एक समाज के जीवन में उतनी ही निहित है जितनी कि एक व्यक्ति के जीवन में शुभ के लिये किसी प्रकार की इच्छा। रूसो के सिद्धान्त में मुख्य कठिनाई यह है कि हमें यह विश्वास नहीं हो पाता कि स्थिति विशेष में हमें **सामान्य इच्छा** प्राप्त हो सकती है, स्वयं रूसो इस विषय में पूर्ण रूप से निश्चित नहीं है; अपने ग्रन्थ **सोशल कॉन्ट्रेक्ट** में वह विभिन्न तथा परस्पर-विरोधी बातें कहता है। कहीं कहीं वह यह कहता हुआ प्रतीत होता है कि **सामान्य इच्छा** केवल तभी प्राप्त हो सकती है जबकि समाज के समस्त सदस्य किसी एक बात पर सहमत हों, यद्यपि वह **सामान्य इच्छा** तथा 'समस्त की इच्छा' में बड़ी तत्परता के साथ विभेद करता है। कहीं कहीं उसका आशय यह दिखलाई पड़ता है कि बहुमत की इच्छा **सामान्य इच्छा है**, किन्तु केवल तब जबकि बहुमत में **सामान्य इच्छा** के समस्त गुण वर्त्तमान हों, अर्थात् जबकि नागरिकों का एक बड़ा भाग सामान्य हित के प्रश्न पर निस्स्वार्थ भाव तथा जनहित की भावना से मत देता है। कुछ स्थानों पर वह यह लक्षित करता है कि परिषद् में एकत्रित सदस्यों में मत की विभिन्नतायें जब एक दूसरे को काट देती हैं और उसके पश्चात् जो शेष रह जाता है वह **सामान्य इच्छा** है। **विधिनिर्माता** का जो विवरण उसने दिया है उससे स्पष्ट है कि सामान्य इच्छा को सोलन, मनु अथवा महात्मा गाँधी (जिनमें जनता का स्वामी बने बिना ही उसे सामान्य शुभ की ओर ले चलने की सामर्थ्य, दूरदर्शिता तथा प्रतिभा थी) सरीखा एक भी व्यक्ति अभिव्यक्त कर सकता है। **सामान्य इच्छा** के निवास-स्थान के विषय में यह अनिश्चितता निस्सन्देह शोचनीय है। क्या ही अच्छा होता कि रूसो हमें अधिक स्पष्ट तथा निश्चित भाषा में यह बताता कि **सामान्य इच्छा** को हम कैसे और कहाँ प्राप्त कर सकते हैं। दुर्भाग्यवश उसने हमें एक ऐसी स्थिति में छोड़ दिया है कि इस बात को कोई भी निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि एक प्रश्न विशेष के विषय में

सामान्य इच्छा क्या है। इस अनिश्चितता को देखते हुए केवल इतना ही कहा जा सकता है कि यदि एक समूह विशेष के सदस्य अपनी सामूहिक एकता का अनुभव करते हों तो उस समूह में व्यावहारिक रूप से बहुमत **सामान्य इच्छा** का साकार रूप समझा जा सकता है। रूसो इस धारणा का भी सदैव समर्थन नहीं करता।

इस विषय में रूसो का ही सारा दोष नहीं है; विषय की सूक्ष्मता तथा इस क्षेत्र में उसके प्रारम्भिक विचारक होने के कारण उसका कार्य और भी अधिक कठिन हो गया था। **सामान्य इच्छा** कितनी भी वास्तविक क्यों न हो, वह साकार नहीं हो सकती; उसका यह निराकार स्वरूप उसके विश्लेषण को अत्यन्त कठिन बना देता है।

अब हम उस आलोचना को लेते हैं जो कि रूसो के सिद्धान्त की प्रायः की जाती है। प्रायः कहा जाता है कि यद्यपि रूसो का उद्देश्य व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखना था तथापि उसका सिद्धान्त बहुमतशाही का एक सब से अधिक पोषक बन गया। बहुमत से सहमत न होने वाले व्यक्ति को बहुमत के सामने झुकने के लिए विवश किया जा सकता है; रूसो के प्रायः उद्धरित शब्दों में उसे 'स्वतन्त्र होने के लिए बाध्य किया जा सकता है।' बहुमत से असहमत होने वालों के लिए बच निकलने अथवा रक्षा का कोई मार्ग दिखलाई नहीं पड़ता। इस आपत्ति को कोल ने इन शब्दों में व्यक्त किया है: "हमें बताया जाता है कि **सामान्य इच्छा** में जिस स्वतन्त्रता की अनुभूति होती है वह सम्पूर्ण राज्य की स्वतन्त्रता होती है; परन्तु राज्य अपने घटकों को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्राप्त कराने के लिए कायम है। एक स्वतन्त्र राज्य अत्याचारी हो सकता है; इसके विपरीत एक निरंकुश शासक अपनी प्रजा को प्रत्येक स्वतन्त्रता प्रदान कर सकता है। इस बात की क्या गारंटी है कि राज्य स्वयं अपने को स्वतन्त्र बनाने में अपने घटकों को दास नहीं बना डालेगा।"*

इस प्रकार की आपत्ति इसलिये खड़ी होती है क्योंकि रूसो के सिद्धान्त में अपने समस्त अधिकारों तथा शक्तियों को **सामान्य इच्छा** के सामने समर्पित कर देना है जो कि सर्वोच्च शक्ति के रूप में शासन करती है। निस्सन्देह, रूसो व्यक्ति के लिए किसी संरक्षण की व्यवस्था नहीं करता। इसलिये उसके बहुत से पाठक यह सोचते हैं कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता के प्रति उसके हृदय में सम्मान की भावना होते हुए भी रूसो व्यक्ति को अधिक महत्त्व नहीं देता।

परन्तु रूसो के विरुद्ध यह आपत्ति उठाना उचित नहीं है। वह विचारक जो कि व्यक्ति के मूल्य में दृढ़ विश्वास रखता है, जो कि व्यक्ति को ही सब कुछ मानता है, भला

* "The freedom which is realised in the General Will, we are told, is the freedom of the State as a whole; but the State exists to secure individual freedom for its members. A free State may be tyrannical; a despot may allow his subjects every freedom. What guarantee is there that the State, in freeing itself, will not enslave its members."
—Cole : *op. ct.*, page XXXV.

व्यक्ति को पूर्ण रूप से राज्य के अधीन कैसे कर सकता है ? *Emile* में कुछ ऐसे अंश हैं जो इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं रहने देते कि रूसो व्यक्ति को बहुत अधिक महत्त्व देता था। एक स्थान पर वह कहता है कि विद्यार्थी को शिक्षा उसके हित के लिये ही दी जानी चाहिये, राज्य के हित के लिए नहीं; और उसे यह सिखाया जाना चाहिये कि वह अपने आपको सदैव एक साध्य समझे, एक साधन कभी नहीं। अन्यत्र रूसो लिखता है: 'मनुष्य इतना महान् है कि उसे दूसरों का काम करने के लिए एक यन्त्रमात्र नहीं बनाया जा सकता।' राज्य को साध्य मानने वाले सिद्धान्त का उसने खण्डन किया, और यह विश्वास प्रगट किया कि व्यक्तिगत सुरक्षा के अभाव में जन सुरक्षा निरर्थक है। इस लिए रूसो पर यह आरोप लगाना गलत होगा कि वह एक ऐसे निरंकुशवाद का समर्थक था जिसका परिणाम अत्याचार होता है। यह बात भी उल्लेखनीय है कि रूसो पर प्रायः यह आरोप भी लगाया जाता है कि उसने एक ऐसे व्यक्तिवाद को प्रोत्साहन दिया जिसका परिणाम अराजकता होगी। समझ में नहीं आता कि एक विचारक पर एक ही समय निरंकुशवाद तथा व्यक्तिवाद, दोनों का आरोप कैसे लगाया जा सकता है ? ये दोनों आरोप तो एक दूसरे को काटते हैं। वास्तविक स्थिति क्या है ? इसका सर्वोत्तम उत्तर प्रोफेसर राइट के निम्नलिखित शब्द हैं: "यह पुस्तक न तो व्यक्तिवादी के लिये है और न निरंकुशवादी के लिए। राज्य तथा व्यक्ति के मध्य संघर्ष में जो कि अरस्तु से लेकर आज तक राजनीतिक दर्शन के सामने एक संकटमय समस्या रही है यह ग्रन्थ शान्ति की प्रस्थापना पेश करता है। प्रगति के लिये व्यक्ति को स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये; किन्तु प्रगति का पोषण करने वाले राज्य में अपना कार्य करने के लिये शक्ति होनी चाहिये। स्वतन्त्रता सुरक्षित होनी चाहिये क्योंकि संदिग्ध स्वतंत्रता कोई स्वतन्त्रता नहीं होती; किन्तु शक्ति को सर्वोच्च होना चाहिये क्योंकि सशर्त शक्ति निरर्थक है। इसलिए दोनों को पूर्ण रहना चाहिये और उनमें कोई संघर्ष नहीं होना चाहिये। और हमारा लेखक उन दोनों का एक ऐसे कानून में सामञ्जस्य करना चाहता है जिसमें न तो सर्वोच्चता का अभाव हो और जो न ही स्वतन्त्रता को सीमित करता हो। जिस तर्कना के द्वारा वह ऐसे कानून पर पहुँचता है उसकी आलोचना यह कह कर की जा सकती है कि वह एक निरी कल्पना, एक कोरा आदर्श है। अथवा वह कदाचित आध्यात्मिक है; परन्तु उसे व्यक्तिवादी या निरंकुशवादी नहीं कहा जा सकता।"*

* "The book is meant neither for individualist nor absolutist. In the struggle between state and individual which has been the torment of political philosophy from Aristotle down, it offers a proposal for peace...... The individual must have liberty for progress, but the state that fosters progress must have power to do its work. The liberty must be secure, for a precarious liberty is none at all, but the power must be supreme, for contingent power is the lack of it. So

उपरोक्त अवतरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि रूसो के सिद्धान्त पर आततायी निरंकुशवाद के पोषक होने का मिथ्या आरोप उसकी तर्कना को ठीक प्रकार न समझ सकने के कारण ही उत्पन्न होता है। सच्ची स्वतंत्रता को राज्य ही सम्भव बनाता है; और राज्य जितना अधिक सबल होगा, उतनी ही अधिक सुरक्षित व्यक्तियों की स्वतंत्रता होगी। रूसो ने इस सत्य को देखा और उसने अपने सिद्धान्त में दोनों की, अर्थात् पूर्ण-शक्ति-सम्पन्न एक राज्य की तथा अधिकतम व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की व्यवस्था की। व्यक्ति स्वतन्त्रता का उपभोग एक संप्रभुतासंपन्न निकाय के सदस्य के नाते करते हैं। जब हम यह भूल जाते हैं कि राज्य की सुरक्षा तथा व्यक्ति की स्वतंत्रता ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं तो ऐसी खोखली आलोचना होती है।

यहाँ पर यह बताना अनावश्यक न होगा कि रूसो यह आग्रह क्यों करता है कि व्यक्ति को अपनी समस्त शक्तियों को **सामान्य इच्छा** के सामने समर्पित कर देना चाहिये। वह जानता था कि आंशिक समर्पण वास्तव में कोई समर्पण नहीं है। यदि हम में से प्रत्येक अपने शरीर तथा अपनी समस्त शक्तियों को सामान्य उद्देश्य के लिए समर्पित कर दे तो राज्य सर्वाधिक शक्तिमान् होगा और इसलिए वह नागरिकों के अधिकारों को सब से अधिक सुरक्षित रख सकेगा। अपनी प्राकृतिक स्वाधीनता के कुछ अनिश्चित अंश को यदि हम अपने पास ही रख लें तो उसके उपभोग की कोई गारण्टी नहीं हो सकती; जो चीज़ समाज को सौंपी ही नहीं गई उसकी रक्षा करने की गारण्टी समाज नहीं ले सकता। इसके अतिरिक्त, जब किसी को यही मालूम न होगा कि क्या उसने समर्पित कर दिया है और क्या उसने अपने पास रख लिया है तो समाज तथा व्यक्ति में निरन्तर संघर्ष होता रहेगा क्योंकि समाज अपने सदस्यों से अधिकाधिक लेने की चेष्टा करेगा और व्यक्ति अधिकाधिक अपने पास रखने की चेष्टा करेगा। मूल बात यह है कि रूसो के अनुसार अपने अधिकारों के सुरक्षित उपभोग के लिए हमें अपनी प्राकृतिक स्वाधीनता तथा स्वाभाविक शक्तियों को समाज के सामने समर्पित कर देना चाहिये। एक सामान्य शक्ति उत्पन्न करने के लिये हम अपनी प्राकृतिक स्वाधीनता का जितना अधिक परित्याग कर देंगे, हमें सुरक्षित रखने वाली शक्ति उतनी ही दृढ़तर हो जायेगी। रूसो का तर्क अकाट्य है।

परन्तु यदि रूसो की तर्कना उचित और उसकी युक्ति अकाट्य है तो उस पर

---

the two must remain full, and unconflicting. And our author would so render them in law that can not of its nature lack supremacy but can not of its nature limit liberty. The reasoning that leads him to such law may be assailed in other ways— as a sheer abstraction, as ideal or metaphysical perhaps; but not as individualist or absolutist."

—Wright : *Meaning of Rousseau*, page 103.

निरन्तर यह आरोप क्यों लगाया जाता है कि उसने इस बात का कोई अभिरक्षण प्रस्तुत नहीं किया कि स्वतन्त्र राज्य आततायी नहीं बनेगा और अपने सदस्यों को दासता की बेड़ियों में नहीं जकड़ देगा। इस प्रकार की आपत्ति करने वाले यह भूल जाते हैं कि रूसो व्यक्ति की विशिष्ट अथवा व्यक्तिगत इच्छा तथा उसकी वास्तविक अथवा विश्वव्यापक इच्छा में विभेद करता है और यह विभेद रूसो के सिद्धान्त का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है। यह भावना कि राज्य व्यक्ति का दमन कर रहा है और उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण कर रहा है तभी उत्पन्न होती है जब कि व्यक्ति के विशिष्ट अथवा प्रगट हित तथा राज्य के हितों में संघर्ष हो। जिस क्षण हम यह महसूस कर लेंगे कि हमारे विशिष्ट अथवा व्यक्तिगत हित हमारे वास्तविक हित नहीं हैं; और अपनी वासनाओं की तृप्ति करने की छूट सच्ची स्वतन्त्रता नहीं है, बल्कि दासता है, तो हम देखेंगे कि **सामान्य इच्छा** की अवहेलना करना स्वतन्त्रता नहीं है, वरन् इन्द्रियों की दासता है। रूसो के मतानुसार व्यक्ति के सच्चे हितों तथा राज्य के हितों में न कोई संघर्ष है और न हो सकता है। "सामान्य इच्छा से निर्दिष्ट होने वाले एक राज्य के हित व्यक्ति के ही हित होते हैं यदि व्यक्ति अपनी सच्ची इच्छा द्वारा प्रेरित हो, अर्थात् यदि वह विश्व हित को ध्यान में रखते हुए, विवेकपूर्वक तथा स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करे।"* इसलिए हम कह सकते हैं कि जब एक व्यक्ति **सामान्य इच्छा** (व्यवहार में बहुमत की इच्छा) के सामने झुकता है अर्थात् उसका पालन करता है तो इसलिए नहीं कि वह संख्या की शक्ति से आतङ्कित है, बल्कि इसलिए कि उसने उसके प्राधिकार को स्वेच्छा एवं स्वतन्त्रतापूर्वक स्वीकार किया है। समाज की इच्छा के अनुसार आचरण करके वह सच्ची स्वतन्त्रता की प्राप्ति करता है।

यह युक्ति भी कदाचित आलोचकों को सन्तुष्ट न कर सके। असंख्य उदाहरण ऐसे दिये जा सकते हैं जबकि मानव परिषदों ने अत्यन्त अन्यायपूर्वक और आततायीपूर्ण ढंग से कार्य किया है और व्यक्तिगत मत का दमन करने के लिए **सामान्य इच्छा** के सिद्धान्त का घोर दुरुपयोग किया है। इसका दुरुपयोग फ्रांस के क्रांतिकारियों ने किया जिनकी ओर से यह कहा जाता था कि उनकी इच्छा **सामान्य इच्छा** है। ऐसी अनेक घटनायें, जबकि बहुमत से विभिन्न नैतिक विश्वास रखने वाले व्यक्ति का समाज बलपूर्वक दमन करता है, इस बात का उदाहरण हैं कि इस सिद्धान्त का दुरुपयोग किया जाता है। इन उदाहरणों को देखते हुए हम कह सकते हैं कि 'मनुष्य को स्वतन्त्र करने के लिए विवश करना', ये केवल मधुर शब्द हैं जिनका प्रयोग व्यक्ति को जनसमूह अथवा सब से अधिक

---

* "The interests of the state, in so far as it is directed by the General Will, must be the interests of the individual in so far as he is guided by his real will, that is in so far as he is acting universally, rationally and autonomously." —Cole : *op. ct.*, page XXXVIII.

शक्तिशाली दल के प्रति अन्धभक्ति रखने को प्रेरित करने के लिए किया गया है। व्यक्तिगत तथा वास्तविक हितों का विभेद अयथार्थ, कल्पनात्मक तथा कोरा दार्शनिक है।

इस बात से तो इन्कार नहीं किया जा सकता कि **सामान्य इच्छा** के सिद्धान्त का प्रयोग व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के दमन को उचित सिद्ध करने के लिए प्रायः किया गया है। हमें यह स्वीकार करना ही होगा कि इस सिद्धान्त को बहुमत ने अल्पमत के ऊपर अपनी इच्छा को बलात् थोपने का एक शक्तिशाली यन्त्र बना लिया है। इसका केवल इतना ही उत्तर दिया जा सकता है कि दुरुपयोग इस सिद्धान्त का कोई उचित परिणाम नहीं है। जो लोग इसका दुरुपयोग करते हैं वे यह भूल जाते हैं कि **सामान्य इच्छा** का आधार न्याय तथा नैतिकता है। यदि ऐसा न होता तो **सामान्य इच्छा** में भाग लेने से प्रवृत्ति के स्थान में न्याय की प्रतिष्ठा न हो जाती और व्यक्ति के कार्यों को एक ऐसा नैतिक गुण प्राप्त न होता जो कि उनमें पहिले न था। रूसो का राज्य नैतिक राज्य है— (हमें याद रखना चाहिये कि सामाजिक संविदा से उत्पन्न होने वाले राजनीतिक समाज को रूसो एक नैतिक व्यक्ति कह कर पुकारता है)— उसमें उसके प्रति अधीनता के कारण व्यक्ति को कोई कष्ट होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

इस सब को सुनकर एक आलोचक अधीर होकर यह कह सकता है कि यह सब कुछ तो अमूर्त कल्पना है। रूसो की **सामान्य इच्छा** निस्सन्देह एक अत्यन्त कल्पनात्मक धारणा है; उसकी सम्पूर्ण युक्ति "एक हवाई उड़ान है, वह एक ऐसी तर्कना है जो तथ्यों की पहुँच से परे तथा परिणामों की चिन्ता के ऊपर शून्य में उड़ान भरती है।' इसमें कोई सन्देह नहीं कि **सोशल कॉन्ट्रेक्ट** में एक बड़ी मात्रा में अमूर्त तर्कना है, अनुभवसिद्ध ठोस तथ्यों के ऊपर आधारित सामग्री उसमें बहुत कम है। इतना तो रूसो ने स्वयं ही स्वीकार कर लिया जब कि उसने *Emile* में यह लिखा है कि **सोशल कॉन्ट्रेक्ट** में खड़ा किया हुआ ढाँचा ऐसा है मानो वह मानव प्राणियों के स्थान में लकड़ी का बना हुआ हो 'जिसमें विभिन्न खण्ड अपने स्थान में नाप तोल कर बिल्कुल सुनिश्चित ढंग से लगाये गये हैं।' परन्तु यह कोई दोष नहीं है; यह तो एक गुण है। रूसो वास्तविक राज्यों तथा उनकी साकार समस्याओं का वर्णन करने नहीं बैठा था; उसका ध्येय तो राजनीतिक अधिकार के मूल सिद्धान्तों की समीक्षा करना था। इन सिद्धान्तों को हम अमूर्त अथवा निगमनात्मक तर्कना की प्रक्रिया द्वारा मनुष्य के अन्तःस्वभाव से निकाल सकते हैं; और फिर उन्हें तथ्यों के ऊपर लागू किया जा सकता है। आदर्श की खोज करने वालों के लिए तथ्यों का अनन्त संग्रह निरर्थक है; तथ्यों में वह सिद्धान्त नहीं होता जिसके प्रकाश में ही उनका मूल्यांकन किया जा सकता है। इसलिये यह बात भी कि रूसो की तर्कना हवाई एवं अमूर्त है उसके सिद्धान्त में कोई दोष या दुर्बलता नहीं है। अफलातून तथा हीगल सरीखे उन सभी मनीषियों, जो कि आदर्श की रचना करना चाहते हैं, की तर्कना का अमूर्त होना अवश्यम्भावी है।

रूसो के **सामान्य इच्छा** के सिद्धान्त का वास्तविक दोष यह है कि उसका व्यावहारिक मूल्य बहुत सीमित है। इसकी सिद्धि की जिस शर्त पर रूसो ने सबसे अधिक ज़ोर दिया है वह है प्रभुसत्ता के प्राधिकार के प्रयोग में प्रत्येक नागरिक का सक्रिय भाग लेना; और यह शर्त प्राचीन यूनान के नगर-राज्य अथवा प्राचीन भारत के ग्रामीण समाज सरीखे छोटे छोटे समूहों में ही पूरी हो सकती है। आज के राष्ट्र-राज्यों में जहाँ कि प्रभुतासम्पन्न सभाओं का स्थान प्रतिनिधि धारासभाओं ने ले लिया है, इस शर्त का निर्वाह नहीं हो सकता। रूसो की धारणा थी कि प्रतिनिधि सरकार यदि **सामान्य इच्छा** की प्राप्ति कर भी ले तो वह प्रतिनिधि सरकार की **सामान्य इच्छा** होगी, सम्पूर्ण समाज की नहीं। प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त का रूसो द्वारा तिरस्कार आज बीसवीं शताब्दी में कितना विलक्षण दिखाई देता है; अन्तिम रूप से तो इसका अर्थ स्वयं लोकतन्त्र का ही तिरस्कार करना है। जैसा कि आगे चल कर दिखाया जायेगा, रूसो ने लोकतन्त्र को अवास्तविक कह कर उसका खण्डन किया है।

रूसो का यह आग्रह भी कि चर्च, ट्रेड यूनियन, राजनीतिक दल सरीखे समुदाय समाज की **सामान्य इच्छा** के निर्माण में एक गम्भीर बाधा डालते हैं, आधुनिक काल में जब कि समाज के जीवन में स्वेच्छापूर्ण समुदाय एक महत्त्वपूर्ण भाग लेते हैं, इस सिद्धांत के मल्य को और भी कम कर देता है।

इसी से सम्बन्धित यह तथ्य भी है कि **सामान्य इच्छा** का सिद्धांत सरकार के महत्त्व को बहुत कम करता है। क्योंकि प्रतिनिधि सरकार एकदम त्याज्य ठहराई गई है और संप्रभुता की स्वामिनी जनता है, तो कार्यपालिका तो जनता की इच्छा का पालन करने वाली एक अभिकर्ता मात्र रह जाती है जिसका दरजा केवल एक समिति का है जिसे कुछ समय के लिये कुछ शक्तियाँ दे दी जाती हैं और देने वाले स्वामी की इच्छा पर उनमें परिवर्तन किया जा सकता है तथा उन्हें वापिस लिया जा सकता है। हॉब्स तथा लॉक के दर्शन में सरकार को इससे कहीं अधिक महत्त्व दिया गया था।

अन्त में हम रूसो के राजनीतिक विचार में पाये जाने वाले विभ्रम तथा असंगति के वास्तविक कारण का उल्लेख करेंगे। उसकी यह धारणा ठीक ही थी कि शक्ति या रक्त सम्बन्ध जैसी कोई भी चीज़ मनुष्य को समाज में गुंथित करने वाला धागा नहीं हो सकती और उसमें नैतिक कर्त्तव्यपरायणता की भावना को उत्पन्न नहीं कर सकती जिसके बिना राजनीतिक समाज कायम नहीं रह सकता। सदस्यों की स्वतन्त्र अनुमति को ही वह राजनीतिक संघटन का एकमात्र सच्चा आधार समझता था। अपने समय में प्रचलित विश्वास के अनुसार ही रूसो ने भी राज्य का जन्म सामाजिक संविदा में देखा। परन्तु, जैसा कि हम पहिले ही कह चुके हैं, ज्यों ज्यों उसके विचार का विकास हुआ उसने संविदा सिद्धान्त का परित्याग कर दिया और उसके स्थान में **सामान्य इच्छा** के सिद्धान्त को अपना लिया। परन्तु उसने संविदा सिद्धान्त की भाषा को नहीं छोड़ा।

यद्यपि उसने उस प्राकृतिक अवस्था का कोई विशेष वर्णन नहीं किया जिसमें कि मनुष्य का राज्य से पहिले रहना माना जाता है, और न ही उसने उस उद्देश्य की समीक्षा करने का प्रयत्न किया जिसने कि मनुष्य को प्राग्राजनीतिक अवस्था को त्यागने तथा राज्य का निर्माण करने के लिये प्रेरित किया, तथापि वह एक ऐसे समुदाय की बात करता रहा 'जिसमें प्रत्येक व्यक्ति शेष सब के साथ संघटित होकर भी अपने अन्तःकरण का ही अनुसरण कर सकता है और उतना ही स्वतन्त्र रह सकता है जितना कि वह पहिले था'। इस विचार का सामंजस्य राज्य के उस सावयव सिद्धान्त से नहीं किया जा सकता जो कि उसके **सामान्य इच्छा** के सिद्धांत का आधार-विन्दु है। संविदा सिद्धान्त में सन्निहित व्यक्तिवादी मान्यताओं का यदि वह पूर्ण रूप से परित्याग कर देता तो वह यह सिद्ध करने का प्रयत्न न करता कि समाज में व्यक्ति के साथ कोई दमन नहीं किया जाता। 'व्यक्ति को स्वतन्त्र करने के लिये विवश करने' की बात कहना तथा यह समझना कि राज्य की आज्ञापालन करके व्यक्ति स्वयं अपनी अन्तरात्मा के आदेश का ही पालन करता है रूसो के सिद्धान्त में विरोधाभासी बातें हैं और इनका कारण यह है कि उसकी विचार-धारा में दो ऐसी धारायें साथ साथ चलती हैं जिनका एक दूसरे से सामंजस्य नहीं हो सकता। एक ओर तो वह संविदा की धारणा को अपनाता है और दूसरी ओर राज्य को एक नैतिक व्यक्ति समझता है जिसका अपना जीवन, व्यक्तित्व तथा इच्छा है। इन दोनों में जो असंगति है उसका वर्णन प्रोफेसर वेपर ने निम्नलिखित शब्दों में किया है: "इस प्रश्न के कि, राज्य का क्या स्वरूप है और मैं उसकी आज्ञा का पालन क्यों करता हूँ, उसके (रूसो के) लेखों से दो उत्तर हमें मिलते हैं। प्रथम, यह कि राज्य एक सामूहिक व्यक्ति है, और मैं उसकी आज्ञा का पालन इसलिये करता हूँ क्योंकि ऐसा करने में ही मैं सच्ची स्वतन्त्रता अनुभव करता हूँ। दूसरा, यह कि राज्य एक समुदाय है या एक यंत्र है जिसे मनुष्य ने अपने निजी हित की सिद्धि के लिए बनाया है और मैं उसकी आज्ञा का पालन उस हित की सिद्धि के लिए करता हूँ। पहिला उत्तर **सामान्य इच्छा** के अनुरूप है और उसमें राज्य की प्रकृति का सावयव सिद्धान्त प्रतिबिम्बित होता है; दूसरा उसके सामाजिक संविदा के प्रयोग को लक्षित करता है और उसमें राज्य की प्रकृति का यान्त्रिक दृष्टिकोण झलकता है। रूसो दोनों को ही मानने का प्रयास करता है। यही कारण है कि उसके सिद्धान्त की इतनी और परस्पर-विरोधी व्याख्यायें सम्भव हो सकती हैं।"* निस्सन्देह इन दो धारणाओं में कोई सामंजस्य स्थापित नहीं किया जा

* "From his writings, in short, two answers to the questions, what is the nature of the State and why do I obey it ?, emerge. The first is that the State is a collective person, and that I obey it because only in so doing I am really free. The second is that the State is an association entered into by man, or even a mechanism built by man for his own purposes, and that I obey it to achieve those purposes

सकता। रूसो का समन्वय कौशल भी असम्भव को सम्भव नहीं बना सकता था। अन्त में सावयव सिद्धान्त को ही वह स्वीकार करता है, यद्यपि दूसरे विचार के अवशेष भी उसमें बने रहते हैं।

सरकार की आवश्यकता, तथा उसके स्वरूप— सोशल कॉन्ट्रेक्ट के प्रथम दो प्रकरणों में राजनीतिक संघटन को विशुद्ध बुद्धि के ऊपर आधारित सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के पश्चात् रूसो अपने महान् ग्रन्थ के शेष दो प्रकरणों में उतने ही महत्त्वपूर्ण इस विषय की समीक्षा करता है कि उन सिद्धान्तों को समय तथा स्थान की आवश्यकताओं के अनुकूल व्यवहार में किस प्रकार क्रियान्वित किया जाये। इस सम्बन्ध में पहली बात वह यह कहता है कि संप्रभुतासम्पन्न जनता की सार्वजनिक प्रशासन की विशिष्ट क्रियाओं तथा विशिष्ट स्थितियों में हाथ नहीं लगाना चाहिये। बुद्धि की माँग यह है कि **सामान्य इच्छा** का सम्बन्ध केवल आधारभूत कानून से ही है और उस कानून का स्वभाव ही ऐसा है कि उसकी परिधि में केवल सामान्य हित के विषय आते हैं; क्रिया विशेष उसके अधिकार क्षेत्र से बाहर हैं। विशेष क्रियाओं से वर्तने के लिए एक विभिन्न यन्त्र की आवश्यकता है। उसे साधारणतया सरकार कहते हैं; रूसो उसे न्याय-रक्षक मंडल (Magistracy) अथवा राजा (Prince) कहकर पुकारता है। उसका कार्य **सामान्य इच्छा** द्वारा बनाये हुए कानूनों को लागू करना है। रूसो द्वारा दी गई परिभाषा के अनुसार यह राजा तथा प्रजाजन के मध्य एक निकाय है जिसकी स्थापना उनमें स्वाभाविक अनुरूपता स्थापित करने, कानूनों को लागू करने तथा नागरिक एवं राजनीतिक दोनों प्रकार की स्वतन्त्रता कायम रखने के लिये हुई है। इस निकाय के घटकों को न्याय-रक्षक, राजा अथवा शासक कहते हैं। परन्तु उनका नाम, उनकी संख्या और उनकी नियुक्ति की पद्धति चाहे कुछ भी क्यों न हो वे हैं संप्रभुता-सम्पन्न जनता के नौकर अथवा अभिकर्ता मात्र ही; वे केवल उसी शक्ति का प्रयोग कर सकते हैं जो कि उन्हें जनता ने दी हुई है। जनता अपनी इच्छानुसार उसे सीमित अथवा संशोधित कर सकती है और उसे वापिस भी ले सकती है। इस प्रकार जनता तथा सरकार अथवा कार्यपालिका के सम्बन्ध का आधार संविदा नहीं हो सकता जैसा कि हॉब्स तथा कुछ अन्य लेखक मानते हैं। सरकार की सृष्टि किसी संविदा द्वारा नहीं, बल्कि संप्रभुता-सम्पन्न जनता के प्रत्यादेश द्वारा होती है। इसका अर्थ है राजा अथवा सरकार का जनता के प्रति अधीन होना। यह वही स्थिति है जो कि पहिली दो शताब्दियों के राजतंत्र-विरोधियों ने अपनाई थी।

---

and only in so far as I persuade myself that I am achieving them. The first answer corresponding to the doctrine of General Will reflects an organic view of the State; the second, corresponding to his use of the Social Contract, reflects a mechanistic view. Rousseau tries to hold both, which is why so many conflicting interpretations of his work are possible." —Wayper : *Political Thought*, pages 150-51.

सरकार का रूप देश काल के अनुसार बदलता रहता है; वह इस बात के ऊपर निर्भर करता है कि सरकार की बागडोर एक व्यक्ति के हाथ में है, या कुछ व्यक्तियों के या समस्त जनता अथवा उसके बहुमत के हाथ में है। शासन की सर्वोच्च शक्ति यदि एक व्यक्ति के हाथ में है तो उसे राजतंत्र, कुछ व्यक्तियों के हाथ में है तो उसे कुलीनतन्त्र और समस्त जनता अथवा उसके बहुमत के हाथ में है तो उसे लोकतन्त्र कहते हैं। परन्तु सरकार के इन तीन प्रकारों की रूपरेखा बदलती रहती है; ये पूर्णतया निश्चित नहीं हैं। एक लोकतन्त्र में शासन शक्ति समाज की अपेक्षाकृत अधिकांश अथवा अल्पांश में हो सकती है; और इसी प्रकार कुलीनतन्त्र में शासनशक्ति वहन करने वालों की संख्या अधिक या थोड़ी हो सकती है। एक राजतंत्र में भी दो या अधिक राजा हो सकते हैं; स्पार्टा में दो राजा थे।

जहाँ तक इस प्रश्न का सम्बन्ध है कि सरकार के उपरोक्त तीन रूपों में से सर्वोत्तम कौन सा है रूसो यह उत्तर देता है कि सैद्धांतिक रूप से यह कह सकना असम्भव है कि कौन सा रूप सर्वोत्तम है। विशुद्ध बुद्धि जिस रूप को सर्वोत्तम समझती है यह आवश्यक नहीं कि वह प्रत्येक समाज के लिए और प्रत्येक परिस्थिति के लिए अनुकूल हो। परिस्थितियों के अनुसार कोई भी रूप श्रेष्ठतम अथवा निकृष्टतम हो सकता है। रूसो तो केवल इतना ही कहता है कि केवल कुछ ऐसे सिद्धान्त निर्धारित किये जा सकते हैं जिनकी कसौटी पर कसने पर हम यह कह सकते हैं कि अमुक समाज के लिये अमुक प्रकार की शासनपद्धति सर्वोत्तम रहेगी। किन्तु यह कार्य बड़ा दुष्कर है।

लोकतंत्र के विषय में रूसो कहता है कि ऐसा सच्चा लोकतंत्र न तो कभी रहा है और न कभी हो सकता है जिसमें कि समस्त नागरिक या उनका एक बड़ा बहुमत कानूनों के क्रियान्वित करने में भाग लेते हों। सार्वजनिक कार्य करने के लिए निरन्तर एकत्रित रहना जनता के लिए असम्भव है। उनको विवश होकर यह कार्य किसी सीमिति को सौंपना पड़ता है; इसके अतिरिक्त उनके लिए और कोई चारा नहीं है। परन्तु जिस समय भी जनता ऐसा करती है तभी एक भिन्न प्रकार की सरकार बन जाती है। कुलीन-तंत्र के वह तीन भेद करता है: स्वाभाविक, वंशानुगत तथा निर्वाचनात्मक। अन्तिम को वह पहिले दो प्रकार से अच्छा समझता है। स्वाभाविक कुलीनतन्त्र केवल प्रारम्भिक जातियों के लिये अनुकूल रहता है। वंशानुगत कुलीनतंत्र को वह सरकार का निकृष्टतम रूप समझता है। वह कुलीनतंत्र तथा राजतंत्र के गुण दोषों की विवेचना करता है और अन्त में निर्वाचनात्मक कुलीनतन्त्र को तरजीह देता है। वह इस प्रकार की सरकार को 'सर्वोत्तम तथा सब से अधिक स्वाभाविक व्यवस्था' कह कर पुकारता है क्योंकि इसके अन्तर्गत सब से बुद्धिमान व्यक्ति सर्व साधारण पर शासन करते हैं। हाँ, इतना अवश्य ध्यान रखना होगा कि जनता केवल सर्वबुद्धिमान को ही चुने और इस प्रकार

निर्वाचित बुद्धिमान व्यक्ति समाज-हित के लिए ही शासन करें, अपने निजी स्वार्थों की पूर्ति के लिए नहीं। न्याय-रक्षकों की संख्या में व्यर्थ वृद्धि करने की कोई आवश्यकता नहीं। जिस कार्य को सावधानी से चुने हुए सौ व्यक्ति अधिक अच्छी तरह कर सकते हैं उसी कार्य को करने के लिए बीस हज़ार व्यक्तियों को लगाना सर्वथा अनावश्यक है।

रूसो का यह भी विश्वास है कि सरकार की स्वाभाविक प्रवृत्ति जनता की संप्रभुता में हस्तक्षेप करने और अन्त में उसे कुचल देने की रहती है। राज्य की यह प्रवृत्ति उतनी ही स्वाभाविक है जितनी कि वृद्धावस्था तथा मृत्यु मानव शरीर के लिए है। समस्त मानव कृतियों के सदृश राज्य का विनाश भी अवश्यम्भावी है; हम उसे केवल अधिक दीर्घजीवी बनाने की तो आशा कर सकते हैं, किन्तु उसे अमर हम नहीं बना सकते। अपने ग्रन्थ के तृतीय प्रकरण के तीन अध्यायों में वह इसी विषय की विवेचना करता है कि जनता अपनी संप्रभुता को किस प्रकार अक्षुण्ण रख सकती है। तफ़सील में जाना आवश्यक नहीं है। राज्य के ह्रास को रोकने तथा जनता की स्वतंत्रता, समानता तथा संप्रभुता को अधिक से अधिक समय तक अक्षुण्ण रखने के लिए रूसो ने जो सुझाव दिया है, केवल उसी का हम यहाँ पर उल्लेख करेंगे। वह यह है कि संप्रभुतासम्पन्न जनता को सामाजिक संविदा को कायम रखने के लिए समय समय पर एकत्रित होते रहना चाहिये। ये सभायें स्वतः अर्थात् सरकार के बिना बुलाये हुए होनी चाहियें और उनका कार्य सरकार से बिल्कुल स्वतन्त्र होना चाहिये। इस प्रकार से एकत्रित जनता के सामने दो प्रश्न रखे जाने चाहियें: प्रथम, क्या संप्रभु वर्तमान सरकार के वर्तमान रूप को कायम रखना चाहता है? तथा दूसरा, क्या संप्रभु शासन शक्ति को उन्हीं हाथों में छोड़ना चाहता है जिनमें कि वह इस समय है? जब तक कि जनता नियमित रूप से और थोड़े थोड़े समय के पश्चात् इन दो प्रश्नों के ऊपर अपना स्वतन्त्र निर्णय देती रहेगी तब तक संप्रभुता की शक्तियों का अपहरण करने की कार्यपालिका की प्रवृत्ति नियन्त्रित रहेगी और जनता की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रहेगी। यह बात दिलचस्पी से खाली नहीं है कि इन सुझावों में रूसो ने १९वीं शताब्दी के दो सुपरिचित लोकतन्त्रीय संस्थानों की पूर्व सूचना दी है। ये संस्थान हैं: संविधान में संशोधन के प्रश्न पर समय समय होने वाला जनमत, तथा सरकार के प्रधान का अवधिगत निर्वाचन। निस्सन्देह इन दो संस्थानों की भावना रूसो के सुझावों की भावना के अनुरूप है।

सोशल कॉन्ट्रेक्ट के शेष भाग को, जिसमें मताधिकार, निर्वाचन, तानाशाही, तथा नागरिक धर्म इत्यादि विषयों की विवेचना की गई है, हम छोड़ देते हैं।

इस विवेचना का ग्रन्थ के प्रथम प्रकरण में किये गये राज्य के निरूपण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। रूसो की राज्य सम्बन्धी धारणा का सर्वोत्तम सारांश प्रोफेसर अर्नेस्ट हण्टर राइट के निम्नलिखित शब्दों में दिया हुआ है: "A society of free consent, and not of force; a union of each

with all on equal terms for common good; a sovereignty vested in all and voiced by the general will for the maintenance of liberty in law; this is the heart of the Social Contract. All ...... else is contingent, variable, precautionary. So much is the absolute necessity for the right state; or since it is derived in reason from the very nature of our species, for the natural society." Wright : *Meaning of Rousseau*, page 90.

राजनीतिक विचार के इतिहास में रूसो का क्या स्थान है ? इस प्रश्न का उत्तर देने से पहिले रूसो की हॉब्स तथा लॉक से तुलना करना अनावश्यक न होगा।

रूसो की हॉब्स तथा लॉक के साथ तुलना— यद्यपि रूसो राज्य का आधार संविदा की अपेक्षा **सामान्य इच्छा** को अधिक समझता है तथापि संविदा सिद्धान्त के विषय में उसके विचारों की हॉब्स तथा लॉक की संविदा विषयक विचारों से तुलना शिक्षाप्रद होगी।

सब से पहिला बड़ा अन्तर जो हम देखते हैं वह यह कि **सोशल कॉन्ट्रेक्ट** में हमें इस बात का कोई विस्तृत विवरण नहीं मिलता कि प्राकृतिक अवस्था कैसी थी और कौन से उद्देश्यों से मनुष्य राज्य की स्थापना करने के लिये उत्प्रेरित हुए। इसके विपरीत हॉब्स तथा लॉक ने इस विषय पर विस्तारपूर्वक लिखा है। इसी के साथ साथ रूसो के लेखों में प्राकृतिक कानून तथा प्राकृतिक अधिकारों का, जिनका कि हॉब्स तथा लॉक की विचार-प्रणालियों में इतना महत्त्वपूर्ण स्थान है, पूर्ण अभाव है। इन दोनों बातों का अभाव महत्त्वपूर्ण है; यह इस बात का सूचक है कि रूसो के मस्तिष्क में संविदा सिद्धान्त का स्थान केवल गौण है।

जहाँ तक कि संविदा की शर्तों का सम्बन्ध है, रूसो हॉब्स के सदृश परन्तु लॉक के विपरीत व्यक्ति द्वारा अपनी समस्त शक्तियों के समर्पण की कल्पना करता है। परन्तु रूसो तथा हॉब्स में एक स्पष्ट अन्तर है। हॉब्स के मतानुसार व्यक्ति अपनी शक्तियों का समर्पण एक व्यक्ति-विशेष अथवा व्यक्ति-समूह को करता है जोकि संविदा में कोई पक्षकार नहीं है, बल्कि उससे बाहर है; किन्तु रूसो के अनुसार व्यक्ति अपने आपको सम्पूर्ण समाज को समर्पित करता है। इन दोनों धारणाओं में आकाश पाताल का अन्तर है। रूसो कह सकता है कि क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको समष्टि के प्रति समर्पित करता है, किसी विशेष व्यक्ति को नहीं, और इस प्रकार जो कुछ वह देता है वह उसे संप्रभुता-सम्पन्न समाज का घटक होने के नाते पुनः प्राप्त हो जाता है, इसलिये राज्य में भी वह उतना ही स्वतन्त्र रहता है जितना कि वह प्राकृतिक अवस्था में था। इस लेन देन में किसी को कोई हानि नहीं होती। हॉब्स में यह समर्पण एक बाहर के व्यक्ति को होता है जो प्रजाजन का स्वामी बन जाता है और जो उनके समक्ष किसी भी प्रकार से उत्तरदायी

नहीं होता। रूसो के सदृश हॉब्स यह दावा नहीं कर सकता कि संविदा करने के उपरांत भी व्यक्ति उतना ही स्वतंत्र रह जाता है जितना कि वह पहिले था। लॉक के अनुसार यह समर्पण केवल आंशिक होता है; केवल प्राकृतिक कानून की व्याख्या करने तथा उसे लागू करने का अधिकार ही समाज को समर्पित किया जाता है; अन्य समस्त प्राकृतिक अधिकार व्यक्ति के पास अक्षुण्ण रहते हैं। इसका अर्थ यह है कि हॉब्स तथा रूसो, दोनों के अनुसार (निस्सन्देह दोनों में आधारभूत अन्तर तो है ही) राज्य निरंकुश अर्थात् एक नश्वर-देव (Leviathan) बन जाता है; किन्तु लॉक के अनुसार राज्य का अधिकार केवल सीमित रहता है। तीनों विचारकों के इस अन्तर को निम्नलिखित शब्दों में अभिव्यक्त किया जा सकता है: हॉब्स के अनुसार संविदा के फलस्वरूप जिस इच्छा का उदय होता है वह वास्तविक होती है क्योंकि वह एक व्यक्ति की इच्छा होती है, परन्तु इसी कारण वह सामान्य नहीं हो सकती; लॉक में उस इच्छा को सामान्य तो कहा जा सकता है क्योंकि वह बहुमत की इच्छा है, परन्तु वह वास्तविक नहीं होती क्योंकि वह एकात्मक नहीं होती; रूसो में वह वास्तविक तथा सामान्य दोनों है। वह वास्तविक इसलिये है क्योंकि वह समाज जिसकी इच्छा वह होती है, एक नैतिक तथा सामूहिक व्यक्ति होता है और इसी लिए एकात्मक है; वह सामान्य है क्योंकि वह समस्त नागरिकों की एक सामूहिक इच्छा है।

इस प्रकार रूसो का **नश्वर-देव** एक सम्पूर्ण समाज है, जब कि हॉब्स का केवल एक व्यक्ति (यदि वह थोड़े से व्यक्तियों का समूह है तब भी कोई अन्तर नहीं पड़ता)। दोनों में इस महत्त्वपूर्ण अन्तर के अतिरिक्त इतना ही महत्त्वपूर्ण एक अन्तर और भी है। वह यह है कि हॉब्स के नश्वर-देव का व्यवस्थापिक तथा कार्यपालिक दोनों शक्तियों के ऊपर अधिकार है और इसलिए वह निरंकुश है और प्रजाजन दास, किन्तु रूसो का संप्रभुता-सम्पन्न समाज केवल व्यवस्थापिक शक्तियों का प्रयोग करता है; कार्यपालिक शक्तियों को वह सरकार को सौंप देता है जो कि उसका अभिकर्ता अथवा नौकर है। इस प्रकार से रूसो व्यक्ति की स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखना चाहता है। दूसरे शब्दों में, रूसो में संप्रभुता-सम्पन्न राज्य तथा सरकार में भेद है; जब कि हॉब्स में वे दोनों तद्रूप हैं।

इससे इन दोनों में एक दूसरा अन्तर उत्पन्न होता है। जिस सामाजिक संविदा के द्वारा राज्य का जन्म होता है वह रूसो के मतानुसार विशुद्ध रूप से सामाजिक है। हॉब्स में यह संविदा सामाजिक तथा राजकीय दोनों हैं; यह सामाजिक है क्योंकि यह व्यक्तियों के बीच में होता है, और यह राजकीय इसलिये है क्योंकि शासक की शक्तियाँ इसी से निःसृत होती हैं; जनता उनमें कोई संशोधन नहीं कर सकती अथवा उन्हें वापिस नहीं ले सकती।

लॉक के मतानुसार सरकार को ट्रस्ट कह कर पुकारा गया है; उसकी शक्तियाँ

धरोहर के रूप में (Fiduciary) हैं, संविदात्मक नहीं। यहाँ तक तो लॉक तथा रूसो में कुछ साम्य है। परन्तु जब कि रूसो संप्रभुता-सम्पन्न जनता को अपनी व्यवस्थापिक शक्तियों को किसी प्रतिनिधि निकाय के पक्ष में हस्तान्तरित करने का निषेध करता है, लॉक के विचार में व्यवस्थापिक शक्तियों का प्रयोग साधारणतया जनता के प्रतिनिधियों द्वारा ही होना चाहिये। सारांश यह कि जब कि रूसो संसदात्मक संस्थानों का बहिष्कार करता है और प्रत्यक्ष जनतन्त्र का समर्थन करता है जिसमें न प्रतिनिधि हों न दल, लॉक संसदात्मक संस्थानों का घोर समर्थक था।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि संविदा सिद्धान्त की कुछ विशेषतायें रूसो हॉब्स से और कुछ लॉक से ग्रहण करता है और उनका सम्मिश्रण करके एक नवीन सम्पूर्ण तैयार करता है। उसकी संप्रभुता की परिभाषा में हॉब्स जैसी पूर्णता तथा सुनिश्चितता है किन्तु उसे वह रखता है जनता में जिससे निस्सन्देह लॉक प्रसन्न होता।

रूसो का मूल्यांकन तथा उसका प्रभाव— रूसो के मूल्यांकन के विषय में आलोचकों में घोर मतभेद पाया जाता है। उसके बहुत से समकालीनों ने उसके समझने तथा उसका मूल्यांकन करने में भारी भूल की है। **सोशल कॉन्ट्रेक्ट** की जो भर्त्सना वाल्टेयर ने की उसका उल्लेख तो हम पहिले ही कर चुके हैं। रूसो को वह कहाँ तक समझ पाया या नहीं समझ पाया उसके इस व्यंग्य-वाक्य से स्पष्ट हो जाता है कि **सोशल कॉन्ट्रेक्ट** को पढ़ कर उसे हाथों और पैरों के बल चलने की हुमुक होती थी। एक फ्रांसीसी लेखक जूलस लेमीटर के अनुसार यह पुस्तक भयावह तथा अपमानपूर्ण, साधारण तथा ख्यातिहीन है; इसमें परस्पर विरोधी बातें भरी पड़ी हैं और इसमें असाधारण संगतिहीनता पाई जाती है। राजनीतिक अधिकार के सिद्धान्तों का निरूपण करने में रूसो ने जिस पद्धति का प्रयोग किया है उसकी बर्क तथा मॉर्ले ने घोर भर्त्सना की है। यह हम पहिले ही देख चुके हैं कि रूसो पर एक भावुकतावादी होने का आरोप लगाया जाता था। परन्तु ज्यों ज्यों समय बीतता गया रूसो की शिक्षाओं का महत्त्व प्रगट होता गया। प्रोफेसर डनिंग ने बड़े दबे शब्दों में रूसो की प्रशंसा यह कह कर की है कि उसका दर्शन निश्चयमूलक इतना नहीं जितना कि व्यंजनात्मक, और उसकी 'कल्पनाओं, मिथ्या उक्तियों तथा वाग्वीरता' ने जनता को 'मॉण्टेस्क्यू की संतुलित तर्कना तथा गम्भीर पर्यवेक्षण' की अपेक्षा अधिक प्रभावित किया है। प्रोफेसर कोल ने तो यहाँ तक कह डाला कि **सोशल कॉन्ट्रेक्ट** 'राजनीतिक दर्शन के ऊपर एक महानतम ग्रन्थ' है और वह 'सत्य से भरी हुई स्थायी मूल्य की एक कृति' है। राजनीतिक विचार के ऊपर रूसो के प्रभाव के विषय में कोल का कहना है कि यह कहना भूल है कि वह मृतप्राय है; इसके विपरीत वह दिन-प्रति-दिन बढ़ता जा रहा है; 'जैसे ही नवीन संततियाँ तथा मनुष्यों के नये वर्ग उसकी कृति का अध्ययन करने लगेंगे, उसकी धारणायें जो प्रायः धूमिल और अविकसित हैं, परन्तु जिनका मूल्य स्थायी है, निश्चित

रूप से ही एक ऐसे नवीन राजनीतिक दर्शन का आधार बनेंगी जिसमें उन सब को ग्रहण किया जायेगा तथा रूपान्तरित किया जायेगा।' अन्य विचारकों की अपेक्षा कोल का निर्णय सत्य से कहीं अधिक निकट दिखलाई पड़ता है। निस्सन्देह रूसो की यह धारणा एकदम सही है कि सामाजिक तथा राजनीतिक अधिकार के सिद्धान्तों की मीमांसा करने के लिए तथ्यों के पर्यवेक्षण पर निर्भर करना आवश्यक नहीं; और जो राजनीतिक दार्शनिक आदर्श की खोज करना चाहता है उसकी पद्धति विशुद्ध तर्कना की पद्धति होती है, ऐतिहासिक नहीं। ऐसा समय कभी नहीं आ सकता जब कि तथ्य संग्रह के सामने उन सिद्धान्तों की कोई आवश्यकता न रहे जिनके प्रकाश में तथ्यों का मूल्यांकन किया जाता है। हम यह भी कह सकते हैं कि रूसो का **सामान्य इच्छा** का सिद्धान्त कितना भी अस्पष्ट क्यों न हो, और एक स्थिति विशेष में सामान्य इच्छा का पता लगाना कितना ही कठिन क्यों न हो, और यद्यपि हो सकता है कि व्यक्ति की यथार्थ अथवा व्यक्तिगत इच्छा तथा सामान्य इच्छा में एक सन्तोषजनक सम्बन्ध स्थापित करना कोई सरल कार्य न हो, तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि जो चीज़ समाज को सम्भव बनाती है वह सामान्य इच्छा ही है जिसे हम सामान्य उद्देश्यों की सामान्य चेतना भी कह सकते हैं। इस प्रकार **सामान्य इच्छा** के सिद्धान्त में एक ऐसा तत्त्व निहित है जिसका मूल्य अमर है। यही बात कानून तथा स्वतन्त्रता के संघटन के विषय में कही जा सकती है जो कि रूसो के राजनीतिक विचार का एक आधारभूत तत्त्व है।

एक विचारक के रूप में रूसो का क्या स्थान है? इस प्रश्न के उत्तर के बारे में तो यद्यपि गम्भीर मतभेद है तथापि उसकी समकालीन और आने वाली घटनाओं पर उसका जो प्रभाव पड़ा है उसके विषय में कोई मतभेद नहीं। उसके ग्रन्थ फ्रांस की क्रान्ति की पाठ्य-पुस्तकें बन गये। उस क्रान्ति को उसने न केवल उसका अधिकांश दर्शन दिया, बल्कि उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण उसने उसे 'भावनाओं को गुदगुदाने वाले गुञ्जारमय वाक्य' दिये। उसकी कृतियों के उद्धरण उत्तेजित जनसमूहों के सामने पढ़ कर सुनाये गये; कोई भी क्रान्तिकारी व्याख्यानदाता उसके नाम को अपील किये बिना और उसके उद्धरण दिये बिना कोई भाषण नहीं कर सकता था। उसके सिद्धान्तों ने क्रान्तिकारियों की कल्पना को उसी प्रकार प्रज्वलित किया जिस प्रकार कि बाइबिल ने सुधार युग में जन-कल्पना को उत्तेजित किया था और जिस प्रकार कि **कैपटिल** ने बीसवीं शताब्दी में रूस के क्रान्तिकारियों को विमोहित किया। "घोर दुविधा तथा असंतोष के काल में रूसो ने यूरोप के सामने एक पुराने जर्जरित ढाँचे को नष्ट कर देने का औचित्य पेश किया और विनाश के पश्चात् प्राप्त करने के लिए एक आदर्श उसके सामने रखा।"*

* "Rousseau offered to Europe at a moment of deep perplexity and discontent a justification to break from the old worn out system, and an ideal to be fought for after the work of demolition was over."
—Doyle: *History of Political Thought*, page 218.

राजनीतिक विचार के ऊपर भी उसका प्रभाव कुछ कम नहीं हुआ। अरस्तु द्वारा उद्भासित इस महान् सत्य की कि मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है जो कि अपने स्वरूप की प्राप्ति राज्य में ही कर सकता है प्रतिघोषणा करने वाला रूसो प्रथम आधुनिक विचारक था। राज्य के स्वरूप सम्बन्धी धारणा के ऊपर इसका अत्यन्त गहरा प्रभाव पड़ा। अब यह मानना सम्भव नहीं रह गया कि राज्य मनुष्य के आदि पाप का एक दैविक दण्ड है जैसा कि मध्यकालीनवादियों ने बताया था, अथवा यह कि राज्य को मनुष्य ने मानव स्वभाव की अहंकारपूर्ण तथा आक्रमणकारी प्रवृत्तियों को संयत रखने के लिये बनाया है जैसा कि मैकियावेली तथा हॉब्स का विश्वास था। रूसो से एक नवीन परम्परा का सूत्रपात होता है जिसके अनुसार राज्य धर्ममय जीवन व्यतीत करने की आवश्यक शर्त तथा मानव की नैतिक प्रगति का मुख्य साधन है। इस प्रकार स्पष्ट है कि रूसो मध्यकाल के परम्परावादी सिद्धान्त से राज्य के आधुनिक दर्शन का आवर्त्तन करता है। कान्ट के नैतिक दर्शन तथा हीगल के सद् विषयक दर्शन पर उसका प्रभाव आधुनिक विचार को एक ही मूल देन के दो पक्ष हैं। वास्तव में वह अंग्रेज़ी तथा जर्मन आदर्शवाद का महान पूर्वसूचक है। राजनीतिक दर्शन के ऊपर **सोशल कॉन्ट्रेक्ट** को एक महानतम ग्रंथ समझने का एक कारण यह भी है।

राजनीतिक विचार को रूसो की कुछ अन्य देन भी उल्लेखनीय हैं जो कि राजनीतिक दर्शन के इतिहास में रूसो को एक उत्कृष्ट स्थान प्रदान करती हैं। रूसो की इस उपरोक्त धारणा से कि राज्य एक नैतिक प्राणी है जिसकी सदस्यता मानव के नैतिक विकास के लिए अपरिहार्य है, सम्बन्धित ही उसका यह सिद्धान्त है कि राज्य समाज की **सामान्य इच्छा** का मूर्त रूप है और **सामान्य इच्छा** ही सर्वप्रभुत्वपूर्ण सत्ता है। **सामान्य इच्छा** की समीक्षा करते समय हमने कहा था कि राजनीतिक विचार को रूसो की यह सब से अधिक मौलिक एवं सारगर्भित देन है। यहाँ इससे अधिक कुछ कहना आवश्यक नहीं। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आगे चलकर सामान्य हित तथा **सामान्य इच्छा** की धारणाओं को अधिक निश्चित बनाया गया और उन्हें राज्य के सिद्धान्तों की मूल विशेषतायें माना जाने लगा। रूसो की धारणाओं के लिये इंग्लैंड की भूमि बड़ी उर्वरा सिद्ध हुई। वहाँ ग्रीन तथा बोसान्के ने उनके आधार के ऊपर यह सिद्धांत खड़ा किया कि राज्य का आधार इच्छा है, शक्ति नहीं।

संप्रभुता के सिद्धान्त के विकास में रूसो का प्रमुख स्थान है। संप्रभुता को सामान्य इच्छा में स्थापित करके उसने आधुनिक काल में लोकप्रिय संप्रभुता के सिद्धान्त का शिलान्यास किया। स्मरण रहे कि जिन महान् विचारकों, बोदाँ तथा हॉब्स, ने संप्रभुता के सिद्धान्त में योग दिया है उनमें से किसी ने भी इसका प्रयोग व्यक्ति की स्वतंत्रता का समर्थन करने के लिये नहीं किया; उनके हाथों में इसने राज्य की संप्रभुता का रूप धारण किया। यही कारण है कि लॉक तथा मॉण्टेस्क्यू ने इस सिद्धान्त के प्रति

इतनी उपरामता दिखाई और इस शब्द का प्रयोग तक नहीं किया। अकस्मात् प्रेरणा का एक आलोक खण्ड रूसो की आँखों में आया और उसने महसूस किया कि निरपेक्ष तथा अपरिमित संप्रभुता के सिद्धान्त का प्रयोग व्यक्ति की स्वतन्त्रता का समर्थन करने के लिए भी किया जा सकता है। उसकी मौलिकता इस बात में है कि उसकी संप्रभुता की परिभाषा में हॉब्स जैसी पूर्णता तथा सुनिश्चितता है किन्तु उसने उसका प्रतिष्ठान ऐसे स्थान में किया है जिससे लॉक तथा मॉण्टेस्क्यू सरीखे उदारवादी विचारकों को परम संतोष मिला; और उसने संप्रभुता को निरपेक्ष बनाया तथा साथ ही साथ उसे व्यक्ति की स्वतन्त्रता की एक शर्त भी बनाया। निस्सन्देह उसकी **सामान्य इच्छा** हॉब्स का **नश्वर-देव** (Leviathan) है किन्तु बिना सिर का।

रूसो राष्ट्रवादी नहीं था; राष्ट्र-राज्य की धारणा का जो कि उस समय काफ़ी प्रतिष्ठित हो चुकी थी, उसके राजनीतिक दर्शन में कोई स्थान नहीं है। उसका विश्वास था कि किसी भी प्रकार के बड़े राज्य में स्वतन्त्र नागरिकता असम्भव है। उसकी कल्पना के आदर्श राज्य के निकट एक ऐसा छोटा सा समाज है जिसकी अर्थव्यवस्था ग्राम्य हो और और जो अन्य छोटे समाजों से एक ढीले ढाले संघ में आबद्ध हो। परन्तु समूह की एकता तथा ठोसता की भावना पर वह जो बल देता था उसका परिणाम उन परिस्थितियों में निश्चित रूप से राष्ट्र-भक्ति का आदर्शीकरण हुआ। उसकी लोकप्रिय संप्रभुता की धारणा भी उसी दिशा में अग्रसर थी। सैबाइन के शब्दों में 'स्वयं एक राष्ट्रवादी न होते हुए भी रूसो ने नागरिकता के प्राचीन आदर्श को एक ऐसा रूप देने में सहायता दी कि राष्ट्रीय भावना उसे अपना सकी'।

जैसा कि पहिले ही कहा जा चुका है, रूसो द्वारा दिये गये इस बात के कुछ सुझाव कि जनता अपनी संप्रभुता को किस प्रकार सुरक्षित रख सकती है, उसकी महान् राजनीतिक दूरदर्शिता और चातुर्य को सूचित करते हैं। उसके इस सुझाव ने कि संविधान में संशोधन तथा सरकार के पदाधिकारियों में परिवर्तन की आवश्यकताओं पर विचार करने के लिए जनता को समय समय पर समवेत होते रहना चाहिये, १६वीं शताब्दी की दो लोकतन्त्री संस्थाओं में साकार रूप ग्रहण किया है। इस प्रकार संप्रभुता-सम्पन्न जनता तथा सरकार में जो तीव्र विभेद उसने किया वह निष्फल नहीं रहा। इसके अतिरिक्त संप्रभुता-सम्पन्न जनता द्वारा बनाये गये कानूनों तथा सरकार द्वारा जारी किये गये कार्यपालिक प्रत्यादेशों में जो विभेद उसने किया है उसका समानान्तर उस विभेद में पाया जाता है जो कि आज हम संविधान तथा व्यवस्थापिका द्वारा बनाये गये कानूनों में करते हैं। रूसो जिस चीज को कानून कहता था उसे आज की परिभाषा में संविधान कहा जाता है जो कि साधारण कानून से भिन्न और उससे अधिक गौरवपूर्ण तथा मान्य होता है।

राजनीतिक सिद्धांत को रूसो की क्या देन है, उसका सार प्रोफ़ेसर हर्नशॉ के इन शब्दों में दिया जा सकता है: "जनता को वह राजनीतिक शक्ति का अंतिम स्रोत समझता

है; सामान्य हित को वह सरकार का समुचित लक्ष्य घोषित करता है; वह इस बात पर ज़ोर देता है कि राज्य एक सामाजिक सावयव है; वह इस विचार को विकसित करता है कि एक सावयव होने के कारण उसका एक अन्तःकरण तथा एक सामान्य इच्छा होती है; वह इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है कि राजनीतिक कर्त्तव्य का सच्चा आधार अनुमति है; वह यह प्रतिघोषणा करता है कि स्वतन्त्रता तथा प्राधिकार में अन्तिम रूप से सामंजस्य होना सम्भव है ...... राजनीतिक आदर्शवादियों में उसका एक ऊँचा स्थान है।"

जो कुछ ऊपर कहा गया है वह रूसो के सम्पूर्ण प्रभाव का पूर्ण विवरण नहीं है; यहाँ तो हमने उसके केवल राजनीतिक प्रभाव की समीक्षा की है। शिक्षा, साहित्य तथा धर्म के क्षेत्रों में उसका जो प्रभाव पड़ा है उसका वर्णन हमने नहीं किया।

Select Bibliography

MOST IMPORTANT

Wright : *The Meaning of Rousseau.*

Cole : *Introduction* in Everyman's Library Series.

Wayper : *Political Thought,* Chapter III.

A. R. M. Murray : *Introduction to Political Philosophy.*

OTHER BOOKS

Bosanquet : *Philosophical Theory of the State,* Chapters IV, V & IX.

Cook : *History of Political Thought,* Chapter XXII.

Doyle : *History of Political Thought,* Chapter X, pages 206–219.

Dunning : *Political Theories from Rousseau to Spencer,* Chapter I.

Maxey : *Political Philosophies,* Chapter XVIII.

Osborn : *Rousseau and Burke.*

Sabine : *History of Political Theory,* Chapter XXVIII.

Hearnshaw : *Social and Political Ideas of French Thinkers of the Age of Reason,* Chapter V.

———

अध्याय ८

वाइको तथा मॉण्टेस्क्यू

परिचयात्मक— रूसो के राजनीतिक विचारों की समीक्षा करते समय हमने कहा था कि रूसो के सिद्धान्त का मूल तत्त्व **सामान्य इच्छा** है, संविदा नहीं। संविदा सिद्धान्त से आरम्भ तो कदाचित् उसने इसलिए किया क्योंकि उस ज़माने में यह धारणा व्यापक रूप से प्रचलित थी और जन-कल्पना को बहुत अधिक अपील करती थी। १६वीं, १७वीं तथा १८वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में राजनीतिक दर्शन पर संविदा का वैसा ही प्रभाव था जैसा कि १९वीं शताब्दी में 'ओरीजिन ऑफ स्पीसीज़' (Origin of Species) के प्रकाशित होने के उपरान्त विकास सिद्धान्त का और कुछ आगे चल कर मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का पड़ा था। १६वीं, १७वीं तथा १८वीं शताब्दी में अधिकतर विचारकों की महत्त्वाकांक्षा अपने राज्य सम्बन्धी सिद्धान्तों को संविदा सिद्धान्त के साँचे में ढालने की रहती थी। इस सिद्धान्त का इतना व्यापक प्रचलन क्यों हुआ? इसका विवरण देना हमारे लिए यहाँ आवश्यक नहीं है। केवल इतना ही कहना काफी होगा कि इस सिद्धान्त में कुछ सद्गुण थे; इसने कुछ बहुत शुभ और स्तुत्य उद्देश्यों की पूर्ति की। सर्वसाधारण के अधिकारों के हामियों को इस सिद्धान्त के रूप में एक ऐसा शस्त्र मिला जिससे कि वे राजाओं की ओर से किये गये निरंकुशवाद के दावों का प्रतिरोध कर सकते थे। जैसा कि लॉर्ड ने इतने सुन्दर शब्दों में कहा है: "स्वतन्त्रता के समर्थक इसे पसन्द करते थे क्योंकि यह मनमानी शक्ति को मर्यादित करने के साधन सुझाता था। दर्शन शास्त्र के समस्त अभिलाषी उसे पसन्द करते थे, क्योंकि एक संविदा के ऊपर बहस हो सकती है, उसकी आलोचना की जा सकती है और उसमें संशोधन किया जा सकता है जब कि देव-आज्ञा के साथ ऐसा कुछ नहीं किया जा सकता।"* इसके अतिरिक्त संविदा सिद्धान्त मानव हृदय के दो चार प्रिय मूल्यों, स्वतन्त्रता तथा न्याय की अभिव्यक्ति का एक बहुत ही उपयोगी माध्यम सिद्ध हुआ। स्वतन्त्रता की मांग है कि शासन का आधार शासित की इच्छा अथवा अनुमति होगी, शक्ति नहीं; और न्याय इस बात की मांग करता है कि राज्य तथा प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था का आधार सद् होगा, पशुबल नहीं।

परन्तु अपने समस्त सद्गुणों तथा महान् कारनामों के होते हुए भी इस सिद्धान्त

---

* "Advocates of freedom preferred it; for it suggested ways of limiting the claims of arbitrary authority. All those who aspired to philosophy preferred it; for a contract can be discussed, criticised and amended, whilst the fiat of heaven can not."

—Lord : *Principles of Politics*, page 43.

में कुछ गम्भीर दोष पाये जाते हैं। राजनीतिक जीवन की इसकी व्याख्या यांत्रिक थी, सावयविक नहीं; और राजनीतिक कर्तव्यपालन की इसकी मीमांसा केवल कानूनी थी, नैतिक नहीं। इसकी निगमनात्मक तथा अत्यन्त कल्पनाशील पद्धति में राज्य के जीवन में राजनीतिक, भौतिक, बौद्धिक तथा सामाजिक कारणों द्वारा संशोधित नैतिक तथा धार्मिक विश्वासों के साथ न्याय नहीं हो सकता था। यह केवल तभी तक फल फूल सका जब तक कि ऐतिहासिक भावना का पूर्ण रूप से विकास नहीं हुआ। १८वीं शताब्दी के द्वितीय चतुर्थांश में वाइको तथा मॉण्टेस्क्यू ने ऐतिहासिक पद्धति को अपनाया और इससे संविदा सिद्धान्त को एक कठोर आघात पहुँचा। इन दो महान् विचारकों का राजनीतिक सिद्धान्त पर बहुत ऋण है। आज की कतिपय व्यापक रूप से प्रचलित धारणाओं का सूत्रपात हमें उनकी कृतियों में मिलता है। इन्हीं विचारकों ने सर्वप्रथम इस विचार का प्रतिपादन किया कि राज्य के मूल को एक संविदा में खोजना ऐतिहासिक रूप से प्रमादपूर्ण है; और यह कि राज्य का जन्म बहुत सी शक्तियों की अन्धी क्रीड़ा का परिणाम है जिनमें आदिकालीन मनुष्यों के धार्मिक तथा नैतिक विश्वास भी सम्मिलित हैं; राज्य के जन्म को हमें भौतिक स्वहित सरीखे चेतनापूर्ण ध्येय में नहीं खोजना चाहिये। उनकी यह भी धारणा थी कि राज्य मनुष्य द्वारा बनाई गई कोई यांत्रिक वस्तु नहीं है बल्कि वह एक सावयविक इकाई (organic whole) है जिसके किसी अंग की क्रियाओं में परिवर्तन करने का अवश्यम्भावी प्रभाव शेष की क्रियाओं पर भी पड़ता है। उनके परिश्रम के फलस्वरूप अत्यन्त कल्पनाशील तथा निगमनात्मक पद्धति (जिसके सर्वोत्तम उदाहरण हॉब्स का **लेवियाथन** तथा रूसो का **सोशल कॉन्ट्रेक्ट** हैं) का प्रयोग होना बन्द हो गया और उसका स्थान ऐतिहासिक पद्धति ने ले लिया। अपने ऊपर बिना ही किसी प्रत्यक्ष आक्रमण के संविदा सिद्धान्त अपनी प्रतिष्ठा खो बैठा; उसकी विशिष्ट चिन्तन प्रणाली समाप्त हो गई, यद्यपि उसे गलत सिद्ध करने का कोई प्रत्यक्ष प्रयास नहीं किया गया। हाँ यह हमें अवश्य याद रखना चाहिये कि डेविड ह्यूम ने इस सिद्धान्त के ऊपर प्रत्यक्ष प्रहार किया जो प्रायः घातक सिद्ध हुआ। इस अध्याय में हम वाइको के केवल उन विचारों का जो कि इस विषय से संबन्धित हैं उल्लेख करेंगे और मॉण्टेस्क्यू के राजनीतिक विचारों का तनिक विस्तार के साथ अध्ययन करेंगे।

वाइको— गियोवानी बैटिस्टा वाइको (Giovanni Battista Vico) का जन्म इटली में १६६८ ई० में तथा देहान्त १७७४ ई० में हुआ। यद्यपि अपने कल्प-विकल्प में वह मॉन्टेस्क्यू से अधिक गहरा तथा साहसी है तथापि वह इतना विख्यात नहीं है; अपने समय में ही वह प्रायः उपेक्षित था। उसकी प्रमुख कृति **न्यू साइन्स** (New Science) है। अपने दृष्टिकोण तथा पद्धति में अत्यन्त मौलिक होते हुए भी इस ग्रंथ को बहुत दिन तक कोई सम्मान प्राप्त नहीं हुआ; इसके विचार समय से पूर्व

तथा क्लिष्ट हैं। उनका महत्त्व आगे चल कर समझा जा सका। परन्तु इसने एक ऐसे नवीन आन्दोलन का सूत्रपात किया जो आगे चलकर वृहदाकार हो उठा। यह कहा जा सकता है कि वाइको ने आधुनिक समाज शास्त्र के क्षेत्र तथा पद्धति की पूर्व सूचना दी।

प्राचीन तथा आधुनिक दार्शनिकों के विरुद्ध वाइको को एक शिकायत यह है कि उनके समस्त चिंतन के निष्फल होने का कारण उनकी दूषित पद्धति थी। उनकी पद्धति कल्पनाशील है, यथार्थवादी नहीं है, वह कुछ मनमानी धारणाओं के ऊपर आधारित है, ऐतिहासिक नहीं है। वे इस बात को भूल जाते हैं कि मानव सभ्यता, राज्य, सरकार, विधि, परिवार, तथा धर्म इत्यादि मानव संस्थायें एक दीर्घकालीन विकास प्रक्रिया की उपज हैं और मानव आत्मा की प्रवृत्तियों तथा नियमों के प्रकाश में ही उन्हें समझा जा सकता है। इसके बजाय उनका आरम्भ-विन्दु यह है कि पूर्ण प्रज्ञा के तद्रूप कुछ कानून ऐसे हैं जो समस्त देश और काल के लिए मान्य हैं। अपने अपने ढंग से वे इन कानूनों की व्याख्या करते हैं और उन्हें भूत काल के ऊपर आरोपित कर देते हैं और वर्त्तमान के विचारों तथा परम्पराओं को भूत काल के एक सर्वथा भिन्न संसार में ले जाते हैं। इस कल्पनाशील एवं कट्टरपंथी पद्धति के प्रयोग का परिणाम भ्रम तथा प्रवंचना के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? वाइको के मतानुसार भूत काल में इतिहास के अध्ययन में एक बड़ा दोष यह रहा कि मनोवैज्ञानिक अन्तरों की सर्वथा अवहेलना की गई और प्राचीन दृष्टिकोण को समझने का कोई प्रयास नहीं किया गया। हॉब्स तथा लॉक के सिद्धान्तों में और प्रागराज्य अवस्था में मनुष्य जीवन के विषय में उनकी धारणाओं में कल्पनाशील, तथा अन्धविश्वासपूर्ण पद्धति का दोष स्पष्ट रूप से लक्षित होता है।

तो इसका इलाज क्या है? वाइको का उत्तर यह है कि हमें ऐतिहासिक विकास का सिद्धान्त अपनाना चाहिये और उन अवस्थाओं की खोज करनी चाहिये जिनमें कि राज्य, सरकार, तथा कानून सरीखी मानवीय संस्थायें और राजनीतिक विचार गुज़रे हैं। हमें उन विभिन्न तत्त्वों को भी देखना चाहिये जिन्होंने कि उनके विकास में योग दिया है। वह हमें विश्वास दिलाता है कि हम यदि इतिहास का अध्ययन करें तो हम देखेंगे कि शासन तथा विधि के रूप में परिवेश तथा जनता के राष्ट्रीय चरित्र सम्बन्धी अन्तर के अनुसार विभिन्नता पाई जाती है। प्राकृतिक कानून भी, जिसके अस्तित्व से वह इन्कार नहीं करता, स्थिर नहीं है; वह प्रगतिशील है; वह सदैव, सर्वत्र और सब के लिये एक ही नहीं है जैसा कि ग्रोशियस तथा अन्य विचारक उसे समझते थे, बल्कि उसमें समाज अथवा राष्ट्र के विकास की अवस्था के अनुसार विभिन्नता आती रहती है। इसलिये यह समझना, जैसा कि लॉक तथा हॉब्स समझते थे, कि सामाजिक तथा राजनीतिक संघटन को निर्धारित करने वाला कोई एक स्थायी एवं अपरिवर्तनशील नियम है, गलत है। प्रासंगिक रूप से यह बात

उल्लेखनीय है कि वाइको के एक निरपेक्ष प्राकृतिक कानून की सत्ता से इन्कार करने से संविदा सिद्धान्त का आधार ही नष्ट हो गया। एक स्थिर प्राकृतिक कानून में विश्वास उस बौद्धिक परिवेश का एक अंग था जो कि संविदात्मक दृष्टिकोण के लिये अनुकूल था। यदि प्राकृतिक कानून है तो प्राकृतिक अधिकार भी होने चाहियें; और यदि ऐसे प्राकृतिक अधिकार हैं जिनसे नागरिकों को उनकी अनुमति के बिना वंचित नहीं किया जा सकता, तो उनके ऊपर लगाई हुई मर्यादाओं का आधार एक ऐसी संविदा ही होनी चाहिये जो कि जनता ने स्वेच्छापूर्वक आपस में की हो। वाइको ने इन समस्त युक्तियों को एकदम यह कह कर ठुकरा दिया कि प्राकृतिक कानून सापेक्षिक तथा परिवर्तनशील है। इस प्रकार वाइको अपने समकालीन तथा अपनी पूर्वगत शताब्दी के लेखकों का विरोध करता है। "जहाँ वे कल्पनाशील हैं, वह यथार्थवादी है। जहाँ वे मनघड़न्त कहानियों का प्रयोग करते हैं, वहाँ वह इतिहास का आश्रय लेता है। जहाँ वे राजनीति तथा आचारशास्त्र में एक अभेद्य रेखा खींचते हैं, वहाँ वह मानव स्वभाव को एक सावयविक विकास समझता है जिसमें राजनीति तथा आचार-शास्त्र, बुद्धि तथा कल्पना, कानून तथा काव्य एक दूसरे से गुंथित तथा इस प्रकार सम्मिश्रित हैं कि उन्हें अलग अलग नहीं किया जा सकता।"*

इतिहास के जिस दर्शन का संचय उसने आदिकालीन इतिहास के अध्ययन से किया था उसका वर्णन करना हमारे लिए यहाँ आवश्यक नहीं; और जिन सामान्य सिद्धान्तों के प्रकाश में वह मानव प्रगति के प्रवाह की व्याख्या करना चाहता है उनका तो उल्लेख मात्र करना भी आवश्यक प्रतीत नहीं होता। हम केवल राज्य और सरकार का ही वर्णन करेंगे। वाइको का कहना है कि किसी भी समाज में सरकार तथा कानून का रूप उस समाज के बौद्धिक विकास की अवस्था, जनता के स्वभाव तथा प्रतिभा, लोगों के धार्मिक तथा नैतिक विश्वास, और समय की आवश्यकताओं के ऊपर निर्भर करता है। उसका विश्वास था कि मानव जाति अपने विकास की जिन तीन अवस्थाओं में को गुज़री है उनमें से प्रत्येक के अनुरूप सरकार के भी रूप रहे हैं। पहिली अवस्था को वह **देवयुग** (Age of the Gods) कह कर पुकारता है; हम इसे धर्म-तंत्री युग कह सकते हैं। इस युग में मनुष्य ने बहुत से देवताओं की अवतारणा की जो कि समुद्र,

* "Where they are abstract, he is concrete. Where they deal in fictions, he appeals to history. Where they draw an impassable line between politics and morals, he conceives of man's nature as an organic growth in which politics and morals, reason and imagination, law and poetry, are all inseparably intertwined, all blended in one indissoluble whole." —Vaughan : *Studies in the History of Political Philosophy, Vol. I,* page 211.

आकाश, अग्नि, तथा फ़सलों के मानवीकृत रूप थे। उन्होंने धर्म, पारिवारिक जीवन, भाषण, तथा सम्पत्ति सम्बन्धी प्रारम्भिक बातें सीखीं। इस अवस्था में सरकार के प्राधिकार का स्रोत प्रत्यक्ष रूप से ईश्वर था जिसकी इच्छा देववाणियों (oracles) द्वारा अभिव्यक्त होती थी। मानव इतिहास की दूसरी अवस्था है **वीर युग** (Heroic Age) जिसमें परिवारों के प्रधान समाज के नेता बन गये, और मनुष्यों के ऊपर बुद्धि तथा सदाचार प्रधान वर्ग का शासन स्थापित हो गया। मानव इतिहास की तीसरी अवस्था है **मानवीय युग** (Human Age); इसे लोकतन्त्री युग कहा जा सकता है। इस युग में बौद्धिक विकास तथा सभ्यता में अभिवृद्धि हो जाने के कारण अधिकांश जनता शासन कार्य में भाग ले सकती है; और एक सुनिश्चित तथा व्यापक विधि प्रणाली का निर्माण होता है। यह एक भौतिक सम्पन्नता तथा वैभव का युग होता है। परन्तु यह सदैव के लिये कायम नहीं रहता। मनुष्य पतित हो जाते हैं; और वे विलास तथा वर्ग संघर्ष में ग्रस्त हो जाते हैं। इसका परिणाम होता है एक तानाशाही की स्थापना और अन्त में अधिक बलवान् जाति द्वारा विजय। इसके अतिरिक्त वाइको का यह भी विश्वास था कि मानव प्रगति का यह चक्र मानव स्वभाव के नियमों के अनुसार एक निर्धारित ढंग से चलता रहता है और कहा जा सकता है कि इससे दैविक योजना की पूर्ति होती है। वह पश्चिमी यूरोप के इतिहास में अन्धकार युग (Dark Ages) की आदि दैविक युग (Divine Age), से मध्य युग की वीर युग से तथा पुनर्जागरण के उपरान्त आरम्भ होने वाले युग की लोक-तन्त्री अथवा मानवीय युग से तुलना करता है। शासन के जो मिश्रित रूप समय समय पर प्रगट होते रहते हैं वे केवल एक युग से दूसरे में परिवर्तन होते समय मध्यान्तर मात्र होते हैं।

मॉन्टेस्क्यू: उसका जीवन तथा उसकी कृतियां— वाइको से अब हम मॉण्टेस्क्यू पर आते हैं जो कि यद्यपि उतना मौलिक, तीक्ष्णबुद्धि तथा गहरा विचारक नहीं था जितना कि वाइको, किन्तु उसकी अभिव्यंजना शक्ति तथा शैली उससे कहीं अधिक श्रेष्ठ थीं। इन गुणों के अतिरिक्त मॉण्टेस्क्यू के उद्देश्य अधिक व्यावहारिक थे और अपने समय में कार्य करने वाली शक्तियों से वह अधिक सचेत था। इन बातों के कारण उसकी गणना सर्वाधिक सफल लेखकों में होती है। लोगों ने उसके मूल्य को आरम्भ में ही पहिचान लिया और वह शीघ्र ही प्रसिद्ध हो गया। आज भी उसकी ख्याति अटल है। उसके महानतम ग्रंथ 'दी स्पिरिट ऑफ लॉज़' (The Spirit of Laws) की गणना संसार के महानतम ग्रंथों में होती है।

मॉण्टेस्क्यू का जीवन नितान्त साधारण रहा है; उसमें कोई विलक्षणता या रोमांच नहीं पाया जाता। इस बात में वह रूसो के जीवन से एकदम विपरीत है। उसका जन्म जनवरी, १६८९ ई० में शेटो डी ला ब्रीडी में हुआ था; और ६६ वर्ष की अवस्था में १० फरवरी, १७५५ ई० को उसकी जीवन लीला का अन्त हो गया। "यदि

हम उसकी जीवन गाथा में से उसकी साहित्यिक कृतियों को अलग कर दें, और उसकी रचनाओं से अलग उसके जीवन चरित्र को लें तो वह यहाँ समाप्त हो जाता है ; और उसके बारे में यह कहा जा सकता है, जैसा कि कुछ राजाओं के विषय में ठीक ही कहा जाता है, कि उसने जन्म लिया, वह जीवित रहा और वह मर गया।"*

किन्तु उसके जीवन की एक दो दिलचस्प घटनायें उल्लेखनीय हैं। उसका बचपन का नाम चार्ल्स लुई सेकिन्डट (Charles Louis Secondat) था। जब उसकी आयु केवल सात वर्ष की थी तभी उसकी माता का देहान्त हो गया; उसने बोर्डो के निकट अपनी ला ब्रीडी की सम्पत्ति उसे विरासत में छोड़ी और तब से उसका नाम चार्ल्स लुई सेकिन्डट डी ला ब्रीडी पड़ गया। १७१६ ई० में उसके ताऊ का, जिसे कि बैरन डी मॉण्टेस्क्यू की उपाधि प्राप्त थी, देहान्त हो गया जिसने अपनी विशाल सम्पत्ति चार्ल्स लुई के नाम में इस शर्त पर छोड़ी कि वह बैरन डी मॉण्टेस्क्यू का नाम धारण करले। चार्ल्स ने इस शर्त को स्वीकार कर लिया और तभी से वह बैरन डी मॉण्टेस्क्यू या केवल मॉण्टेस्क्यू के नाम से विख्यात है। जिस स्त्री से उसने विवाह किया वह भी अपनी पैतृक सम्पत्ति लाई। इसलिए हमारे इस लेखक के सिर पर भाग्य-चन्द्र शुरु से ही मुस्कराता रहा। इसलिये वह आराम और शान्ति का जीवन व्यतीत करते हुए निश्चिन्त रूप से सामाजिक तथा बौद्धिक कार्यों में लग सका। वह उदारतापूर्वक दीन हीन की सहायता करता था किन्तु उसका प्रदर्शन वह न करता था। १७२८ ई० में मॉण्टेस्क्यू ने यूरोप का लम्बा भ्रमण किया जिसमें वह आस्ट्रिया, हंगरी, इटली, जर्मनी, स्विट्ज़रलैण्ड तथा अन्त में इंग्लैण्ड गया जहाँ कि वह प्रायः दो वर्ष ठहरा। वहाँ उसने प्रमुख राजनीतिज्ञों तथा विद्वानों से परिचय प्राप्त किया और कुछ ब्रिटिश संस्थानों का उस पर गहरा प्रभाव पड़ा। जिस हद तक अंग्रेज़ लोग स्वतन्त्रता का उपभोग करते थे उससे वह विशेष रूप से प्रभावित हुआ। वास्तव में 'स्प्रिट ऑफ़ लॉज़' का एक अध्याय तो ब्रिटिश संविधान की प्रशंसामात्र ही है। अपने भ्रमण से लौट कर वह ला ब्रीडी में रहने लगा। वहाँ उसने अपने समय को अध्ययन, साहित्य-सेवा तथा अपनी सम्पत्ति की देख-रेख के लिये विभक्त कर लिया। कभी कभी वह पेरिस भी चला जाता था। १७३४ ई० में उसने अपना ग्रंथ 'Reflections on the Causes of the Greatness and Decline of the Romans' प्रकाशित कराया और १४ वर्ष के अथक परिश्रम के पश्चात् १७४८ ई० में उसका अमर ग्रन्थ 'The Spirit of Laws' प्रकाशित हुआ। १७२१ ई० में, जब कि

* "If we should omit his literary performances from the record of his life, and consider his existence apart from his books, the record would end here ; and it might be said of him, as has been justly said of some royal personages, that he was born, he lived and he died." *The Spirit of Laws, World's Great Classics Series, Special Introduction,* page III.

वह केवल ३२ वर्ष का था, उसकी एक कृति 'पर्शियन लैटर्स' (Persian Letters) भी प्रकाशित हुई थी। यह पुस्तक कुछ ऐसे कल्पित पत्रों का संग्रह है जिन्हें फ्रांस में भ्रमण करते हुए दो ईरानी यात्रियों द्वारा अपने मित्रों में लिखा जाना मान लिया गया है जिनमें उन्होंने अपनी आँखों देखे फ्रांस के सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक जीवन की स्वतन्त्र रूप से समालोचना की है। यद्यपि उन्हें लेखक का नाम दिये बिना ही प्रकाशित कराया गया था तथापि यह बात शीघ्र ही सर्वविदित हो गई कि उनका लेखक मॉण्टेस्क्यू था। इन 'लैटर्स' ने देश में एक हलचल उत्पन्न कर दी। चर्च, राज्य, राजा तथा देश के अन्य प्राचीन और सम्मानित संस्थानों की जो व्यंगात्मक आलोचना उनमें की गई थी, उससे फ्रांस की जनता तो मुग्ध हो उठी किन्तु जन-आचार के संरक्षकों तथा निरंकुश राजतन्त्र के कृपापात्र लोगों को मॉण्टेस्क्यू का तीव्र व्यंग बहुत अखरा। उनसे यह प्रगट हो गया कि मॉण्टेस्क्यू में अपने समय के दोषों को देखने की शक्ति थी तथा उनकी आलोचना करने का साहस था। इस पुस्तक की अच्छी बिक्री हुई ; इसके कई संस्करण निकले और इसके कारण लेखक प्रसिद्ध हो गया। पेरिस के साहित्यिक क्षेत्रों में उसे एक ऊँचा स्थान प्राप्त हो गया और कुछ समय बाद ही उसे **एकादेमी** का सदस्य बना लिया गया।

मॉण्टेस्क्यू का ग्रन्थ 'Reflections on the Causes of the Greatness and Decline of the Romans' उसको निश्चित रूप से ख्याति प्रदान कर देता यदि उसकी बाद की तथा महानतर कृति 'The Spirit of Laws' उसे मात न कर देती। पहिला ग्रन्थ उसके दर्शन के स्वरूप तथा पद्धति को स्पष्ट रूप से प्रगट करता था। उसमें वह यह जानने के लिये कि सामान्य कारणों में से घटनायें किस प्रकार उत्पन्न होती हैं इतिहास के मूल में जाता है। वह संयोग में विश्वास नहीं करता ; उसका विश्वास यह है कि ऐतिहासिक घटनायें तथा प्रक्रियायें कुछ निश्चित सिद्धान्तों द्वारा अनुशासित होती हैं जिन्हें हम गम्भीर अध्ययन तथा विश्लेषण द्वारा खोज सकते हैं। वह कहता है: "संसार के ऊपर संयोग शासन नहीं करता ; रोमवासियों को देखिये, जब तक उन्होंने शासन का प्रबन्ध एक निश्चित योजना के अनुसार किया उन्हें निरन्तर विजय प्राप्त होती चली गई, और जब उन्होंने एक दूसरी योजना के अनुसार कार्य किया तो उन्हें बार बार पराजय का मुँह देखना पड़ा। प्रत्येक राजतन्त्र को उत्कृष्ट बनाने, उसे कायम रखने तथा उसे पराजित करने में नैतिक अथवा भौतिक कुछ सामान्य कारण वर्तमान रहते हैं।"* रोम के अधःपतन के कारणों का पता लगाने तथा भविष्य के लिये उससे सबक

* "It is not chance that rules the world; witness the Romans, who had their constant succession of triumphs while they managed their Government on a certain plan, and an uninterrupted series of reverses when it was conducted on another. There are general causes, either moral or physical, at work in every monarchy, exalting, maintaining or overthrowing it."

सीखने के लिए उसने रोमन इतिहास का अध्ययन किया।

इसलिये यह कहा जा सकता है कि रोम का इतिहास तथा ब्रिटिश संस्थान वे मुख्य तत्त्व थे जिन्होंने मॉण्टेस्क्यू के राजनीतिक दर्शन के सामान्य स्वरूप को निर्धारित किया, और जिनसे उसने अपनी स्वतंत्रता की धारणा बनाई जो कि उसके दर्शन का मुख्य विषय है। रूसो के अतिरिक्त जो कि मॉण्टेस्क्यू से २३ वर्ष छोटा था और उसका प्रायः समकालीन था, बोदाँ के पश्चात् मॉण्टेस्क्यू के लेखों में ही फ्रांस की राजनीतिक समस्याओं की सर्वप्रथम व्यापक समीक्षा मिलती है। निरंकुश तथा अत्यन्त केन्द्रित शासन व्यवस्था जो हेनरी चतुर्थ से आरम्भ हुई और लुई चतुर्दश के राज में चरम सीमा को पहुँची, राजनीतिक दर्शन के विकास के लिये सर्वथा प्रतिकूल थी। इसका परिणाम यह हुआ कि इस काल में फ्रांस ने डेकार्टे सरीखे प्रथम श्रेणी के दार्शनिकों को तो जन्म दिया और साहित्य के क्षेत्र में भी अग्रगण्य रहा किन्तु सामाजिक तथा राजनीतिक प्रश्नों के ऊपर कोई विशेष रचना उसमें नहीं हुई। राजनीतिक चिन्तन का केन्द्र इंग्लैण्ड में था जहाँ राजा तथा संसद के मध्य संघर्ष चल रहा था। फ्रांस में राजनीति के प्रति अनुराग १७वीं शताब्दी के अन्त में जाग्रत हुआ। १८वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में राजनीति के प्रत्येक पहलू के ऊपर बहुत सी रचनायें हुई जिनमें मॉण्टेस्क्यू तथा रूसो की कृतियाँ सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण थीं। वॉल्टेयर (१६९४–१७७८) तथा दिदरो (१७१३–१७८३) अन्य फ्रांसीसी लेखक हैं जिन्होंने राजनीतिक प्रश्नों के ऊपर लिखा और १८वीं शताब्दी के फ्रांस में ज्ञान की वृद्धि में योग दिया।

मॉण्टेस्क्यू की पद्धति— 'स्प्रिट ऑफ़ लॉज़' के मुख्य विचारों की समीक्षा करने से पूर्व मॉण्टेस्क्यू की पद्धति का वर्णन अच्छा होगा; ऐसा करना इसलिये और भी अधिक आवश्यक है क्योंकि कभी कभी यह कहा जाता है कि मॉण्टेस्क्यू की मुख्य देन पद्धति के क्षेत्र में है, सिद्धान्त के क्षेत्र में नहीं। सामाजिक विज्ञानों की पद्धति के विकास पर उसका जो प्रभाव पड़ा है वह राजनीतिक सिद्धान्त को उसकी देन से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।

मॉण्टेस्क्यू की पद्धति के स्वरूप का निर्णय हम 'पर्शियन लैटर्स' में उसके इस कथन से कर सकते हैं। वह लिखता है: "मैंने इस बात के ऊपर प्रायः विचार किया है कि सरकार के विभिन्न रूपों में से कौन सा रूप बुद्धि के सब से अधिक अनुकूल है और मुझे यह प्रतीत होता है कि सर्वश्रेष्ठ सरकार वह होती है जो कि जनता की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अधिकाधिक अनुकूल उसका पथ-प्रदर्शन करे।" इस कथन का स्पष्ट अर्थ यह है कि मॉण्टेस्क्यू सरकार की किसी ऐसी अमूर्त योजना की रचना में विश्वास नहीं करता जो कि समस्त देश और काल के लिए अनुकूल हो। दूसरे शब्दों में, वह उस पद्धति का तिरस्कार करता है जो कि अफलातून, हॉब्स तथा रूसो सरीखे बुद्धिवादियों ने अपनाई थी जो मानव स्वभाव के विषय में कुछ

मान्यताओं को लेकर चलते हैं और उनके ऊपर एक आदर्श राज्य का ढांचा खड़ा करते हैं। इसके विपरीत वह इस बात से भली भांति परिचित था कि मनुष्य की परम्परायें, विधियाँ तथा संस्थायें बहुत जटिल होती हैं और उनमें बड़े बड़े परिवर्तन होते रहते हैं और विभिन्नतायें आती रहती हैं। वे सदैव और सर्वत्र एक सी नहीं रहतीं, बल्कि विभिन्न जातियों के स्वभाव में विभिन्नताओं तथा जलवायु, भूमि, पर्वत इत्यादि सरीखी भौतिक परिस्थितियों के प्रभाव के कारण उनके रूप विभिन्न हो जाते हैं। वे बनी बनाई आकाश से नहीं उतरतीं, बल्कि उनका स्वाभाविक विकास होता है। इसलिए हमें उन को ऐसी ऐतिहासिक घटनायें समझना चाहिये जिनके विकास में उत्तरोत्तर अवस्थायें आती हैं। उनका अध्ययन करने तथा उनके स्वरूप और विकास को समझने की उचित पद्धति वह ऐतिहासिक पद्धति है जिसका प्रयोग अरस्तु ने और एक हद तक मैकियावेली तथा बोदां ने किया था। सारांश यह कि मॉण्टेस्क्यू की पद्धति अरस्तु की पद्धति है, अफ़लातून की नहीं, बोदां की है, हॉब्स या लॉक या रूसो की नहीं। वाइको ने भी ऐतिहासिक अथवा तुलनात्मक पद्धति को अपनाया था; उसकी पुस्तक, 'न्यू साइंस', मॉण्टेस्क्यू के अध्ययनागार में सुशोभित थी; किन्तु यह प्रतीत नहीं होता कि उसने अपनी पद्धति वाइको से अपनाई हो; कदाचित् स्वतन्त्र रूप से ही उसने उसे ग्रहण किया था।

जिस प्रकार न्यूटन सरीखे भौतिकशास्त्रियों का यह विश्वास था कि प्राकृतिक जगत में दिखलाई पड़ने वाली विभिन्नता तथा विविधता के मूल में एक निश्चित एकता तथा एकरसता है जो कि प्रकृति को एक व्यवस्थित तथा क्रमबद्ध इकाई बनाती है और इसीलिए वह ज्ञेय है, इसी प्रकार मॉण्टेस्क्यू का यह विचार था कि मानव परम्पराओं तथा संस्थाओं में इतनी विभिन्नता और विविधता के मूल में कुछ निश्चित विश्वव्यापक सिद्धान्त तथा आचरण के सामान्य आदर्श पाये जाते हैं। उसे विश्वास था कि वे जाने जा सकते हैं। इसलिये हम प्रोफ़ेसर जोन्स के इस कथन से सहमत हो सकते हैं कि "मॉण्टेस्क्यू जो कार्य करना चाहता था उसके दो पहलू थे। प्रथम, वह यह निर्धारित करना चाहता था कि यह आधारभूत और मूल सामान्य सिद्धान्त क्या हैं, और दूसरे वह यह जानना चाहता था कि यथार्थ जगत में पाई जाने वाली विविधता को लाने वाले कौन से तत्त्व हैं। अन्त में, वह यह भी जानना चाहता था कि वास्तव में ये विभिन्नतायें उत्पन्न क्यों होती हैं, ताकि राजनीतिज्ञ तथा विधिनिर्मातागण प्रत्येक प्रकार की सरकार को अधिकाधिक आदर्श के निकट लाने के लिए उन विभिन्नताओं को नियंत्रित कर सकें।"

इसी बात को तनिक अधिक सरल भाषा में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है कि मॉण्टेस्क्यू का उद्देश्य एक आदर्श राज्य की रचना करना, अथवा किसी विशेष मत या विश्वास को सिद्ध करना नहीं था, बल्कि उन स्वाभाविक सिद्धान्तों की जो कि किसी भी वस्तुस्थिति के लिए उत्तरदायी होते हैं, खोज करना तथा मानवीय संस्थाओं के

कल्याण के लिए उनका उपयोग करना था। क्योंकि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हॉब्स तथा लॉक द्वारा अपनाये हुए बुद्धि-प्रधान अथवा निगमनात्मक पद्धति की अपेक्षा ऐतिहासिक अथवा तुलनात्मक पद्धति कहीं अधिक उपयोगी थी, इसलिये उसने उसे ही अपनाया।

मॉण्टेस्क्यू की पद्धति को कभी कभी अनुभव-प्रधान (Inductive) कह कर पुकारा जाता है। यदि हम इसी नाम से इसे पुकारना चाहते हैं तो हमें यह याद रखना चाहिये कि यह विशुद्ध रूप से ऐसी नहीं है। उसकी इस मूल मान्यता की कि मानव समाज को अनुशासित करने वाला बुद्धि का एक विश्वव्यापक कानून (Law of Reason) होता है, संगति अनुभववाद से नहीं बैठती। उसका यह मानना भी कि दासता सरीखे राजनीतिक संस्थानों के औचित्य अथवा अनौचित्य का निर्णय करने के लिए बुद्धि ही अन्तिम कसौटी है, अनुभववाद से ताल नहीं खाता। जैसा कि सैबाइन का कहना है : 'ऐसे थोड़े ही राजनीतिक विचारक हुए हैं जिन्हें जल्दबाज़ी में सामान्यकरण करने की आदत मॉण्टेस्क्यू से अधिक और पूर्वनिश्चित धारणाओं की प्रेरक शक्तियों तथा उनके परिणामों में विभेद करने की प्रवृत्ति उससे कम रही हो।' कितनी जल्दबाज़ी के साथ उसने अपने परिणामों का सामान्यकरण कर डाला उसका एक उदाहरण है उसका जलवायु तथा स्वतंत्रता में सम्बन्ध का सिद्धान्त जिसका उल्लेख हम आगे चल कर करेंगे।

मॉण्टेस्क्यू के अनुसार मानव व्यवहार में आधारभूत एकरसता इसलिए पाई जाती है क्योंकि ईश्वर ने प्रत्येक मनुष्य का स्वभाव एकसा बनाया है : जबकि मानवी कानूनों में विविधता उस परिवेश के कारण उत्पन्न होती है जिसमें भूमि, जलवायु, स्थान, समाज की सामाजिक तथा धार्मिक धारणायें, तथा किसी देश में प्रचलित शासन का रूप सम्मिलित हैं। विधायक का कार्य इन समस्त तत्त्वों को ध्यान में रखते हुए एक समाज विशेष के लिए अनुकूल कानून बनाना है।

स्प्रिट ऑफ़ लॉज़ के मूल विचार— अब हम मॉण्टेस्क्यू की पद्धति से उसके राजनीतिक सिद्धान्त पर आते हैं। सिद्धान्त के क्षेत्र में भी हमें उसमें तथा उसके पूर्ववर्तियों में एक बड़ा अन्तर दिखाई पड़ता है। उसका राजनीतिक दर्शन अद्भुत है। कई बातों में मॉण्टेस्क्यू का दृष्टिकोण अफ़लातून, अरस्तु, एक्वीनास, बोदाँ, सुआरेज़ तथा अन्य विचारकों के दृष्टिकोण से भिन्न है। वह न तो नैतिक दृष्टिकोण को प्राथमिकता देता है और न धार्मिक दृष्टिकोण को। राज्य के सामान्य सिद्धान्त में उसकी कोई रुचि नहीं। राज्य के मूल, स्वरूप तथा सार्वजनिक कानून के सिद्धान्तों की समस्याओं पर उसने केवल प्रासंगिक रूप से ही प्रकाश डाला है। रूसो की भाँति वह उन सिद्धान्तों की विवेचना नहीं करता, जिनके ऊपर सुचारु रूप से चलने के लिए राज्य को आधारित होना चाहिये ; इसके बजाय वह उन सिद्धान्तों को निर्धारित करने की चेष्टा करता है जो कि यथार्थ राज्यों की क्रियाओं के मूल में वर्तमान रहते हैं। हम कह सकते हैं कि

उसने राजनीतिक विज्ञान के क्षेत्र को बहुत व्यापक बना दिया है। **स्प्रिट ऑफ लॉज** का क्षेत्र इतना व्यापक है कि वह विशुद्ध राजनीति का ग्रन्थ न रह कर समाज शास्त्र का ग्रन्थ बन गया है। इसका कारण यह है कि मॉण्टेस्क्यू के अनुसार मानव व्यवहार को प्रभावित करने वाले तत्त्वों से अलग करके सरकार का अध्ययन करना निरर्थक है। इसीलिये वह मनोविज्ञान, समाज शास्त्र, भूगोल, धर्म तथा इतिहास के क्षेत्रों में भी उतरा। इस ग्रन्थ को लिखने में उसका उद्देश्य उन सामान्य सिद्धान्तों तथा भावनाओं की खोज करना था जो कि प्रत्येक जलवायु और सभ्यता में मानव व्यवहार को प्रभावित करते हैं और जिनके कुछ परिणाम निकलते हैं। उसे विश्वास था कि ऐसे सिद्धान्त अवश्य हैं और यदि हम उनकी खोज कर पायें तो उस घटना व्यापार की एक वैज्ञानिक व्याख्या हमें मिल जायेगी जो कि उनके बिना एक व्यवस्थाहीन तथा अज्ञेय रहस्य दिखाई पड़ता है।

विधि सम्बन्धी धारणा एक ऐसा ही सिद्धान्त है। यह बात ग्रंथ के शीर्षक से ही जाहिर है। यह वह सूत्र है जो कि अत्यन्त विविध विषयों— शिक्षा, फ्रांसीसी राजतन्त्र का इतिहास, अर्थशास्त्र, जलवायु, भूगोल, ब्रिटिश संविधान, तथा अन्य बहुत से विषयों के ऊपर प्रगट किये गये असम्बद्ध विचारों को एकता के बन्धन में गुंथित करता है। सम्पूर्ण ग्रन्थ का यह एक केन्द्रीय तथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाग है, इसलिए हमें इसका अध्ययन ध्यानपूर्वक और तनिक विस्तार के साथ करना चाहिये।

यदि हम मॉण्टेस्क्यू की कानून विषयक धारणा को भली प्रकार समझना चाहते हैं तो हमें उन परिभाषाओं का परित्याग करना चाहिये जो कि उसके पूर्ववर्तियों ने इस शब्द की दी हैं। कानून उसके लिये प्रज्ञा का आदेश नहीं है जैसा कि अफ़लातून व अरस्तु के लिये वह था; और न ही वह उच्चतर शक्ति का आदेश है जैसा कि बोदाँ तथा हॉब्स उसे समझते थे। मॉण्टेस्क्यू के मतानुसार 'अपने नितान्त सामान्य अर्थ में कानून वस्तुओं के स्वभाव से उत्पन्न होने वाले आवश्यक सम्बन्ध हैं। इस अर्थ में समस्त चीजों के अपने कानून होते हैं; ईश्वर के अपने कानून, भौतिक जगत के अपने कानून, मानव से श्रेष्ठ बुद्धियों अर्थात देवताओं के अपने कानून, पशुओं के अपने कानून, तथा मनुष्य के अपने कानून होते हैं।' इस परिभाषा का स्पष्टीकरण आवश्यक है।

इस संसार की कोई भी चीज शेष संसार से पूर्ण रूप से अलग नहीं है; यहाँ प्रत्येक चीज अन्य समस्त चीजों से भी नहीं तो कुछ न कुछ चीजों से अवश्य सम्बन्धित है। किसी चीज के बारे में हम जो कुछ जानते हैं वह उसका अन्य चीजों के साथ सम्बन्ध मात्र है; ये सम्बन्ध उसके स्वरूप को अभिव्यक्त करते हैं; ये सम्बन्ध ही वे कानून हैं जिनके वह अधीन होती है। जब कोई वस्तु आग में डाल दी जाती है तो वह जल जाती है; आग का स्वभाव ही जलाना है। बस इसी से यह कानून बन गया कि

आग प्रत्येक वस्तु को जलाती है। इसी प्रकार पदार्थ के प्रत्येक खण्ड का अन्य खण्ड के साथ कुछ न कुछ सम्बन्ध होता है; इस सम्बन्ध को गुरुत्वाकर्षण का कानून (Law of gravitation) अभिव्यक्त करता है। मनुष्य का भी एक ओर तो ईश्वर के साथ और दूसरी ओर बाह्य प्रकृति तथा अन्य मानव प्राणियों के साथ सम्बन्ध होता है। यदि हम मानव, ईश्वर तथा जगत के स्वरूप का विश्लेषण करके इन सम्बन्धों को खोज निकालें तो हमें मानव जीवन के समस्त पहलुओं को अनुशासित करने वाले कानूनों का पता चल जायेगा। अब हम मॉण्टेस्क्यू के विश्लेषण पर विचार करेंगे।

वह अपने विवेचन को यह कह कर आरम्भ करता है कि विश्व के साथ ईश्वर का सम्बन्ध उसका स्रष्टा तथा रक्षक होने के नाते है। जिन कानूनों द्वारा वह सृष्टि करता है वह उन कानूनों से भिन्न नहीं हो सकते जिनके द्वारा कि वह रक्षा करता है। प्रकृति जगत बुद्धि-विहीन है क्योंकि उसमें सोचने समझने की शक्ति नहीं है, और वह युग-युगान्तर से चला आ रहा है, इसलिए उसे अनुशासित करने वाले कानून निश्चित रूप से स्थायी तथा अपरिवर्तनशील होने चाहियें। प्रकृति की विविधता तथा निरन्तर उथल पुथल के मूल में एक निश्चित एकरसता तथा स्थिरता रहती है। इसीलिए प्रकृति कानूनों के अधीन एक व्यवस्थित इकाई है। जहाँ तक कि मनुष्य एक भौतिक प्राणी है वह भी कुछ स्थिर और स्थायी कानूनों के अधीन होता है। मनुष्य की इच्छा से स्वतन्त्र रहते हुए भौतिक कानून मानव आचरण को प्रभावित करते हैं। यदि मनुष्य अपनी उंगली अग्नि में डालेगा तो वह जल जायेगी; यदि वह विष खायेगा तो वह मर जायेगा। हाँ, यदि समय पर उसका समुचित उपचार हो गया तो बात दूसरी है। किन्तु मनुष्य भौतिक प्राणी से कुछ बढ़ कर है; उसमें बुद्धि है और अपने लिए मनोवांछित उद्देश्य चुनने तथा उनकी प्राप्ति के लिये अनुकूल साधन अपनाने की उसमें शक्ति है। इससे एक ऐसी जटिलता उत्पन्न होती है जो कि जड़ तथा पशु जगत में नहीं पाई जाती। प्रकृति के कानूनों द्वारा अपने ऊपर थोपे हुए आचरण के ढरों को बदलने और उनके विपरीत आचरण करने की सामर्थ्य उसमें है। ईश्वर ने मनुष्य को आत्म-अभिव्यक्ति के लिए बोलने की शक्ति प्रदान की है; इस शक्ति का दुरुपयोग वह दूसरों को धोखा देने के लिये भी कर सकता है और करता है। ईश्वर ने उसे प्रजनन की शक्ति दी है; किन्तु वह अपनी काम भावना का दुरुपयोग अपनी कामुकता को सन्तुष्ट करने के लिए करता है और इस प्रकार शरीर का अपव्यय करता है। उसकी बुद्धि ससीम होने के कारण उससे भूल हो सकती है और वह हजार प्रकार के आवेशों के आवेग में बह सकता है। मॉण्टेस्क्यू कहता है: "ऐसा प्राणी प्रत्येक क्षण अपने स्रष्टा को भूल सकता है। इसलिये धर्म के कानूनों द्वारा ईश्वर ने मनुष्य को अपने कर्त्तव्य की याद दिलाई है। ऐसा प्राणी स्वयं अपने आप को भूल सकता है; दर्शनशास्त्र आचार के नियमों द्वारा उसे ऐसा करने से रोकता है। उसे समाज में रहने के लिये बनाया गया है, किन्तु वह

अपने साथियों को भूल सकता है; इसलिये विधिनिर्माताओं ने नागरिक तथा राजनीतिक कानून बना कर उसे अपने कर्त्तव्यपालन के लिए आरूढ़ किया है।" इसका परिणाम यह है कि जबकि प्रकृति जगत केवल एक ही प्रकार के कानूनों के अधीन है जिन्हें हम प्राकृतिक कानून कह सकते हैं, मनुष्य के ऊपर दो विभिन्न प्रकार के कानूनों का शासन रहता है। एक प्रकार के कानूनों का निर्माण ईश्वर ने किया है और दूसरे स्वयं उसने बनाये हैं। दोनों प्रकार के विषय में हम यहाँ कुछ कहेंगे।

मॉण्टेस्क्यू कहता है कि मनुष्य को भौतिक प्राणी के रूप में अनुशासित करने वाले प्रकृति के कानूनों को खोजने के लिए हमें प्राग्-राज्य अवस्था के मनुष्य पर विचार करना चाहिये। यह उस प्राकृतिक अवस्था के सदृश दिखलाई पड़ता है जिसमें कि मनुष्य का सामाजिक संविदा द्वारा राज्य की स्थापना करने से पूर्व रहना माना जाता है। परन्तु मॉण्टेस्क्यू का यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता। वह यह नहीं कहता कि मनुष्य कभी प्राकृतिक अवस्था में रहता था; वह तो केवल मनुष्य को उस रूप में जानना चाहता था जिसमें कि ईश्वर ने उसे बनाया था। ज़ाहिर है कि ईश्वर ने उसे ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति अवश्य प्रदान की होगी, परन्तु वह आरम्भ में ही एकदम समस्त ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता था जो कि वह आगे चल कर प्राप्त करता है; और बिना विचारों के वह कल्प-विकल्प-शील नहीं बन सकता था। इसलिए ईश्वर द्वारा उत्पन्न किया हुआ मनुष्य इतना अधिक अहंकारवादी, आक्रमणकारी तथा चालाक प्राणी नहीं हो सकता था जैसा कि हॉब्स उसे मानता था और न ही वह एक अत्यन्त ज्ञानवान तथा नैतिक प्राणी हो सकता था जैसी कि लॉक कल्पना करता था। मॉण्टेस्क्यू के मतानुसार 'ऐसा मनुष्य अपने में अशक्ति तथा दुर्बलता के अतिरिक्त और कुछ नहीं पा सकता था; वह अत्यन्त भयभीत रहता होगा जैसा कि जंगली मनुष्यों के जीवन से ज़ाहिर है जो पत्ती के हिलने से ही काँप उठते हैं और प्रत्येक छाया से डर कर भागते हैं। ऐसी अवस्था में मनुष्य दूसरों के साथ अपनी समानता को अनुभव करने के बजाय अपने को ही हीन समझता होगा। इसलिए एक दूसरे पर आक्रमण करने का कोई खतरा वहाँ न होगा; वहाँ प्रकृति का प्रथम नियम शान्ति होगा। अपनी दुर्बलता की भावना के अतिरिक्त मनुष्य ने शीघ्र ही यह अनुभव किया होगा कि उसकी कुछ आवश्यकतायें हैं; उसे भोजन, वस्त्र तथा रहने के लिए मकान की आवश्यकता है। इन आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए मनुष्य के स्वभाव ने उसे शीघ्र ही अन्य मनुष्यों के साथ संघटित होने के लिए उत्प्रेरित किया होगा। ऐसे समुदाय से मिलने वाले आनन्द ने, विशेष रूप से दूसरे लिंग के प्रति आकर्षण ने, संघटन सूत्र को और भी मज़बूत बना दिया होगा। इसलिए प्रकृति का दूसरा कानून यह है कि जीवन निर्वाह तथा सुरक्षा के लिए मनुष्य को अपने अन्य साथियों के साथ संघटित होना चाहिये। राज्य के मूल के विषय में अफ़लातून ने अपनी 'रिपब्लिक' में जो कुछ कहा है उससे यह धारणा बहुत

मिलती जुलती है। किन्तु यहाँ यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि भोजन प्राप्त करने तथा दूसरों के साथ मिलने जुलने की प्रवृत्ति तो पशुओं में भी होती है; परन्तु इस प्रवृत्ति के कारण वे समाज का निर्माण नहीं करते। मॉण्टेस्क्यू कहता है कि दूसरों के साथ रहने के फलस्वरूप जो ज्ञान प्राप्त होता है वह मनुष्य में अपने साथियों के साथ रहने की इच्छा को दृढ़ कर देता है और उन्हें राज्य का निर्माण करने के लिए प्रेरित करता है। शान्ति तथा भोजन की इच्छा, अन्य मनुष्यों तथा दूसरे लिंग वालों से सम्मिलन से उत्पन्न होने वाला आनन्द और अपने को राज्य में संघटित करने की कामना; इन सब को प्रकृति के विश्वव्यापक तथा अपरिवर्तनशील कानून कहा जा सकता है जिनका स्रोत मानव स्वभाव है और जो मनुष्य के आचरण को अनुशासित करते हैं।

इस विश्लेषण से यह ज़ाहिर होता है कि अपने स्वभाव से ही मनुष्य अपने साथी मनुष्यों से ऐसे बन्धनों से बन्धा हुआ है जिन से वह बच कर नहीं निकल सकता। स्व-हित की भावना इन बन्धनों को और भी दृढ़ कर देती है। इसलिये यह प्रश्न ही नहीं उठता कि समाज कब और किस प्रकार बना; किसी प्रकार की सामाजिक संविदा में उसके मूल को खोजना अनावश्यक है और ग़लत है। समाज में रहना मनुष्य की स्वाभाविक अवस्था है। इस धारणा से व्यक्तिवादी सिद्धान्तों का आधार ही नष्ट हो जाता है जिनकी आधारभूत मान्यता यह है कि समाज एक कृत्रिम तथा मानवीकृत चीज़ है। परन्तु, जैसा कि हम पहिले ही कह चुके हैं, मॉण्टेस्क्यू यह जानता था कि मनुष्य में बुद्धि तत्त्व होने के कारण उसका आचरण केवल प्रकृति के नियमों से ही अनुशासित नहीं हो सकता; प्राकृतिक नियमों की पूर्ति मानवीकृत कानूनों (Positive laws) द्वारा करनी पड़ती है। ये कानून प्रकृति के कानूनों से कई महत्त्वपूर्ण बातों में भिन्न होते हैं। प्रथम तो यह कि उन्हें बनाया जाता है; 'वे विधायक द्वारा बनाये हुए विशिष्ट और सुनिश्चित संस्थान होते हैं।' दूसरे यह कि वे विश्वव्यापक नहीं होते; एक समाज में प्रचलित कानूनों का दूसरे समाजों में भी प्रचलित होना आवश्यक नहीं है। तीसरी बात यह कि वे स्थिर नहीं होते, उनमें परिवर्तन होता रहता है। वे परिवर्तनशील इसलिए होते हैं क्योंकि उनका स्वरूप समाज के स्वरूप के ऊपर निर्भर करता है और उन पर जलवायु, धर्म, पूर्वोक्तियों, नैतिक नियमों इत्यादि का प्रभाव पड़ता है जो कि देश, काल के अनुसार बदलते रहते हैं। अन्तिम बात यह कि प्रत्येक समाज के अन्दर होने वाले परिवर्तन तथा विकास का उन पर प्रभाव पड़ता है। मानवीकृत कानून की उपरोक्त विशेषतायें अन्योन्याश्रित हैं। वे परिवर्तनशील इसलिए होते हैं क्योंकि उनका विकास होता रहता है। वे विश्वव्यापक इसलिए नहीं होते क्योंकि उनका स्वरूप देश, काल की परिस्थितियों तथा एक समाज विशेष के विशिष्ट चरित्र के ऊपर निर्भर करता है।

उपरोक्त विवरण से यह एक आवश्यक परिणाम निकलता है कि एक समाज विशेष का कानून उसके ऊपर बाहर से थोपा हुआ कोई कृत्रिम विधान नहीं है; 'यह

उन बहुत से तथा जटिल, परिवर्धित होने वाले, विकसित होने वाले तथा परिवर्तनशील सम्बन्धों का समूह है जो कि एक समाज में विभिन्न घटकों में परस्पर पाये जाते हैं। अपने सम्पूर्ण रूप में कानून वह चीज़ है जो कि समाज को उसका विशिष्ट तथा अद्वितीय चरित्र प्रदान करता है।'* दूसरे शब्दों में मॉण्टेस्क्यू के हाथों में कानून एक समाजशास्त्रीय घटना, समाज के ताने बाने का एक अंश, हो उठा है। यह एक नवीन दृष्टिकोण था जिसे उसके पूर्व के विचारकों ने नहीं अपनाया ; इसने कानून के तुलनात्मक दृष्टिकोण का सूत्रपात किया।

इस विषय को छोड़ने से पूर्व हमें उस विभाजन का भी उल्लेख करना चाहिये जो कि मॉण्टेस्क्यू ने मानवीकृत कानून का तीन वर्गों में किया है। ये वर्ग हैं : १. अन्तर्राष्ट्रीय कानून, २. राजनीतिक तथा सांविधानिक कानून, तथा ३. नागरिक कानून। इन तीन वर्गों का आधार उन तीन विभिन्न सम्बन्धों में पाया जाता है जो कि व्यक्तियों में परस्पर होता है और उन्हीं सम्बन्धों के वे अनुरूप होते हैं। प्रथम, हम में से प्रत्येक किसी न किसी राज्य का नागरिक होता है और इस नाते दूसरे राज्यों के नागरिकों से सम्बन्धित होता है। इससे अन्तर्राज्य सम्बन्ध की समस्या उत्पन्न होती है। इसी सम्बन्ध से अन्तर्राष्ट्रीय कानून की उत्पत्ति होती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की समीक्षा करने में वह अधिकतर ग्रोशियस का अनुकरण करता है; परन्तु दोनों में एक अन्तर है। वह यह कि मॉण्टेस्क्यू युद्ध के कानून की अपेक्षा शांति धर्म पर अधिक बल देता है। यह समस्त समाजों के लिए सामान्य है और उनके पारस्परिक व्यवहार के विनियमन के लिए आवश्यक है। दूसरे, प्रत्येक व्यक्ति का राज्य तथा सरकार से एक निश्चित सम्बन्ध होता है। जो कानून इस सम्बन्ध को अनुशासित करता है उसे मॉण्टेस्क्यू राजनीतिक कानून की संज्ञा देता है; 'सांविधानिक कानून' इसके लिये अधिक उपयुक्त शब्द हो सकता है। यह सरकार की शक्तियों को सीमित करता है और नागरिक के अधिकारों की रक्षा करता है। तीसरे, प्रत्येक व्यक्ति का राज्य के अन्य घटकों के साथ सम्बन्ध होता है। एक ही राज्य के नागरिकों के परस्पर सम्बन्धों का विनियमन नागरिक कानून द्वारा होता है। इसमें संविदा कानून तथा दण्ड विधान शामिल हैं। राजनीतिक तथा नागरिक कानूनों के क्षेत्र में ही विभिन्न राज्यों में बहुत विविधतायें पाई जाती हैं। ये कानून जनता की आवश्यकताओं के अनुकूल होने चाहियें जो कि समय समय पर बदलती रहती हैं। जो कानून भारतीयों के अनुकूल है, हो सकता है वह अंग्रेज़ों के अनुकूल न हो, और

---

* "It is rather the whole body of relations, multiple and complex, growing, developing, changing, in which the various individuals in a society stand to one another. Law, in its totality, is that which gives a society its particular and unique character.'

—Jones : *op. ct.*, page 230.

जो कानून १६वीं शताब्दी के भारत की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकते थे, हो सकता है वे ३०वीं शताब्दी के भारत में एकदम अनुपयुक्त और अपर्याप्त हों। यह देखना विधायक का कार्य है कि जो कानून वह किसी समाज के लिए बनाये वे राष्ट्र की आत्मा तथा स्वभाव के और जनता के शिक्षात्मक, आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक संस्थानों के अनुकूल हों।

यह बात भी उल्लेखनीय है कि मॉण्टेस्क्यू का यह कथन कि समाज का कानून उसे उसका विशिष्ट स्वरूप प्रदान करता है अरस्तु के इस कथन के सदृश है कि एक राज्य का संविधान उसके लोगों के जीवन तथा चरित्र को निर्धारित करता है; यदि संविधान में परिवर्त्तन होता है तो स्वयं राज्य भी बदल जाता है।

सारांश यह कि अपने सुविख्यात ग्रन्थ 'स्प्रिट ऑफ लॉज़' में मॉण्टेस्क्यू जिस प्रथम आधारभूत सिद्धान्त का निरूपण करता है वह यह है कि समस्त ज्ञान चीज़ों के परस्पर सम्बन्धों को जानना है, और यह कि संसार में प्रत्येक चीज़ का स्वरूप उसके अन्य चीज़ों के साथ सम्बन्ध पर निर्भर करता है। कानूनों को चीज़ों के स्वरूप से उत्पन्न होने वाले आवश्यक सम्बन्ध बतलाते हुए वह इस बात पर ज़ोर देता है कि कानूनों का तत्त्व बहुत सी बातों से निर्धारित होता है जिनमें वह समाज के स्वभाव, आत्मा, आचार विचार, धार्मिक विश्वास, शासन स्वरूप तथा जलवायु, भूमि और दूसरी भौतिक चीज़ों के प्रभाव को शामिल करता है। फलतः वह कानूनों को सामाजिक जीवन की आवश्यक शर्तें समझता है; वे समाज का ताना बाना हैं; वे किसी की मनमानी कृतियाँ नहीं हैं; उन्हें कहीं बाहर से नहीं थोपा गया है। इसके अतिरिक्त, बाह्य परिवेश में निरन्तर परिवर्त्तन होने के कारण कानूनों की परिवर्त्तनशीलता में विश्वास मॉण्टेस्क्यू के सिद्धांत का एक आधारभूत तत्त्व बन गया। इसके दो प्रभाव हुए। यह ऐतिहासिक विचार प्रणाली तथा ऐतिहासिक पद्धति के विकास का आधार बन गया और इसी के कारण तुलनात्मक कानून तथा तुलनात्मक पुराण शास्त्र का जन्म हुआ। फ्रांसीसी संविधान तथा समाज की बढ़ती हुई कठोरता के ऊपर यह एक सूक्ष्म किन्तु खतरनाक प्रहार था।

यद्यपि अरस्तु और बोदाँ ने भी समाज के सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन के ऊपर जलवायु तथा अन्य भौगोलिक तत्त्वों के प्रभाव पर ध्यान दिया था किन्तु मानव जीवन पर भौतिक परिवेश के प्रभाव को मॉण्टेस्क्यू उनसे कहीं अधिक महत्त्व देता है और इस आधार पर कानून तथा राज्य के स्वरूप का एक सांगोपांग सिद्धान्त खड़ा करता है। विस्तार के साथ वह समाज के चरित्र, उसके सामाजिक तथा आर्थिक जीवन, आचार विचार तथा व्यवहार और शासन के रूप पर भूमि तथा जलवायु के प्रभाव का विश्लेषण करता है। इसका अध्ययन हम इसी अध्याय में आगे चल कर करेंगे। यहाँ पर हम केवल इस बात का वर्णन करेंगे कि उसके द्वारा किये गये राज्यों के वर्गीकरण पर इन बातों का क्या प्रभाव पड़ा।

राज्य के रूप— समाज के स्वभाव तथा चरित्र, उसके रस्मोरिवाज, उसके आचार तथा धार्मिक विचारों और शासन तथा राजनीतिक संस्थाओं के रूपों पर भौतिक परिवेश के, विशेषकर भूमि तथा जलवायु के, प्रभाव पर मॉण्टेस्क्यू ने जो इतना अतिरंजित बल दिया है उसके कारण वह इस विषय में कुछ ऐसे परिणामों पर जा पहुंचा है जो कि उसके पूर्ववर्तियों की धारणाओं से एकदम विपरीत हैं। वह न केवल राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा लोकतन्त्र के सरकार के परम्परागत वर्गीकरण का परित्याग करता है बल्कि एक आदर्श रूप से सर्वोत्तम राज्य की धारणा को भी वह असम्भव तथा प्रमादपूर्ण कह कर ठुकरा देता है। अन्तिम बात को हम पहिले लेंगे।

मॉण्टेस्क्यू इस बात का घोर विरोध करता है कि सरकार का कोई रूप-विशेष प्रत्येक परिस्थिति में दूसरे प्रकार की सरकारों से श्रेष्ठतम और फलतः सर्वश्रेष्ठतम होता है। ऐसी धारणा को वह मूर्खता समझता है। यह धारणा समस्या के प्रति एक निर्विकल्प दृष्टिकोण का परिणाम है। इस प्रकार के दृष्टिकोण को उसके सापेक्षिकता (Relativity) के सिद्धान्त में कोई स्थान नहीं। 'यदि यह बात सत्य है कि मनुष्य का स्वभाव तथा मानसिक प्रवृत्तियाँ विभिन्न जलवायु में एकदम विभिन्न होती हैं तो कानूनों को भी भावनाओं तथा स्वभाव की विविधता के अनुरूप ही होना चाहिये।' जो कानून तथा राजनीतिक संस्थान ठण्डे उत्तरी प्रदेशों के निवासियों के लिए अनुकूल हो सकते हैं उनका गर्म प्रदेशों के रहने वालों के लिये उपयुक्त होना सम्भव नहीं। इसलिये इस प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व कि शासन का गणतन्त्र रूप श्रेष्ठ है या राजतन्त्र हमें यह प्रश्न पूछना चाहिये: 'कब, कहाँ और किसके लिए?' इसलिए अफ़लातून, मोर तथा रूसो सरीखे विचारकों के एक आदर्श सर्वश्रेष्ठ राज्य की रचना करने का प्रयास मॉण्टेस्क्यू को निरर्थक लगता है। ज़ाहिर है कि मॉण्टेस्क्यू इस धारणा का तिरस्कार इसलिये करता है क्योंकि उसका विश्वास है कि शासन का रूप भौतिक परिवेश के ऊपर निर्भर करता है जो देश देश में भिन्न भिन्न होता है।

जहाँ तक कि राज्यों के वर्गीकरण के प्रश्न का सम्बन्ध है, वह राजतन्त्र, कुलीनतंत्र तथा जनतन्त्र के परम्परागत वर्गीकरण के स्थान में एक नवीन योजना प्रस्तुत करता है। राज्यों के वह तीन विभेद करता है जो ये हैं: गणराज्य, राजतन्त्र, तथा निरंकुश राज्य। प्राचीन वर्गीकरण के विरुद्ध उसकी मुख्य आपत्ति यह है कि वह सरकार के आन्तरिक सिद्धान्तों पर आधारित नहीं था बल्कि राज्य के केवल बाह्य रूप और संस्थानात्मक व्यवस्था पर ही ध्यान देता था। मॉण्टेस्क्यू ने राज्य के तीन रूपों की जो परिभाषायें दी हैं उनमें भी यही दोष है; इनमें और प्राचीन परिभाषाओं में कोई महत्त्वपूर्ण भेद दिखलाई नहीं पड़ता। परन्तु सरकार के इन तीन रूपों के सिद्धान्तों की समीक्षा करने में वह एक नवीन आधार प्रस्तुत करता है; यहाँ पर उसका दृष्टिकोण अपने पूर्व-

वर्तियों से भिन्न हो गया है। राजनीतिक सिद्धान्त को उसकी देन वे परिणाम नहीं हैं जिन पर वह राज्यों के वर्गीकरण के विषय में पहुँचा है; इस विषय में तो उसने काफी बातें गलत भी कही हैं। उसकी देन तो इस बात में है कि उसने शासन व्यवस्था तथा उसे गति प्रदान करने वाली मानव भावनाओं के मध्य निकट सम्बन्ध को देखा। सामाजिक परि-स्थितियों तथा शासन व्यवस्था और उसके कानूनों के मध्य सम्बन्ध पर जोर देना मॉण्टेस्क्यू का एक बहुत बड़ा गुण था। मॉण्टेस्क्यू राज्यों को गणराज्य, राजतन्त्र तथा निरंकुश राज्यों में वर्गीकृत करता है और गणराज्य के दो रूपों— लोकतन्त्र तथा कुलीनतन्त्र में विभेद करता है। गणतन्त्र वह राज्य होता है जिसमें सर्वोच्च शक्ति समस्त नागरिकों अथवा उनके एक भाग में निहित होती है। जिस राज्य के ऊपर एक ही व्यक्ति कुछ सुनिश्चित कानूनों द्वारा शासन करता है वह राजतंत्र होता है और यदि वह व्यक्ति बिना ही सुनिश्चित कानूनों के प्रत्येक कार्य अपने मनमाने ढंग से करता है तो वह राज्य निरंकुशवादी हो जाता है। जिस गणराज्य में सर्वोच्च शक्ति समस्त नागरिकों के हाथ में रहती है वह लोकतंत्री है और जिसमें सर्वोच्च शक्ति नागरिकों के केवल एक भाग में ही होती है, वह कुलीनतन्त्री है।

यह वर्गीकरण संतोषजनक नहीं है। पहिली आपत्ति तो इसके विरुद्ध यह उठाई जा सकती है कि यह लोकतन्त्र तथा कुलीनतन्त्र को गणतंत्रवादी रूप के ही उपविभाग समझने की गलती करता है। शासन के इन दो रूपों में अन्तर का वर्णन मॉण्टेस्क्यू ने जिस भाषा में किया है उससे यह व्यंजित होता है कि उसके मतानुसार लोकतन्त्र में सर्वोच्च शक्ति नागरिकों के हाथ में रहती है और उसका निर्देशक सिद्धांत विशुद्ध धर्म (virtue) होता है, और कुलीनतन्त्र में सर्वोच्च शक्ति नागरिकों के एक भाग में ही रहती है और उसका निर्देशक सिद्धान्त मध्यम धर्म होता है। वास्तव में लोकतंत्र तथा कुलीनतन्त्र का अन्तर इससे कहीं अधिक गहरा है। इन दो शब्दों की पुरानी परिभाषायें जो कि सरकार के इन दो रूपों में गुणात्मक विभेद करती थीं, सत्य के अधिक निकट थीं। मॉण्टेस्क्यू के वर्गीकरण का एक दूसरा दोष यह है कि यह निरंकुश शासन तथा सरकार के अन्य दो रूपों को एक ही स्तर पर रखता है। यह कहना अनुचित न होगा कि निरंकुश राज्य एक सच्चा राज्य ही नहीं होता; इसमें कोई सुनिश्चित कानून नहीं होते; इसलिये इसे राज्यों की किसी श्रेणी में भी नहीं रखा जा सकता। तीसरी बात यह कि मॉण्टेस्क्यू का यह वर्गीकरण किसी एक ही सिद्धान्त के ऊपर आधारित नहीं है। गणतन्त्र तथा राजतन्त्र का विभेद उन व्यक्तियों की संख्या के ऊपर आधारित है जिनके हाथ में सर्वोच्च शक्ति रहती है, जबकि राजतन्त्र तथा निरंकुशतन्त्र का विभेद इस बात के ऊपर आधारित किया गया है कि सरकार की शक्तियों का प्रयोग किस प्रकार किया जाता है। इस बात के ऊपर अधिक ज़ोर देना आवश्यक नहीं। सरकार के इन रूपों के सिद्धान्तों के विषय में मॉण्टेस्क्यू के विचारों को जानना अधिक शिक्षाप्रद होगा।

राज्य के संविधान तथा जिसे वह राज्य का सिद्धान्त कह कर पुकारता है उसमें विभेद का मॉण्टेस्क्यू के सिद्धान्त में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है, इसलिए हमें उसकी व्याख्या करनी चाहिये। राज्य का संविधान अथवा स्वरूप इस बात के ऊपर निर्भर करता है कि उसमें सर्वोच्च शक्ति का निवासस्थान कहाँ है और किस प्रकार उसका प्रयोग होता है ; उसमें वे कानून सम्मिलित हैं जो कि प्रत्यक्ष रूप से इससे निःसृत होते हैं। जब हम यह कहते हैं कि गणतन्त्र में शासन की सर्वोच्च शक्ति सम्पूर्ण जनता अथवा उसके किसी अंश में रहती है ; राजतन्त्र में सर्वोच्च शक्ति का प्रयोग एक ही व्यक्ति कुछ सुनिश्चित कानूनों के अनुसार करता है और निरंकुशशाही में यह शक्ति एक ही व्यक्ति के हाथ में रहती है, परन्तु उसका प्रयोग वह मनमाने ढंग से और बिना किसी कानून का आश्रय लिये हुए ही करता है, तो हम राज्य के स्वरूप का वर्णन करते हैं।

राज्य के सिद्धान्त से मॉण्टेस्क्यू का अभिप्राय उस ध्येय से है जो कि नागरिकों को कानून के अनुसार आचरण करने को उत्प्रेरित करता है ; उन मानवीय भावनाओं से है जो कि शासन यन्त्र को प्रेरक शक्ति प्रदान करती हैं। गणतन्त्र का सिद्धान्त सदाचार (Virtue), राजतन्त्र का सम्मान भावना (Honour) तथा निरंकुशवाद का भय है।

जो सदाचार गणतन्त्र का सिद्धान्त है वह इस शब्द की ईसाई धर्म की धारणा के अनुरूप नहीं है ; यहाँ पर अभिप्राय उसके राजनीतिक महत्त्व का है जैसा कि प्राचीन यूनानी तथा रोम निवासी उसे समझते थे। इसका अर्थ है राजनीतिक ईमानदारी, देश-भक्ति की भावना तथा समता का प्रेम ; यह प्रलोभन, विलासिता तथा स्वार्थमय महत्त्वाकांक्षा का बिल्कुल उल्टा है। यह तुरन्त और स्वतः उत्पन्न होने वाली भावना है ; ज्ञान और विचार की उत्पत्ति नहीं। यह एक ऐसी भावना है जो कि राज्य के निम्नतम तथा उच्चतम व्यक्ति में उत्पन्न हो सकती है। जिन लोगों में यह भावना होगी उनमें न तो अत्यधिक अभिमान होगा और न मिथ्याचार ; उनमें शिष्टता तथा संतुलन होगा। क्योंकि जनतन्त्र तथा कुलीनतन्त्र गणतन्त्र के उपविभाग हैं, इसलिये उनमें भी यही सिद्धान्त पाया जायेगा। जनतन्त्र में सदाचार का सिद्धान्त अधिक पूर्ण रूप में वर्तमान रहता है, किन्तु कुलीनतन्त्र में वह मध्यम रूप में ही पाया जाता है। कुलीनतन्त्र में शासक वर्ग शासन का कार्य समस्त के हितों को ध्यान में रखते हुए करता है। इस प्रकार मध्यमता शासन के इस रूप की आत्मा हैं, किन्तु यह मध्यमता सदाचार के ऊपर आधारित है।

राजतन्त्र का सिद्धान्त है सम्मान अथवा गौरव भावना। यही राज्य के समस्त अंगों को गति प्रदान करता है और उन्हें एक दूसरे से सम्बद्ध करता है। इसी के कारण प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने ही हितों के बारे में सोचते हुए भी समस्त के कल्याण के लिए कार्य करता है। यह उन अधिकारों तथा विशेषाधिकारों की उत्कृष्ट भावना है जिनका उपभोग राज्य में कुछ प्रमुख व्यक्ति तथा वर्ग करते हैं। अपने प्रतिरक्षण के लिए व्यक्ति

उसी भावना और योग्यता का परिचय देंगे जो कि एक लोकतन्त्र में समता की भावना द्वारा जनता में प्रकट होती है।

निरंकुश शासन का सिद्धान्त है भय। राजतन्त्र और निरंकुशतन्त्र में भेद यह है कि राजतन्त्र के विपरीत उसमें कोई आधारभूत कानून नहीं होते जो कि शासक की मनमानी को संयत कर सकें। इसीलिए इसे कानूनहीन राज्य कहा जाता है। इसमें विशेषाधिकारों का उपभोग करने वाले व्यक्ति अथवा वर्ग नहीं होते; प्रत्येक व्यक्ति शासक की इच्छा के अधीन होता है और किसी भी समय किसी भी व्यक्ति को कुचल डालने की शक्ति शासक को प्राप्त होती है। इसलिए एक निरंकुश राज्य में न तो सदाचार का कोई स्थान हो सकता है और न गौरव भावना का; इसमें जनता को नियन्त्रण में रखने का शासक के पास एकमात्र साधन भय होता है।

इस प्रसंग में हमें यह याद रखना चाहिये कि मॉण्टेस्क्यू के कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि नागरिक गण वास्तव में सदाचार का पालन करते हैं और राजतन्त्र में सचमुच गौरव भावना से प्रेरित होते हैं। उसका तात्पर्य केवल यह है कि गणतन्त्र की सफलता के लिये नागरिकों में सदाचार की भावना होना आवश्यक है। एक राजतन्त्र में सम्मान भावना वही कार्य करती है जो कि समता तथा देश-प्रेम की भावनायें एक गणतंत्र में करती हैं। विधिनिर्माता को इससे एक सबक सीखना चाहिये। एक समाज विशेष के लिए एक विशिष्ट प्रकार के शासन का अनुमोदन करने तथा उसके लिये कानून बनाने से पहिले उसे यह देख लेना चाहिये कि साधारणतया उसके नागरिक किस ध्येय से उत्प्रेरित होते हैं। अन्यथा ऐसा हो सकता है कि विधिनिर्माता किसी ऐसी शासन पद्धति की प्रस्थापना कर दे जो कि जनता की भावनाओं के अनुकूल न हो। इससे यह तो स्पष्ट रूप से लक्षित ही है कि जो सरकार एक समूह के लिये उपयुक्त है वह दूसरे समूह के लिए नितान्त अनुपयुक्त हो सकती है। समस्त मनुष्य के लिये समस्त देश काल में किसी एक ही प्रकार की शासन पद्धति समान रूप से सम्भव तथा उपयुक्त नहीं हो सकती।

यह बताने के लिये कि किस प्रकार कानून, शिक्षा पद्धति, तथा कर प्रणाली विभिन्न सरकारों के अन्तर्गत विभिन्न होते हैं और प्रत्येक सरकार इनका निर्माण अपने समाज में अपने रूप के अनुकूल भावनायें उत्पन्न करने के लिये करती है, मॉण्टेस्क्यू ने जो विस्तार-पूर्वक वर्णन किया है उस सब का अध्ययन करना बड़ा नीरस है और वह अधिक लाभप्रद भी न होगा। अतः उसे हम छोड़े देते हैं। अब हम उन कारणों की विवेचना करेंगे जो कि सरकारों में परिवर्तन लाते हैं अथवा क्रान्तियाँ उत्पन्न करते हैं।

क्रांतियों के कारण— ऊपर बताया जा चुका है कि यदि सरकार के ढाँचे तथा उसकी संस्थाओं और जनता की भावना में ताल-मेल और सामंजस्य है तो वह सरकार सफल होगी और कायम रहेगी। परन्तु मॉण्टेस्क्यू के सिद्धान्त में किसी सरकार

विशेष की अच्छाई इतनी सापेक्षिक चीज़ है कि उसके स्थायी होने की आशा नहीं की जा सकती। सम्पूर्ण प्रकृति के सदृश हर प्रकार की सरकार में परिवर्तन आते रहते हैं और उसका ह्रास होता रहता है। राज्यों के इस उत्थान-पतन को मॉण्टेस्क्यू देखता है और उनकी समीक्षा करता है। उसकी धारणा है कि इस उत्थान-पतन के मूल में सामान्य कारण होते हैं; यह केवल संयोग का परिणाम नहीं होता। ये सामान्य कारण विभिन्न मामलों में विभिन्न हो सकते हैं; किन्तु आधारभूत कारण सदैव एक रहता है। यह आधारभूत कारण है उस सिद्धान्त का भ्रष्ट होना जिसके ऊपर कि सरकार आधारित होती है। सरकार का रूप चाहे कुछ भी क्यों न हो जब उसके आधारभूत सिद्धान्त की अति हो जाती है और उसका प्रयोग व्यक्तिगत हितों की साधना के लिये किया जाता है तो ऐसे कारण उत्पन्न हो जाते हैं जो कि सरकार की जड़ें हिला देते हैं और अन्त में उसका अन्त कर देते हैं। जब सदाचार का ह्रास हो जाता है और नागरिक लोभी तथा स्वार्थी बन जाते हैं तो गणतन्त्र का स्थान निरंकुशतंत्र अथवा शासन का अन्य कोई रूप ले लेता है; जब राजतन्त्र में विशेषाधिकार युक्त वर्ग में सम्मान भावना नष्ट हो जाती है तो उसका पतन निश्चित हो जाता है। इसी प्रकार जब जनता में से स्वतन्त्रता की भावना जाती रहती है तो लोकतन्त्री शासन का ह्रास अवश्यम्भावी हो जाता है। विशेषाधिकार युक्त वर्गों में मध्यम भावना न रहने पर कुलीनतन्त्र का अंत हो जाता है।

इस विश्लेषण में तथा अफलातून द्वारा किये हुए तद्विषयक विश्लेषण में कोई आधारभूत भेद नहीं है। यूनानी दार्शनिक की भी यही धारणा थी कि क्रांति के कारण राज्य के अन्दर से ही उत्पन्न होते हैं, वे कहीं बाहर से नहीं आते। उसने भी अति के सिद्धान्त पर जोर दिया था। परन्तु अफलातून, अरस्तु तथा पोलिबियस के विपरीत वह यह नहीं कहता कि सरकारों में परिवर्तन किसी क्रम के अनुसार होता है जैसा कि वर्ष की ऋतुओं में होता रहता है; शासन परिवर्तन का कोई चक्र वह हमारे सामने नहीं रखता। इस विषय का अधिक विस्तारपूर्वक विवरण देना अनावश्यक है।

इस विषय को समाप्त करने से पूर्व मॉण्टेस्क्यू के एक प्रसिद्ध सिद्धान्त का उल्लेख किया जाना चाहिये। उसका विश्वास था कि राज्य के आकार तथा उसकी सरकार के रूप में परस्पर सम्बन्ध होता है। छोटे राज्यों के लिये गणतन्त्र, मध्याकार राज्यों के लिए राजतंत्र, तथा बड़े राज्यों के लिए निरंकुशतंत्र सब से अधिक उपयुक्त होता है।

यदि राज्य के आकार में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होता है तो उसकी सरकार के रूप में भी आमूलचूल परिवर्तन होने की सम्भावना रहती है। एक राजतन्त्र के भौगोलिक क्षेत्र का बहुत बड़ा विस्तार होने से ऐसी शक्तियों का जन्म होता है जोकि उसे निरंकुश-तंत्र बना देती हैं। इसी प्रकार यदि कोई गणराज्य क्षेत्र-प्रसरण की नीति अपनाता है तो उससे उसका समता का सिद्धान्त, देश-प्रेम तथा ईमानदारी खतरे में पड़ जाते हैं। परन्तु छोटा होने पर इस पर शक्तिशाली शत्रुओं के आक्रमण का खतरा रहता है।

अपनी रक्षा करने में छोटे राज्यों को जो कठिनाई पड़ती है उसको ध्यान में रखते हुए माण्टेस्क्यू ने संघवाद (Federalism) के सिद्धान्त का समर्थन किया। संघवाद में एक गणराज्य अपने क्षेत्र का प्रसार भी कर सकता है और उसके साथ ही साथ अपनी भावना और सिद्धान्तों को भी सुरक्षित रख सकता है; इस प्रकार इसमें अपनी गणतंत्री भावना को खोये बिना ही आत्मरक्षा सम्भव हो सकती है। कहा जाता है कि मॉण्टेस्क्यू की धारणा के संघवाद ने संविधान बनाते समय अमेरिका वालों को बहुत प्रभावित किया था। तदुपरान्त घटनाओं ने मॉण्टेस्क्यू के सुझाव की बुद्धिमत्ता को सिद्ध कर दिया है। संघवाद एक ऐसा साधन है जो कि लोकतंत्र को बड़े राज्यों में सम्भव बनाता है।

हम सरलतापूर्वक नहीं जान सकते कि मॉण्टेस्क्यू अपने इस परिणाम पर किस कारण पहुँचा कि राज्य के आकार तथा उसकी सरकार के रूप में गहरा सम्बन्ध है। हो सकता है कि यह उन सिद्धान्तों का परिणाम हो जिनके ऊपर कि सरकार के तीन रूप आधारित हैं, अथवा वह उसके पर्यवेक्षण तथा तुलनात्मक अध्ययन का परिणाम हो। प्रोफेसर सैबाइन की धारणा ऐसी मालूम होती है कि मॉण्टेस्क्यू के सिद्धान्त की मुख्य रूपरेखा अनुभवसम्मत विचारों से नहीं बल्कि वह फ्रांस के लिए क्या वांछनीय समझता था उससे निर्धारित हुई थी। वह चाहता था कि फ्रांस उसकी कल्पना का राजतंत्र रहे और एक निरंकुशतंत्र न बने जैसा कि वह लुई चतुर्दश तथा रिशलू की नीतियों के परिणाम-स्वरूप बन गया था। आजकल उसको कोई महत्त्व नहीं दिया जाता।

व्यक्ति की स्वतंत्रता तथा शक्ति पृथक्करण— 'स्प्रिट ऑफ लॉज़' में उपरोक्त विषयों की अपेक्षा स्वतंत्रता की धारणा का अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस विषय में मॉण्टेस्क्यू के विचारों की विवेचना यद्यपि औपचारिक रूप से इस ग्रंथ के कुछ ही प्रकरणों में दी गई है, किन्तु उनका प्रभाव प्रायः इस सम्पूर्ण महान् ग्रन्थ में पाया जाता है। यह इस बात से ज़ाहिर है कि यद्यपि वह स्वतन्त्रता की इच्छा को उन प्रकृति के कानूनों में शामिल नहीं करता जो कि मनुष्य के अस्तित्व तथा स्वभाव से निःसृत होते हैं, तथापि वह स्वीकार करता है कि स्वतन्त्रता का प्रेम तथा शक्ति के लिये घृणा मानव जाति के लिये स्वाभाविक हैं। सुरक्षा शब्द की तनिक अधिक उदार व्याख्या यदि हम करें तो यह कहा जा सकता है कि मॉण्टेस्क्यू के अनुसार समस्त सरकार का उद्देश्य स्वतन्त्रता को कायम रखना है। इस विषय पर उसके विचारों का आने वाले विचार पर भारी प्रभाव पड़ा। अमेरिका के, जहाँ कि उसकी कृतियों को व्यापक रूप से पढ़ा गया, संविधान-निर्माताओं पर उनका विशेष प्रभाव पड़ा।

आरंभ में ही हम मॉण्टेस्क्यू की एक गम्भीर धारणा की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। उसका विश्वास था कि संविधान में अधिकार-पत्र के दे देने से ही नागरिकों की स्वतन्त्रता सुरक्षित नहीं हो जाती। कागज़ी घोषणाओं का अधिक मूल्य नहीं होता।

कानून के शब्द इतने महत्त्वपूर्ण नहीं होते जितनी कि वह भावना जिसमें कि उसे क्रियान्वित किया जाता है। संविधान द्वारा मान्य अधिकार मूल्यहीन हैं यदि कानून के ऊपर अमल न किया जाये। सारांश यह कि किसी राज्य में नागरिकों को कहाँ तक स्वतन्त्रता प्राप्त है, इस बात का पता सरकार की प्रवृत्ति तथा भावना का परीक्षण करके ही लगाया जा सकता है, केवल कानूनी पुस्तकें पढ़ कर नहीं।

मॉण्टेस्क्यू कहता है कि स्वतन्त्रता का व्यापकतम अर्थ यह है कि व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुसार कार्य कर रहा है। जब उसे अपनी इच्छा के विरुद्ध कार्य करना पड़ता है तो वह स्वतन्त्र नहीं रह जाता। जो कुछ गत पैरे में कहा गया है उसके यह कथन बिल्कुल अनुकूल है और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से इस पर कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। परन्तु एक राजनीतिक धारणा के रूप में स्वतन्त्रता की यह एक अपूर्ण व्याख्या है; यह स्वतन्त्रता तथा नैसर्गिक स्वतन्त्रता में कोई स्पष्ट विभेद नहीं करती। इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता को मनचाही करने की शक्ति समझना भूल होगी। राजनीतिक स्वतन्त्रता अनियंत्रित स्वाधीनता कभी नहीं हो सकती। जैसा कि मॉण्टेस्क्यू स्वयं स्वीकार करता है, "राज्य में, अर्थात् कानून द्वारा निर्देशित समाज में, स्वतन्त्रता का अर्थ है कि एक व्यक्ति को उन कामों के करने की स्वाधीनता हो जो कि करने योग्य हैं और जो काम न करने चाहियें उनको करने के लिए उसे विवश न किया जाये।" व्यक्ति को क्या इच्छा करनी चाहिये इसके सर्वश्रेष्ठ सूचक राज्य के कानून हैं। इसलिए मॉण्टेस्क्यू इस परिणाम पर पहुँचता है कि स्वतन्त्रता 'वह कार्य करने का अधिकार है जिसकी कि कानून इजाज़त देते हैं, और यदि नागरिक ऐसे कार्य कर सकता है जिसका कि कानून निषेध करते हैं तो उसके पास स्वतन्त्रता न रह जायगी; क्योंकि अन्य समस्त नागरिकों को भी वैसी ही शक्ति प्राप्त होगी।' सारांश यह है कि मॉण्टेस्क्यू के अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ कानून के अनुसार आचरण करना है।

यह परिभाषा केवल तभी स्वीकार की जा सकती है जबकि राज्य के वे कानून जो कि हमारे आचरण को विनियमित तथा निर्धारित करते हैं सद् के मूलभूत सिद्धान्तों पर आधारित हों और जिनका सामंजस्य जनता के नैतिक विश्वासों के साथ किया जा सके। हम मान सकते हैं कि एक अच्छे राज्य के कानूनों में यह गुण होगा। किन्तु जब राज्य के कानून तथा एक व्यक्ति के नैतिक विश्वासों में संघर्ष होता है तो एक कठिन समस्या खड़ी हो जाती है। जब एक व्यक्ति को एक ऐसे कानून के अनुसार आचरण करने के लिये बाध्य किया जाता है जिसे कि उसकी बुद्धि अच्छा नहीं समझती तो क्या वह स्वतन्त्र रह जाता है? मॉण्टेस्क्यू इस कठिनाई को जानता है; वह यह भी जानता है कि विभिन्न सरकारें विभिन्न समयों पर विभिन्न कानून बनाती हैं। किन्तु उसका विश्वास था कि प्रत्येक सरकार स्व-संगतिबद्ध होगी और नागरिकों को कानूनों के विषय में अनिश्चित स्थिति में नहीं छोड़ेगी। स्वतन्त्रता प्राप्त

करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि कानून सद् ही हों; उसके लिए आवश्यक यह है कि नागरिक कानूनों को जानें और केवल कानून को भंग करने पर ही उन्हें दण्ड दिया जाये। नागरिकों द्वारा उपभोग की हुई स्वतन्त्रता की मात्रा तथा स्वरूप कानून के स्वरूप के अनुसार विभिन्न हो सकते हैं; किन्तु कानून के अभाव में तो किसी भी प्रकार कोई सुरक्षा और कोई स्वतन्त्रता न रह जायेगी; व्यक्ति अपने को एक अथाह सागर में पायेगा। जहाँ तक कि एक समान तथा निश्चित कानून स्वतन्त्रता के उपभोग की एक शर्त है, मॉण्टेस्क्यू का आधार दृढ़ है। उसके सिद्धान्त का केन्द्र-बिन्दु यह है कि स्वतन्त्रता कानूनों के प्रति अधीनता में है, मनुष्य के प्रति अधीनता में नहीं। एक व्यक्ति स्वतन्त्र तभी तक है जब तक कि उसे ऐसे काम करने के लिये विवश न किया जाये जिन्हें कि कानून अनिवार्य नहीं ठहराता और उसे ऐसे काम करने से न रोका जाये जिनकी कि कानून इजाज़त देता है। समस्या यह है कि मनुष्य के शासन के बजाय कानून द्वारा शासन की स्थापना कैसे की जाये।

नागरिकों के मामलों में लोभी तथा अनुत्तरदायी सरकारी कर्मचारियों के अनुचित हस्तक्षेप को कैसे रोका जाये? मॉण्टेस्क्यू के अनुसार इस समस्या का निराकरण है शक्ति पृथक्करण जोकि उसके विश्वासानुसार ब्रिटिश संविधान में पाया जाता था। लगभग दो वर्ष तक ब्रिटेन में ठहरने के समय वह ब्रिटिश जनता द्वारा उपभुक्त स्वतन्त्रता से बहुत प्रभावित हुआ। इसका कारण उसने उन सांविधानिक सीमाओं में देखा जोकि राजा की मनमानी शक्तियों के प्रयोग पर लगाई गई थीं। दूसरे शब्दों में, उस स्वतन्त्रता का कारण उसने उस ढंग में देखा जिसमें कि सरकार के तीन कार्य— व्यवस्थापिक, कार्यपालिक तथा न्यायपालिक को एक दूसरे से पृथक् किया गया और उन्हें विभिन्न व्यक्तियों को सौंपा गया था। मॉण्टेस्क्यू के **शक्ति पृथक्करण** के सिद्धान्त का वर्णन उसी के शब्दों में करना अधिक अच्छा होगा। वह लिखता है:

'प्रत्येक सरकार में तीन प्रकार की शक्तियाँ— व्यवस्थापिक, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के ऊपर निर्भर बातों के विषय में कार्यपालिक, तथा नागरिक कानून के ऊपर निर्भर बातों के विषय में न्यायपालिक।

'पहिली शक्ति के आधार पर राजा अथवा न्यायरक्षक अस्थायी अथवा स्थायी कानून बनाता है और पहिले बनाये हुए कानूनों में संशोधन करता है या उन्हें रद कर देता है। दूसरी शक्ति के अनुसार वह संधि अथवा युद्ध करता है, राजदूतों को भेजता अथवा उनका स्वागत करता है, सार्वजनिक सुरक्षा की स्थापना करता है, तथा बाहरी आक्रमणों के विरुद्ध व्यवस्था करता है। तीसरी शक्ति द्वारा वह अपराधियों को दण्ड देता है, तथा व्यक्तियों के परस्पर झगड़ों का निर्णय करता है। अन्तिम शक्ति को हम राज्य की न्यायिक शक्ति तथा अन्य को केवल कार्यपालिक शक्ति कहेंगे।

'प्रजा की राजनीतिक स्वतन्त्रता वह मानसिक शान्ति है जोकि प्रत्येक व्यक्ति में

अपनी सुरक्षा के विश्वास से उत्पन्न होती है। स्वतन्त्रता के लिये यह आवश्यक है कि सरकार का निर्माण इस प्रकार किया जाये कि एक व्यक्ति को दूसरे का कोई भय न रहे।

'जब व्यवस्थापिक तथा कार्यपालिक शक्तियाँ एक ही व्यक्ति अथवा एक ही व्यक्ति-समूह में केन्द्रित हो जाती हैं तो स्वतन्त्रता नहीं रह सकती; क्योंकि यह आशंका हो सकती है कि एक ही राजा अथवा परिषद् आततायी कानून बनाले और उन्हें आततायी-पूर्ण ढंग से क्रियान्वित करे।

'फिर, कोई स्वतन्त्रता नहीं हो सकती, यदि न्यायिक शक्ति को व्यवस्थापिक तथा कार्यपालिक शक्ति से अलग न कर दिया जाये। यदि इसे व्यवस्थापिक शक्ति के साथ मिला दिया जाये तो प्रजा के जीवन तथा स्वतंत्रता पर मनमाना नियंत्रण कायम हो जायेगा क्योंकि तब न्यायाधीश ही व्यवस्थापिक होगा। यदि इसे कार्यपालिक शक्ति के साथ मिला दिया जाये तो न्यायाधीश हिंसा तथा दमन से काम ले सकता है।

'यदि एक ही मनुष्य अथवा निकाय को, चाहे वह सामन्तों का हो अथवा जन-साधारण का, कानून बनाने, कानूनों को क्रियान्वित करने तथा व्यक्तियों के मामलों का न्याय करने की तीनों शक्तियाँ सौंप दी जायें तो फिर सर्वनाश ही हो जायेगा।'

(*Spirit of Laws*, Book XI, Chapter 6).

शक्ति पृथक्करण के जिस सिद्धान्त को ऊपर प्रतिपादित किया गया है वह सरकार को इस प्रकार से संघटित करने की एक कला है जिससे कि एक ही व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह के हाथों में शासन की सम्पूर्ण शक्ति केन्द्रित न होने पाये, क्योंकि शक्ति के इस प्रकार केन्द्रीकृत हो जाने से उसका दुरुपयोग अपरिहार्य है। क्रान्ति होने तक फ्रांस के राजा तथा १६८८ ई० की गौरवशाली क्रांति (Glorious Revolution) से पहले ब्रिटिश राजा निरंकुश तथा अपरिमित शक्ति का प्रयोग इसलिये कर सके क्योंकि व्यवस्थापिक, कार्यपालिक, तथा न्यायपालिक तीनों शक्तियाँ उन्हीं के हाथों में केन्द्रित थीं। आधुनिक तानाशाह भी इतना शक्तिशाली इसीलिये होता है क्योंकि वह समस्त शक्तियाँ अपने ही हाथों में केन्द्रित रखता है। इसलिये मॉण्टेस्क्यू की यह धारणा एकदम सही थी कि शक्ति के दुरुपयोग तथा मनमाने प्रयोग को रोकने के लिये तीनों शक्तियों को एक दूसरे से पृथक् किया जाना चाहिये और उन्हें विभिन्न हाथों में सौंपना चाहिये। इस प्रकार एक साधारण ढंग से इस सिद्धान्त की सत्यता में कोई संदेह नहीं हो सकता। अमेरिका में संविधान-निर्माताओं ने इसे अपनाया और तभी से इसका बहुत प्रचलन रहा है। फ्रांस के क्रान्तिकारियों को भी इसने प्रभावित किया। परन्तु आज इसके औचित्य पर आपत्ति की जा रही है। सरकार की शक्ति के दुरुपयोग से व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा के अन्य तथा श्रेष्ठतर साधन खोज निकाले गये हैं, उदाहरण के लिये, कार्यपालिका का व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायित्व, समय पर नियमित रूप से निर्वाचन, नागरिकों के मूल अधिकार, जबकि कभी कभी

अमेरिका में होने वाले व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका के मध्य गतिरोधों से इस सिद्धान्त के अन्तर्हित खतरे सामने आये हैं।

मॉएटेस्क्यू के विषय में कहा जा सकता है कि उसने ब्रिटिश संविधान को पूर्ण रूप से ठीक ठीक नहीं समझा। जहाँ तक कि राजा की मनमानी शक्तियों के ऊपर कुछ सीमायें लगा दी गई थीं वहाँ तक तो वह ठीक था और जिस हद तक कि ब्रिटेन में यह भावना थी कि न्यायालयों को राजा से स्वतन्त्र कर देना चाहिये, और राजा तथा संसद में संतुलन स्थापित कर देना चाहिये, वहाँ तक भी वह सही था। परन्तु कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका में पूर्ण पृथक्करण तब न हो पाया था; वह आज तक भी नहीं हो पाया है। संसदात्मक शासन प्रणाली का आधारभूत तत्त्व यही है कि शासन के इन दो अंगों को अन्योन्याश्रित रहना चाहिये, एक दूसरे से स्वाधीन नहीं। अपने स्वभाव से ही वे एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होते हैं; कार्यपालिका व्यवस्थापिका को नेतृत्व प्रदान करती है जिसके अभाव में व्यवस्थापिका का एक संगठित रूप में कार्य करना कठिन होगा; और व्यवस्थापिका कार्यपालिका को उत्तरदायी बनाती है। इस सिद्धान्त में सत्य केवल इतना है कि नागरिकों के अधिकारों तथा स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के लिये न्यायपालिका को कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका, इन दोनों से स्वतन्त्र रखना आवश्यक है।

यह बात उल्लेखनीय है कि मॉएटेस्क्यू द्वारा विकसित शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त का अधिकांश लॉक की पुस्तक 'Treatise on Civil Government' से लिया गया है। उस पुस्तक में लॉक ने सरकार की शक्तियों को व्यवस्थापिक, संघकारी तथा कार्यपालिक में विभक्त किया था। यह वही चीज है जो कि हम उपरोक्त मॉएटेस्क्यू के दीर्घ उद्धरण के प्रथम पैरा में पाते हैं। मॉएटेस्क्यू ने इनके नामों को बदल दिया और इन्हें व्यवस्थापिक कार्यपालिक तथा न्यायपालिक कहकर पुकारा। ये नाम आज भी प्रचलित हैं। इस सिद्धांत के विकास में मॉएटेस्क्यू की जो देन है वह यह है कि उसने संविधान के अंगों में नियन्त्रण तथा संतुलन की कानूनी व्यवस्था की है। यद्यपि ये तीनों अंग अलग अलग होते हैं और प्रत्येक के अपने कार्य तथा शक्तियाँ होती हैं; तथापि वे एक दूसरे के पूरक भी होते हैं, वे एक ही इकाई के भाग होते हैं। उनकी स्वाधीनता उनके एक दूसरे को संयत करने की शक्ति का आधार बन जाती है। अन्य अंगों की सहमति के बिना ही नागरिकों के ऊपर अपनी इच्छा को थोपने से व्यवस्थापिका को रोकने के लिए कार्यपालिका को वीटो का अधिकार होना चाहिये; कार्यपालिका को आततायी बनने से रोकने के लिए व्यवस्थापिका को महा-अभियोग (Impeachment) की तथा न्यायपालिक को अध्यालेख (Writs) जारी करने की शक्ति होनी चाहिये। इस प्रकार शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त की पूर्ति नियंत्रण तथा संतुलन का नियम करता है।

यह समझ लेना भूल होगी कि लॉक या मॉएटेस्क्यू शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त

का मूल प्रवर्त्तक था। अरस्तु तथा पोलीबियस के लेखों में इसका पूर्वाभास मिलता है और मॉण्टेस्क्यू के मतानुसार इग्लैंड ने इस सिद्धान्त को प्राचीन जर्मनों के व्यवहारों से लिया था जिनका वर्णन टेसीटस ने किया है। मॉण्टेस्क्यू ने तो केवल इस सिद्धान्त का प्रसरण किया और इसे एक सुनिश्चित रूप दिया। व्यक्तियों की राजनीतिक स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के साधन के रूप में यद्यपि मॉण्टेस्क्यू इस सिद्धान्त को बहुत महत्त्व देता था; तथापि वह यह भी जानता था कि उसके साथ ही साथ दण्ड विधान तथा दण्ड विधि में सुधार किये बिना यह अपने उद्देश्य की प्राप्ति पूर्ण रूप से नहीं कर सकता। इसलिए उसने अपराध तथा दण्ड के समकालीन कानूनों में सुधार के सुझाव प्रस्तुत किये। उसने कहा कि एक अपराधी को मिलने वाला दण्ड अपराध के स्वरूप द्वारा निर्धारित होना चाहिये; यह न्यायाधीश की मनमानी इच्छा के ऊपर निर्भर नहीं रहना चाहिये। वह गुप्त कार्यवाही का भी विरोध करता था क्योंकि वह सुरक्षा की भावना को आघात पहुँचाती है। न्याय तथा नागरिकों की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के लिये सार्वजनिक अभियोग तथा विधिवत् कार्यवाही आवश्यक हैं। इस विषय का और अधिक विस्तृत वर्णन करना आवश्यक नहीं है। यहाँ पर केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि अन्त में मॉण्टेस्क्यू की भावना की विजय हुई और महाद्वीपीय यूरोप ने उसके द्वारा प्रस्थापित बहुत से सुधारों को अपनाया।

मॉण्टेस्क्यू की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा की विवेचना को समाप्त करने से पूर्व उस विभेद का उल्लेख करना आवश्यक है जो कि वह राजनीतिक तथा नागरिक स्वतंत्रता में करता है। दुर्भाग्यवश उनमें विभेद-रेखा स्पष्ट नहीं खींची गई; कहीं भी वह नागरिक स्वतन्त्रता की सुनिश्चित परिभाषा नहीं देता और राजनीतिक स्वतन्त्रता के अन्तर्गत बहुत सी ऐसी बातों को रखता है जिन्हें आज हम नागरिक स्वतन्त्रता के अन्तर्गत रखते हैं। मोटे रूप से वह स्वतन्त्रता जो कि सरकार के संघटन तथा नागरिक से सम्बन्धित सरकार के विभिन्न अंगों के अधिकारों तथा शक्तियों के ऊपर निर्भर करती है राजनीतिक स्वतन्त्रता है; और नागरिकों के परस्पर सम्बन्धों से उत्पन्न होने वाली स्वतन्त्रता नागरिक स्वतन्त्रता है। यह जनता के आचारों तथा परम्पराओं और किसी हद तक कुछ विशिष्ट कानूनों से उत्पन्न होती है। नागरिक स्वतन्त्रता से मॉण्टेस्क्यू का क्या अभिप्राय था इसका आभास हम 'स्प्रिट आफ़ लॉज़' के बारहवें प्रकरण में पा सकते हैं जिसमें कि उसने इस विषय की विवेचना की है। वहाँ वह इस बात की समीक्षा करता है कि नागरिकों को एक दूसरे के भय से मुक्त रखने के लिए सरकार को क्या क़दम उठाने चाहियें। ऐसा प्रतीत होता है कि मॉण्टेस्क्यू के मतानुसार नागरिक स्वतन्त्रता कानून भंग करने के बदले में नागरिकों को मिलने वाले दण्ड के स्वरूप तथा अनुपात के ऊपर निर्भर करती है। यह कह कर कि किसी भी व्यक्ति को उसके विचारों के लिये दण्ड नहीं मिलना चाहिये वह विचार-स्वातन्त्र्य का समर्थन करता है जिसे वह नागरिक

स्वतन्त्रता का एक आवश्यक अंग समझता था। उसके इस सुझाव का कि कार्य की अपेक्षा लेख कम दण्डनीय होना चाहिये, अभिप्राय यह है कि वह एक हद तक लेख-स्वातंत्र्य का पोषक था। वह उन समस्त अभियोगों, जो कि कानून के अनुसार नहीं हैं, बिना नाम के पत्रों, जासूसी इत्यादि के उन्मूलन का अनुमोदन करता है। परन्तु इस विषय पर जिस बात से सबसे अधिक प्रकाश पड़ता है वह यह है कि वह दासता को नागरिक स्वतन्त्रता का निषेध समझता था। १५वें प्रकरण में वह इस सिद्धान्त का खण्डन करता है कि दासता एक न्याय-संगत तथा स्वाभाविक संस्थान है जैसा कि अरस्तु, स्टोइक्स तथा कुछ ईसाई विचारकों का विचार था। दासता के लिये मॉण्टेस्क्यू कोई बौद्धिक तथा ऐतिहासिक औचित्य नहीं पाता। उसके मूल की व्याख्या की जा सकती है, परन्तु इसके औचित्य को सिद्ध नहीं किया जा सकता। समस्त मनुष्य समान उत्पन्न होते हैं, इसलिये दासता अस्वाभाविक है। युद्ध में पराजय युद्ध बन्दियों को दास बना लेने का एक पर्याप्त कारण नहीं हो सकता। इस संस्थान के विरुद्ध मॉण्टेस्क्यू ने बड़े नैतिक उत्साह के साथ लिखा है जो उसकी उस वैज्ञानिक शान्त भावना के एकदम विपरीत है जो उसके शेष ग्रन्थ में पाई जाती है। उसके द्वारा किये गये राजनीतिक स्वतन्त्रता के समर्थन तथा दासता की निन्दा के कारण मॉण्टेस्क्यू को १८वीं शताब्दी के उन विचारकों में अग्रगण्य स्थान प्राप्त हो गया है जिन्होंने कि स्वतन्त्रता से सम्बन्धित आदर्शवाद की ध्वजा को ऊँचा उठाये रक्खा।

भूमि, जलवायु इत्यादि का प्रभाव— मानवीकृत कानून के स्वरूप का वर्णन करते समय हमने मॉण्टेस्क्यू के इस प्रिय सिद्धान्त का उल्लेख किया था कि एक देश का भौतिक परिवेष वहाँ के कानूनों, तथा सामाजिक और राजनीतिक संस्थानों के ऊपर एक निर्णयात्मक प्रभाव डालता है। जनता के कानूनों, स्वतन्त्रता, सामाजिक, नैतिक तथा धार्मिक विचारों पर भूमि तथा जलवायु के प्रभाव की खोज करने में मॉण्टेस्क्यू ने अपने महान् ग्रन्थ 'स्प्रिट ऑफ़ लॉज़' के कई प्रकरण व्यय किये हैं। उनमें वह जो कुछ कहता है उसकी उस समय बड़ी प्रशंसा होती थी; किन्तु आज उस ग्रन्थ का कोई अन्य भाग इतना उपेक्षित नहीं है जितना कि यह। किन्तु हम उसकी पूर्ण रूप से उपेक्षा नहीं कर सकते; उसके विचार यदि और किसी लिये नहीं तो कम से कम इसी कारण उल्लेखनीय हैं कि उसने हमें 'परिवेशात्मक सिद्धान्त की प्रथम तथा निर्णयात्मक समीक्षा' प्रदान की है। यद्यपि इस क्षेत्र में श्रीगणेश जीन बोदाँ ने किया था; किन्तु मानवीय संस्थाओं के ऊपर भौतिक स्थितियों के प्रभाव के आधुनिक अनुसंधान का आरम्भ करने का श्रेय मॉण्टेस्क्यू को ही है। इससे हमें आश्चर्य नहीं होना चाहिये; मॉण्टेस्क्यू के सामने भौतिक जगत का ज्ञान जीन बोदाँ से कहीं अधिक था। मॉण्टेस्क्यू ने एक देश की भूमि, जलवायु, उपजाऊ शक्ति, प्राकृतिक साधनों तथा भौगोलिक स्थिति, और उसके निवासियों की आदतों तथा चरित्र, उनकी सामाजिक तथा आर्थिक धारणाओं, व्यवहार, आचार तथा

धार्मिक विश्वास में कारण और कार्य का सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की। सामान्य सिद्धान्त का वर्णन उसके अपने ही इन शब्दों में इस प्रकार है : 'विभिन्न जलवायु में विभिन्न आवश्यकताओं से विभिन्न ढंग उत्पन्न हुए हैं ; और रहन सहन के इन विभिन्न ढंगों के परिणामस्वरूप विभिन्न प्रकार के कानून बने हैं।' तब वह मानव शरीर, तथा उसकी बुद्धि और भावनाओं पर गर्मी, सर्दी, खुश्की और तरी के प्रभाव की समीक्षा करता है। ये जनता के चरित्र को निर्धारित करते हैं जिसके ऊपर सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थान आधारित हैं। जिन परिणामों पर वह पहुँचता है उन्हें इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है :— ठण्डी जलवायु लोगों को क्रियाशील तथा क्षमतावान बनाती है, और गर्म जलवायु उनमें निष्क्रियता तथा आलस्य उत्पन्न करती है ; ठण्डी जलवायु स्वतन्त्रता की तथा गर्म जलवायु दासता अथवा निरंकुश शासन की पोषक है। पर्वतीय प्रदेश स्वतन्त्र सरकार के लिये तथा समतल मैदान निरंकुश सरकार के लिये अच्छा आधार प्रस्तुत करते हैं। अपने परिणामों के उदाहरण देने के लिये तथा उन्हें पुष्ट करने के लिए यूरोपीय देशों की जहाँ कि न्यूनाधिक स्वतन्त्र सरकार पाई जाती थीं, तुलना उसने एशिया के देशों से की जहाँ कि निरंकुश शासन का आम चलन था। उसका यह भी विश्वास था कि गहरी नदियों तथा ऊंची पर्वतश्रेणियों से अबाधित विस्तृत भौगोलिक विभाजनों में निरंकुश शासन पनपता है, जबकि छोटे छोटे सम्बद्ध भूमिखण्ड स्वतंत्र राजनीतिक जीवन के लिए अनुकूल होते हैं। इन परिणामों से यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका के निवासियों की दंभ भावना को बड़ी तृप्ति मिली और उनमें वे सर्वप्रिय हो उठे। आज उन्हें कोई महत्त्व नहीं दिया जाता। इस बात से तो कोई इन्कार नहीं कर सकता कि भूमि, जलवायु, प्राकृतिक साधनों तथा भौगोलिक स्थिति का मनुष्य की आदतों तथा प्रवृत्तियों के निर्माण में बहुत बड़ा हाथ होता है, किन्तु इस बात को कोई नहीं मान सकता कि भूमि तथा जलवायु ही सब कुछ हैं। भारत तथा पूर्व के अन्य देशों में धर्म, आचरण, रीतियों तथा कानूनों की परिवर्तनशीलता का कारण उनकी गर्म जलवायु को समझ बैठना अतिरंजना है। यदि जलवायु इतना शक्तिशाली कारण है तो भारत तथा गर्म जलवायु वाले अन्य देशों में स्वतन्त्र संस्थाओं की स्थापना तथा सफलतापूर्वक कार्य करने का क्या करण है ? अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया जैसे बड़े बड़े देशों में लोकतन्त्री सरकार की स्थापना मॉण्टेस्क्यू की इस धारणा को गलत सिद्ध करती है कि नदियों तथा पर्वतों से अबाधित विस्तृत प्रदेश स्वतंत्रता के पनपने के लिए उपयुक्त नहीं हैं। जो कुछ हमने कहा है वह यह सिद्ध करने के लिये काफी है कि स्वतन्त्रता तथा जलवायु में जो सम्बन्ध मॉण्टेस्क्यू सिद्ध करना चाहता था वह नहीं पाया जाता।

रीतियों, व्यवहारों इत्यादि का प्रभाव— भौतिक परिवेश के अतिरिक्त सामाजिक परिवेश भी एक देश के कानूनों तथा राजनीतिक संस्थाओं पर उतना ही बड़ा प्रभाव डालता है। सामाजिक परिवेश लोगों के सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक विचारों,

उनकी रीतियों तथा व्यवहारों, आचारों तथा मापदण्डों, धार्मिक विश्वासों तथा व्यवहारों को मिलाकर बनता है। अपने यौगिक रूप में उन्हें समाज की आत्मा कहा जा सकता है। आज की भाषा में उसे हम जन-रीतियाँ (Folkways) तथा जन-आचरण (Mores) कहेंगे। बहुत सी बातों में समाज की आत्मा एक बहुत ही शक्तिशाली तत्त्व होता है; उसके विरुद्ध जाने वाले किसी भी कानून का कोई सम्मान नहीं हो सकता; उसका कोई पालन नहीं कर सकता। उस आत्मा को जानना और उसके अनुकूल कानून बनाना विधायक का कार्य है। उससे ताल न खाने वाले कानून बनाना निरर्थक है और उसे दण्ड विधान द्वारा बदलने का प्रयास करना कोरी मूर्खता है। राष्ट्रीय जन-रीतियों को कानून द्वारा बदलने का प्रयास करना अत्याचार है; उन्हें बदलने का सर्वोत्तम ढंग श्रेष्ठतर व्यवहार तथा रिवाज का प्रचलन कर देना है। अमेरिका में मद्य-निषेध के कानून को वापिस लेना पड़ा; और भारत में बाल विवाह निरोधक कानून प्रभावहीन रहा। कानून तथा रिवाज और नैतिक धारणाओं में सम्बन्ध के विषय में मॉण्टेस्क्यू की धारणायें उसकी जलवायु तथा स्वतन्त्रता के सम्बन्ध की धारणा की अपेक्षा आधुनिक विचारों के कहीं अधिक निकट हैं।

मॉण्टेस्क्यू ने कानूनों तथा धार्मिक विश्वासों के सम्बन्ध की भी विवेचना की है। यद्यपि वह ईसाई धर्म का बड़ा प्रशंसक था और उसे सब से सच्चा धर्म समझता था, तथापि उसे वह सभी प्रकार के समाजों के लिये उपयुक्त नहीं मानता था। एक समाज विशेष में कौन सा धर्म प्रचलित होना चाहिये, इस बात का निर्धारण उस समाज की विशिष्ट स्थितियों द्वारा होना चाहिये। मॉण्टेस्क्यू का विश्वास था कि जिन देशों में सीमित सरकार पाई जाती है उनके लिए ईसाई धर्म और निरंकुशवादी राज्यों के लिए इस्लाम सब से अधिक उपयुक्त होता है। वह एक कदम और आगे बढ़ता है और कहता है कि कैथोलिक-वाद राजतंत्र के लिए तथा प्रॉटेस्टेण्टवाद गणतन्त्र के लिए सर्वोपयुक्त है।

जहां तक कि राज्य तथा चर्च के परस्पर सम्बन्ध का प्रश्न है मॉण्टेस्क्यू की धारणा यह है कि यदि इनमें से कोई एक दुर्बल तथा क्षमताहीन न हो जाये तो किसी को भी एक दूसरे के उचित कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। राज्य को राष्ट्र में कोई नया धर्म नहीं घुसने देना चाहिये, यदि उसे बाहर रखा जा सके तो; परन्तु उसे समस्त वर्त्तमान धर्मों के प्रति सहिष्णु होना चाहिये और सार्वजनिक शांति स्थापित रखने के लिए प्रत्येक धर्म को दूसरे धर्मों को सहन करने के लिये विवश करना चाहिये।

कानून के भौतिक तथा सामाजिक परिवेश के साथ सम्बन्ध की समीक्षा का उपसंहार हम यह कह कर करेंगे कि मॉण्टेस्क्यू के मतानुसार मनुष्य पर विभिन्न प्रकार के कानूनों का शासन होता है जो ये हैं :— प्राकृतिक कानून जो कि समस्त व्यक्तियों के लिए सामान्य है; दैविक कानून जोकि धर्म का कानून है; चर्च का कानून; नागरिक कानून जो कि समाज के घटकों के परस्पर सम्बन्धों को अनुशासित करता है; राजनीतिक

कानून जोकि समाज की सरकार का कानून होता है; अन्तर्राष्ट्रीय कानून जोकि विभिन्न समाजों के परस्पर सम्बन्धों को विनियमित करने वाला कानून होता है। इन कानूनों में से प्रत्येक का अपना अपना उद्देश्य होता है; इनमें हमें स्पष्ट रूप से विभेद करना चाहिये। इनमें विभ्रम होने से मानव को शासित करने वाले सिद्धान्तों में अन्याय एवं अव्यवस्था आजायेगी।

मॉटेस्क्यू का प्रभाव— 'स्प्रिट ऑफ लॉज़' एक महान् तथा विलक्षण ग्रन्थ है; यह बीस वर्ष के कठोर परिश्रम का फल था जिसने उसके लेखक को थका कर चूर चूर कर दिया। इसकी सर्वप्रियता का अनुमान इस बात से हो सकता है कि दो वर्ष से कम की अवधि में ही इसके २२ संस्करण निकले और इसका अनुवाद अंग्रेज़ी, जर्मन, स्पेनिश, इटालियन तथा अन्य यूरोपीय भाषाओं में हुआ। लुई षष्ठ, कैथरीन महान् तथा फ्रेड्रिक महान् जैसे सुविख्यात व्यक्तियों ने इसे पढ़ा और इसकी प्रशंसा की; गिबन तथा बेन्थम सरीखे विचारक इससे प्रफुल्लित हुए; और अटलाण्टिक महासागर के दूसरे पार इसने वाशिंगटन तथा जेफ़र्सन सरीखे राजनीतिज्ञों को प्रेरित किया। क्रान्ति युग के विचारक इससे परिचित थे और उस युग के विवादों में समस्त पक्षों की ओर से इसे उद्धृत किया गया। यह कहना अनुचित न होगा कि जिस स्वतन्त्रता की क्रान्तिकारी बात करते थे वह मध्य वर्गों की स्वतन्त्रता थी जिसे मॉण्टेस्क्यू अभिव्यक्त कर चुका था। इसके बावजूद भी 'स्प्रिट ऑफ लॉज़' के क्षेत्र, पद्धति तथा विचारों का १८वीं तथा प्रारम्भिक १९वीं शताब्दी के राजनीतिक दर्शन पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। कई पीढ़ियों के गुज़र जाने के बाद ही राजनैतिक वैज्ञानिकों ने मॉण्टेस्क्यू के भावों का आदर किया और उसकी पद्धति को अपनाया।

मॉण्टेस्क्यू की वास्तविक महत्ता को समुचित रूप से समझने में यह विलम्ब इस कारण हुआ कि वह अपने समय की प्रधान राजनीतिक धारा से न्यूनाधिक अलग थलग था। उसने राजनीति को अर्थशास्त्र, भूगोल, मनोविज्ञान तथा न्यायशास्त्र से सम्मिश्रित कर के एक नवीन सामान्य सामाजिक विज्ञान की रचना की; किन्तु उसके समकालीन विचारकों तथा उत्तराधिकारियों की प्रवृत्ति उन्हें अलग अलग करने की तथा अपने को न्यूनाधिक राज्य के सिद्धान्त तक ही सीमित रखने की थी। "जब कि राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक तथ्यों के अध्ययन की पद्धति के लिए उसने इतिहास, पर्यवेक्षण तथा मोटे रूप से साधारणीकरण को अपनाया, उन्होंने (कुछ अपवादों को छोड़ कर) प्रकृति का एक निरपेक्ष मापदण्ड स्थापित किया और इस मापदण्ड सम्बन्धी अपनी धारणा में से ऐसे सिद्धान्त निकाले जिन्हें वे विश्वव्यापक रूप से मान्य समझते थे।"*

* "While he stood for history, observation and broad generalisation as the method of approach to political, social and economic truth, they, with few exceptions, set up absolute standard of 'nature'

उपरोक्त कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जो चीज़ मॉण्टेस्क्यू को राजनीतिक विचार के इतिहास में एक अमर स्थान प्रदान करती है वह है उसकी सामाजिक तथा राजनीतिक घटनाचक्र का अध्ययन करने के लिये पर्यवेक्षण तथा साधारणीकरण की पद्धति जिसे वह सर्वाधिक उपयुक्त समझता था। जैसा कि हम पहिले ही कह चुके हैं उसकी पद्धति विशुद्ध रूप से अनुभूतिप्रधान अथवा आगमनात्मक न थी। उसकी विचारधारा में कुछ ऐसी रेखाएँ हैं जिनकी संगति उसके विशुद्ध अनुभूतिवाद से नहीं बैठती। इसका एक उदाहरण है मानव समाज को अनुशासित करने के लिये बुद्धि के एक विश्वव्यापक कानून में उसका विश्वास।

राजनीतिक क्षेत्र के इतिहास में उसकी सर्वप्रमुख देन है उसका स्वतन्त्रता का सिद्धान्त। स्वातंत्र्य प्रेम से वह इतना ओत प्रोत है कि संप्रभुता के सिद्धान्त में उसे कोई रुचि ही नहीं रह जाती, क्योंकि जिस अपरिमित शक्ति का वह प्रतीक है उसका सामंजस्य स्वतंत्र सरकार से नहीं हो सकता। मॉण्टेस्क्यू के मतानुसार स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखने के लिए सरकार की शक्तियों को मर्यादित करना आवश्यक है। यहाँ तक तो वह लॉक के साथ है। परन्तु लॉक ने अपने स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को प्राकृतिक अधिकार और संविदा सिद्धान्त पर आधारित किया था; मॉण्टेस्क्यू इन दोनों को ही निरर्थक समझता था। उसका दृष्टिकोण व्यावहारिक तथा ऐतिहासिक होने के कारण उसने यथार्थ सरकारों की समीक्षा की, आदर्श शासन की नहीं। व्यक्ति की स्वतन्त्रता का रहस्य उसने शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त में पाया, प्राकृतिक अधिकारों में नहीं।

यद्यपि मॉण्टेस्क्यू व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से बड़ा प्रेम करता था, तथापि वह एक लोकतंत्रवादी नहीं था। वह विशेषाधिकारों की निन्दा नहीं करता और न ही वह इस विचार के लिए कोई उत्साह प्रगट करता है कि सरकार की शक्ति का स्रोत जन-इच्छा है। जिस गणतंत्रीय सरकार का उसने गुणानुवाद किया है वह एक कोरी कल्पना है; उसकी प्राप्ति इस संसार में नहीं की जा सकती। उस समय यूरोप में कोई ऐसी सरकार नहीं थी जो कि उसके आदर्शीकृत राज्य के कुछ भी समीप हो सकती। उस समय की परिस्थितियों में सरकार का सब से अधिक उपयुक्त रूप राजतंत्र था जिससे उसका अभिप्राय फ्रांस का वह 'ऐतिहासिक राजतन्त्र था जो कि Richelieu तथा Louvois की भ्रष्ट बुद्धि द्वारा निरंकुशवाद में परिवर्तित होने से पूर्व वह था।' उस राजतन्त्र का सार इस बात में था कि उसके अन्तर्गत सामन्तों, धर्माधिकारियों तथा वकीलों की अधीनस्थ शक्तियाँ पाई जाती थीं। और न ही मॉण्टेस्क्यू एक व्यक्तिवादी था; एक वह विचारक जिसका आधारभूत सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक चीज़ दूसरी चीज़ों के साथ अपने सम्बन्ध के कारण ही वह चीज़ होती है, भला एक व्यक्तिवादी कैसे हो सकता था? इस बात में

and deduced from their conception of this entity the doctrines which they held to be of universal validity." —Dunning : *op. ct.*, page 433.

मॉण्टेस्क्यू लॉक का विरोधी है। यहाँ यह बात भी उल्लेखनीय है कि मॉण्टेस्क्यू को अमूर्त सद् में विश्वास न था; उसके इस सिद्धान्त का कि समस्त ज्ञान सम्बन्धों से उत्पन्न होता है अमूर्त सद् के सिद्धान्त के साथ सामंजस्य नहीं हो सकता।

अन्त में मॉण्टेस्क्यू के विचार के एक दूसरे पहलू का भी उल्लेख किया जा सकता है। उसका स्वभाव अत्यन्त रूढ़िवादी था जबकि १८वीं शताब्दी के फ्रांस में विचार की सामान्य प्रकृति आलोचनात्मक तथा अपने समय की व्यवस्था को विध्वंस करने की थी। कोई भी विचारक फ्रांस के उस राजतन्त्र का समर्थक नहीं था जिसने कि सामन्तों, धर्माधिकारियों तथा जनता के साथ साझेदारी को बिल्कुल समाप्त कर दिया था। जो रूप राजतन्त्र ने उस समय धारण कर लिया था, यद्यपि मॉण्टेस्क्यू उसे बिल्कुल पसन्द न करता था, तथापि वह उस संस्था की इन शब्दों में प्रशंसा कर सकता था: "राजतन्त्र को निरंकुशवाद की अपेक्षा एक बड़ा लाभ रहता है। इसका स्वभाव ही यह है कि इसके अन्तर्गत बहुत से ऐसे संघटन होते हैं जो कि विचार विमर्श में भाग लेते हैं। इसलिये राज्य अधिक निश्चित रहता है, इसका संविधान अधिक स्थिर रहता है, तथा मन्त्रियों की स्थिति अधिक सुरक्षित रहती है।" उसके रूढ़िवादी स्वभाव का एक प्रमाण यह भी है कि उसने विशेषाधिकार प्राप्त वर्गों पर आक्रमण नहीं किया और जीवन का भारी भार वहन करने वाले दरिद्र नारायण से कोई सहानुभूति प्रकट नहीं की। उसने प्राचीन व्यवस्था को नष्ट करने के लिये नहीं बल्कि उसमें सुधार करके उसे रक्षित करने के लिये लिखा।

मॉण्टेस्क्यू सम्बन्धी इस विवरण का उपसंहार हम वॉहन के इस उद्धरण के साथ करेंगे: "इस केन्द्रीय धारणा से (कि समस्त चीजें सापेक्षिक होती हैं) बहुत से परिणाम निकलते हैं। ...... वे यह कि राष्ट्र के सम्पूर्ण जीवन का निर्माण एक ही तत्त्व से होता है, और इसलिए यह असम्भव है कि उसकी किसी एक दिशा में कोई आमूलचूल परिवर्तन किया जाये और उसके फलस्वरूप दूसरी दिशाओं में भी ऐसे हज़ारों परिवर्तन न हो जायें जिनकी पहिले कल्पना भी न की गई थी और कदाचित् उन्हें करना किसी को अभीष्ट भी न था। सम्बन्धों के इस विशाल जाल में अपने को दूसरों के साथ घोर संघर्ष में पाना और इसलिए एक का दूसरों के साथ सामंजस्य स्थापित करने की निरन्तर आवश्यकता है: कदाचित् ये वे सब से अधिक महत्त्वपूर्ण परिणाम हैं जोकि मॉण्टेस्क्यू अपने आधारभूत सिद्धान्त से निकालता है।"*

* "From this central idea (that all things are relative) radiates a whole web of consequences .... That the whole life of a nation is woven of one piece, and therefore that it is impossible to make sweeping changes in one direction without laying the train for a thousand changes, unforeseen and perhaps undesired, in all other

Select Bibliography

Montesquieu : *Spirit of Laws.*

Cook : *History of Political Philosophy,* Chapter XXI.

Dunning : *Political Theories from Luther to Montesquieu,* Chapters XI and XII.

Jones : *Masters of Political Thought, Vol. II,* Chapter VI.

Maxey : *Political Philosophies,* Chapter XVII.

Sabine : *History of Political Theory,* Chapter XXVII.

Vaughan : *Studies in the History of Political Philosophy, Vol. I,* Chapter V.

———

directions also; that in this vast tissue of relations to find itself in conflict, more or less deadly, with the others, and therefore that there is constant need for adjusting the one to the other: these are perhaps the most significant of inferences which Montesquieu draws from his fundamental principle." —Vaughan : *op. ct.*, page 288.

अध्याय ९

ह्यूम तथा बर्क

परिचयात्मक— यद्यपि हॉब्स तथा लॉक के राजनीतिक विचार एक दूसरे के सर्वथा विपरीत थे क्योंकि हॉब्स निरंकुश सरकार का समर्थक था और लॉक सांविधानिक सरकार का हामी, तथापि उन दोनों में एक बात सामान्य थी। दोनों पर ही उस विचार-धारा का गहरा प्रभाव पड़ा था जिसे आम तौर से वैज्ञानिक बुद्धिवाद कहा जाता है और जिसका प्रवर्त्तक डेकार्टे था। इस विचारधारा का तत्त्व यह है कि बुद्धि मानवीय विषयों में सर्वोपरि पथप्रदर्शक है और उसके द्वारा समस्त कठिनाइयों का निराकरण हो सकता है। इसके अतिरिक्त एक अन्य विचारधारा थी जो वैज्ञानिक पद्धति में विश्वास करती थी; इसका प्रवर्त्तक था बाइको। ये दोनों विचार-रेखायें १८वीं शताब्दी (जिसे ज्ञान की शताब्दी कहते हैं) के फ्रांस में मिलीं और इन्होंने एक दूसरे को प्रभावित किया। राजनीतिक चिंतन के क्षेत्र में मॉण्टेस्क्यू, दिदरो तथा वॉल्टेयर को आम तौर से फ्रांस के ज्ञानयुग का प्रमुख प्रतिनिधि समझा जाता है। यद्यपि रूसो को कभी कभी बुद्धि-विरोधी कहा जाता है; किन्तु एक दृष्टिकोण से उसे भी इस सूचि में रखा जा सकता है क्योंकि उसे मनुष्य की पूर्णता में विश्वास था और वह बुद्धि से उस सद् समाज के संघटन करने की आशा करता था, केवल जिसमें ही पूर्णता के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

परन्तु ज्ञानयुग अपने उद्देश्य में निष्फल रहा; न तो मनुष्य ही पूर्णता की ओर अग्रसर हुआ; और न ही बुद्धि के अनुसार सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थानों में कोई शुभ परिवर्तन हुआ। ज्ञानयुग के नेताओं के उपदेशों ने समाज में सुधार करने के बजाय क्रांति के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया। इस आन्दोलन के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई जिसकी चरम सीमा हम स्कॉटलैण्ड निवासी डेविड ह्यूम में देखते हैं, जिसने कठोर बौद्धिक विश्लेषण द्वारा सिद्ध किया कि स्वयं की भी सीमायें होती हैं और निर्विकल्प प्राकृतिक बुद्धि तथा अतिक्रमणात्मक प्राकृतिक कानून में विश्वास का घोर खण्डन किया। उसके संशयवादी दर्शन ने १८वीं शताब्दी में प्रचलित बहुत से निरपेक्ष विश्वासों को नष्ट कर दिया। इसीलिए उसके सिद्धान्तों का एक संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जाता है।

डेविड ह्यूम: जीवन तथा रचनायें— उसके जीवन के विषय में अधिक कुछ कहने की कोई आवश्यकता नहीं। स्कॉटलैण्ड के एक संभ्रान्त परिवार में वह

उत्पन्न हुआ। उसका जन्म १७११ ई० में रूसो से एक वर्ष पूर्व हुआ और १७७६ ई० में अर्थात् रूसो से दो वर्ष पूर्व उसका देहान्त हो गया। इस प्रकार वह रूसो का समकालीन था। यद्यपि उसने तीन चार वर्ष तक कानून का अध्ययन किया किन्तु उसे एक दूषित कार्य समझकर उसने उसका परित्याग कर दिया। फिर उसने व्यापार करना आरम्भ किया ; किन्तु उसमें उसे कोई सफलता न मिल सकी। आरम्भ से ही उसे साहित्य से अगाध प्रेम था, इसलिये उसने स्वाधीन जीवन व्यतीत करने का निर्णय किया, यद्यपि आवश्यकता-वश उसे मितव्ययिता के साथ रहना पड़ा। कुछ समय तक घर रहने के पश्चात् वह फ्रांस चला गया जहाँ कि वह कुछ वर्षों तक ठहरा और वहीं उसने 'Treatise of Human Understanding' नामक अपना ग्रंथ लिखा और १७३७ ई० में प्रकाशित कराया, उस समय उसकी अवस्था केवल २६ वर्ष की थी। आज इस पुस्तक को युगनिर्माता तथा ह्यूम का श्रेष्ठतम ग्रंथ समझा जाता है किन्तु अपने प्रकाशन के समय इसका कोई सम्मान नहीं हुआ। मैक्सी के शब्दों में, 'बहुत थोड़े ही व्यक्तियों ने इसे ख़रीदा, उस से भी कम व्यक्तियों ने इसे पढ़ा और समझ तो इसे कोई भी नहीं सका।' इस विफलता से ह्यूम घबराया नहीं। १७४१ ई० में उसने अपने 'Essays, Moral and Political' प्रकाशित कराये; जिनका कुछ अधिक स्वागत हुआ और जिनसे उसे कंचन तथा कीर्ति की प्राप्ति हुई। ह्यूम ने Essays की एक प्रतिलिपि उपहार स्वरूप मॉण्टेस्क्यू को भेंट की जिसने इस सम्मान के उत्तर में अपने ग्रन्थ 'Spirit of Laws' की एक प्रतिलिपि उसे भेजी। Spirit of Laws का अंग्रेज़ी संस्करण निकालने में ह्यूम ने बड़ी सहायता की। यह सोचकर कि Treatise की विफलता उसकी कला के कारण थी, भाव के कारण नहीं, उसने उसे 'Enquiry Concerning Human Understanding' के शीर्षक से जनप्रिय रूप में प्रकाशित कराया। Enquiry के अध्ययन ने ही काण्ट के उस समय के प्रचलित विश्वास अर्थात् बुद्धि के प्रति विश्वास को आघात पहुँचाया। और उसके अलोचनात्मक दर्शन के विकास में योग दिया। आम तौर से यह विश्वास किया जाता है कि काण्ट संसार को अपना 'आलोचनात्मक दर्शन' कभी न दे पाता, यदि ह्यूम की रचनाओं का अध्ययन उसके इस विश्वास को न हिला देता कि तथ्य के विषय में हमें निश्चित ज्ञान प्रदान करने की शक्ति बुद्धि में होती है। यह सिद्ध करने के लिए कि ह्यूम के ग्रन्थ युगनिर्माता थे, यही बात काफ़ी है। उसके अन्य मुख्य ग्रन्थ हैं: History of England, Enquiry Concerning the Principles of Morals, Political Discourses, Original Contract, तथा A Natural History of Religion. अपने समस्त लेखों में आम तौर से, किन्तु धर्म और राजनीति विषयक लेखों में विशेष रूप से, ह्यूम एक रचनात्मक सिद्धान्तवेत्ता की अपेक्षा एक विध्वंसक आलोचक के रूप में ही अधिक प्रगट होता है। इन क्षेत्रों में जनता के चिरप्रिय विश्वासों और विचारों पर उसने कड़ा प्रहार किया और उनकी धज्जियाँ उड़ा दीं। इसलिये उसकी

कठोर आलोचना और उसका घोर विरोध होना स्वाभाविक ही था। धर्मविरोधी और राजनीतिक कलाबाज़ कह कर उसकी भर्त्सना की गई। कहा जाता है कि ऐडम स्मिथ के साथ वार्तालाप करते हुए उसने एक बार कहा था: "मुझे देखिये, मैंने सभी विषयों के ऊपर ऐसी रचनायें की हैं जिनसे शत्रुता उत्पन्न होनी अवश्यम्भावी है। किन्तु इस संसार में मेरा कोई भी शत्रु नहीं है; समस्त ह्विग्स (Whigs), समस्त टोरियों (Tories) तथा समस्त ईसाइयों को छोड़कर।"*

ह्यूम का संशयवाद (Scepticism)— हॉब्स तथा लॉक की भाँति ह्यूम मूल रूप से एक दार्शनिक है; उसकी सब से अधिक महत्त्वपूर्ण कृति 'Treatise on Human Understanding' आधुनिक दर्शन के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है, परन्तु राजनीतिक सिद्धान्त से उसका अधिक सम्बन्ध नहीं है। परन्तु बुद्धि के स्वरूप के विषय में जो धारणायें उसने उसमें विकसित की हैं उनका समस्त सामाजिक शास्त्रों से गहरा सम्बन्ध है। यदि मानव बुद्धि के उसके विश्लेषण को हम स्वीकार कर लें तो फिर हमें प्राकृतिक कानून की वैज्ञानिक मान्यता के समस्त दावों को ठुकराना होगा। बुद्धि के स्वरूप के इस नवीन सिद्धान्त को अमल में लाने का परिणाम यह हुआ कि धर्म, राजनीति तथा आचार शास्त्र के विषय में मनुष्य के प्राचीन विश्वास नष्ट हो गये। इसी के कारण ह्यूम का ईश्वर तथा ईश्वर-प्रदत्त धर्म में विश्वास जाता रहा और उसने धर्म को उपयोगिता पर आधारित किया। इसी ने उसे आचार के क्षेत्र में ऐसे वस्तु-प्रधान (Objective) तथा विश्वव्यापक नैतिक कानून को जो कि अनुभव से स्वतन्त्र है और जो हमारे नैतिक अनुभव की अदार्श रूपरेखा निर्धारित करता है, निरस्त करने के लिये प्रेरित किया। उसका कहना था कि नैतिक अनुभव का स्वरूप भावनात्मक तथा इच्छा-प्रधान होता है, बौद्धिक नहीं। इसलिये नैतिक निर्णयों को भावनाओं पर आधारित करना चाहिये, बाह्य तथा वास्तविक तथ्यों के ऊपर नहीं। उसकी धारणा थी कि कोई कार्य अथवा भाव धर्ममय अथवा पापमय इस लिये होता है क्योंकि उसके देखने से एक विशिष्ट प्रकार का सुख अथवा विषाद उत्पन्न होता है। राजनीति में इसका अर्थ था दैविक मूल तथा सामाजिक संविदा के सिद्धान्तों का उन्मूलन और राजनीतिक कर्तव्य को उपयोगिता के ऊपर आधारित करना। ह्यूम के मानव बुद्धि के विश्लेषण का विस्तार-पूर्वक वर्णन करना यहाँ सम्भव नहीं; हम उसके केवल मुख्य परिणामों का विवरण ही यहाँ देंगे।

मानव बुद्धि के विश्लेषण में अध्ययन की प्रयोगात्मक पद्धति का प्रयोग करने के

* "Here am I, who have written on all sorts of subjects that are calculated to excite hostility. But I have no enemies— except all the Whigs, all the Tories, and all the Christians."

Quoted by Maxey: *Political Philosophies*, page 327.

कारण उसने 'विचारों के सम्बन्धों' (Relations of ideas) तथा 'तथ्य के विषयों' (Matters of fact) में विभेद किया। पहिली बात के सर्वोत्तम उदाहरण गणित शास्त्रों में मिलते हैं और दूसरी बात के भौतिक शास्त्रों में। यह बात कि एक वृत्त के समस्त अर्द्धव्यास बराबर होते हैं केवल एक सम्बन्ध ही तो है जोकि बुद्धि ने दो विचारों, वृत्त तथा अर्द्धव्यास, में होने की खोज की है। इसी प्रकार यह बात कि दो और दो चार होते हैं दो निश्चित इकाइयों में समानता के सम्बन्ध को सिद्ध करती है। क्योंकि प्रत्येक उदाहरण में सम्बन्ध सम्बन्धित विचारों से उत्पन्न होता है इसलिये प्रतिस्थापित तथ्य एक आवश्यक तथा अपरिवर्तनीय सत्य को औपचारिक रूप से व्यक्त करता है; इसके विरुद्ध स्थिति की कल्पना ही नहीं की जा सकती। कोई भी यह कल्पना नहीं कर सकता कि दो और दो चार नहीं होंगे, अथवा वृत्त के अर्द्धव्यास असमान हो सकते हैं। इन प्रतिस्थापनाओं की सत्यता तथ्यों के ऊपर निर्भर नहीं करती। इनका स्वरूप अनुभव-प्रधान नहीं है। इसलिये ह्यूम कहता है कि अनुभव-सिद्ध सामग्री से विचारों का सम्बन्ध कभी सिद्ध नहीं हो सकता। इसके विपरीत विचारों की तुलना से कोई तथ्य भी सिद्ध नहीं हो सकता; तथ्यों के मध्य सम्बन्ध कभी भी इतना आवश्यक और अपरिवर्तनीय नहीं हो सकता जितना कि विचारों के बीच तार्किक सम्बन्ध। ये बातें कि विष मार देता है और अग्नि वस्तुओं को प्रसारित कर देती है ऐसे साधारणीकरण हैं जो कि अनुभव के ऊपर आधारित हैं। जीवित प्राणियों के ऊपर विष के घातक प्रभाव को तथा धातुओं के ऊपर गर्मी के प्रभाव को आँखों से देखे बिना उपरोक्त परिणामों पर पहुंचना असम्भव था। उनके विपरीत की भी कल्पना की जा सकती है; हम सरलता से सोच सकते हैं कि एक व्यक्ति विष खा लेने पर भी न मरे। तथ्यों के सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि दो तथ्यों में जो सम्बन्ध अब बतलाया जाता है वह भूत काल में भी वैसा ही रहा है; किन्तु इनके विषय में कोई ऐसी बौद्धिक अनिवार्यता नहीं है जैसी कि विचारों के सम्बन्ध के विषय में है। विचार, ईश्वर तथा प्रकृति के बीच ऐसा कोई आन्तरिक सम्बन्ध नहीं है; इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि ईश्वर का अस्तित्व है ही।

केवल गणित शास्त्रों में ही विचार सम्बन्ध पाये जाते है; इसलिए औपचारिक, आवश्यक तथा विश्वव्यापक सत्य केवल इसी क्षेत्र तक सीमित है; भौतिक पदार्थों के सम्बन्धों में यह नहीं पाया जाता। भौतिक विज्ञानों तथा आचारशास्त्र, राजनीतिशास्त्र अर्थशास्त्र, धर्म और अध्यात्मशास्त्र जैसे सामाजिक विज्ञानों में हम केवल सम्भावनायें अर्थात् अनुभवसिद्ध सत्य ही पा सकते हैं जो कि आँखों-देखी एकरसता पर आधारित होता है; परन्तु जिसकी कोई औपचारिक आवश्यकता नहीं होती। एक वस्तुप्रधान तथा अतिक्रमणात्मक प्राकृतिक कानून अथवा प्राकृतिक बुद्धि में जो कि सामाजिक क्षेत्र में आवश्यक सत्य का प्रतिपादन करता है विश्वास की ताल इस स्थिति से नहीं खाती। काण्ट

ने देखा कि ह्यूम की युक्ति में बल है, और उसने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि निगमनात्मक समन्वित निर्णय अध्यात्मशास्त्र में सम्भव है। इसका परिणाम हुआ उसका 'आलोचनात्मक दर्शन'।

ह्यूम के राजनीतिक विचार— बुद्धिवादियों का विश्वास था कि प्रज्ञा मानव चरित्र को निर्धारित करती है, और प्रज्ञा ही साध्य तथा उस तक पहुंचने के साधनों का निर्धारण करती है। ह्यूम कहता है कि प्रज्ञा साध्य को निर्धारित नहीं करती; वह केवल भावनाओं की आज्ञा का पालन करती है; उसका निर्धारण भावों तथा प्रवृत्तियों द्वारा होता है। इस लिये बौद्धिक मूल्य सापेक्ष होते हैं, निरपेक्ष नहीं। इसलिए नैसर्गिक कानून तथा नैसर्गिक प्रज्ञा जो कि बौद्धिक अतिक्रमणात्मक योजना को प्रतिबिम्बित करते हैं (जिसकी कल्पना सन्त टॉमस एक्वीनास, ग्रोशियस और वाइको ने की थी) निरर्थक हैं; मानव चरित्र अभिसमयों द्वारा निर्धारित होता है जो निरपेक्ष रूप से मान्य नहीं होते। इसी विचार का राजनीतिक क्षेत्र में प्रयोग करते हुये ह्यूम कहता है कि समाज का बौद्धिक आधार न कोई है और न हो सकता है; मनुष्य समाज में इसलिए रहते हैं क्योंकि वे ऐसा करना सुविधाजनक तथा लाभप्रद समझते हैं; आदत तथा सहज प्रवृत्ति उन्हें ऐसा करने के लिए उत्प्रेरित करती हैं; उसके लिये किसी दैविक स्वीकृति की कल्पना करना, अथवा उसे किसी कानूनी या संविदात्मक आधार पर रखने की चेष्टा करना व्यर्थ है। इस प्रकार अपनी पुस्तक 'Essay on the Original Contract' में वह संविदा सिद्धान्त के ऊपर प्रत्यक्ष प्रहार करता है।

प्रोफेसर लास्की का कहना है कि ह्यूम सदा आलोचना और व्यंजना करता था। यद्यपि राजनीतिक सिद्धांत को उसकी कोई विशिष्ट देन नहीं है, तथापि राजनीतिक चिंतन को उसने एक नवीन दीक्षा दी। राजनीतिक कर्त्तव्य तथा राज्य के मूल्य का उसने जो विवरण दिया है वह इस बात का अच्छा उदाहरण है। दैविक मूल सिद्धान्त का खण्डन वह यह कह कर करता है कि (१) इसकी आधारभूत मान्यता, अर्थात् ईश्वर की सत्ता, बुद्धि द्वारा सिद्ध नहीं की जा सकती; तथा (२) यह एक शक्ति को हथिया लेने वाले की उतनी ही रक्षा करता है जितनी कि एक वंशानुगत राजा की, और यह एक साधारण सिपाही को भी वही दैविक मिशन देता है जैसा कि एक गौरवमय राजा को। दैविक मूल के सिद्धांत के विरुद्ध एक युक्ति यह भी है कि यह राज्य के प्राधिकार को इतना पवित्र तथा अभंगीय बनाता है कि उसकी न कोई आलोचना की जा सकती है और न उसके किसी कार्य पर कोई आपत्ति की जा सकती है। इसके अनुसार एक अत्याचारी राजा की आलोचना करना भी अधर्म है। परन्तु राजनीतिक चिंतन को एक नई दिशा उसने सामाजिक संविदा के सिद्धांत का खण्डन करके ही दी; उसमें उसने राज्य की आज्ञा पालन के कर्त्तव्य की एक समाजशास्त्रीय व्याख्या की।

सामाजिक संविदा के सिद्धान्त पर उसके आक्रमण का वर्णन स्वयं उसी के शब्दों में करना अच्छा होगा। वह लिखता है : "संसार के अधिकतर भागों में यदि आप यह उपदेश दें कि राजनीतिक सम्बन्धों का आधार पूर्ण रूप से स्वेच्छापूर्ण अनुमति अथवा परस्पर वायदा है तो न्यायरक्षक तुरन्त आपको राजाज्ञा के आधार को हिलाने वाले राजद्रोह के अपराध में बन्दी बना लेगा, यदि आपके मित्रों ने उससे पहिले ही आपको ऐसी ऊपटांग बातें करने पर दीवाना समझ कर बन्द न कर लिया।" संविदा सिद्धान्त को निम्नलिखित कारणों से मूर्खतापूर्ण समझा जा सकता है। इस सिद्धान्त को मान्य बनाने के लिये हमें या तो यह मान लेना चाहिये कि मूल संविदा न केवल उसे करने वालों के ऊपर बल्कि समस्त आने वाली संततियों के ऊपर बाध्यकारी थी, अथवा यह कि प्रत्येक आने वाली पीढ़ी किसी व्यंजित ढंग से अपनी अनुमति देती रहती है। दोनों ही बातें मानने योग्य नहीं हैं। पहिली बात तो प्रत्येक व्यक्ति तथा पीढ़ी के आत्मनिर्णय के अधिकार से संगति नहीं खाती और दूसरी सरकार के उस प्राधिकार को ही कानूनी रूप दे देती है जिसका कि संविदावादी निषेध करना चाहता है। दूसरे यह कि यह सिद्धांत आदि मनुष्य में बौद्धिक तथा नैतिक प्रगति की वह मात्रा देखता है जोकि उसमें कदापि नहीं हो सकती थी। स्वेच्छापूर्वक सामाजिक संविदा करना तथा उस पर अटल रहना वन्य मनुष्य की बुद्धि से परे की बात है। तीसरी बात यह कि यह सिद्धान्त राजनीतिक कर्तव्यपालन की कोई समुचित व्याख्या प्रस्तुत नहीं करता। ह्यूम की तर्कना को फिर उसी के शब्दों में व्यक्त करना ठीक होगा : "सरकार की आज्ञाओं का हमें जो पालन करना पड़ता है उसका यदि मुझ से कोई कारण पूछे तो मेरा एकदम उत्तर यह होगा कि क्योंकि समाज इसके बिना जीवित ही नहीं रह सकता; और मेरा यह उत्तर स्पष्ट है, समस्त मानव जाति की यह समझ में आ सकता है। तुम्हारा उत्तर यह है कि क्योंकि हमें अपने वचन का पालन करना चाहिये। परन्तु उसके अतिरिक्त कोई भी व्यक्ति, जब तक कि उसे दार्शनिक शिक्षा न दी जाये, न तो इस उत्तर को समझ सकता है और न इसे पसन्द कर सकता है। इसके अतिरिक्त मैं कहता हूँ कि जब आप से यह पूछा जायेगा कि हम अपने वचन का पालन करने के लिये विवश क्यों हैं, तो आप चक्कर में पड़ जायेंगे। कोई भी व्यक्ति ऐसा उत्तर नहीं दे सकता जो कि सीधे तौर से हमारे राजभक्ति के कर्त्तव्य की व्याख्या कर दे।"

राज्य के ऐतिहासिक मूल के रूप में संविदा सिद्धान्त का जो खण्डन ह्यूम ने किया है उसे अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता क्योंकि इस सिद्धान्त को राज्य के मूल का विवरण देने की अपेक्षा शासक तथा शासित के सम्बन्ध की व्याख्या करने के लिए अधिक पेश किया गया था। ऐतिहासिक आधार पर ह्यूम के इस कथन को गलत सिद्ध नहीं किया जा सकता कि प्रत्येक वर्तमान सरकार, वह सरकार जिसका कि इतिहास में कोई चिह्न शेष रह गया है, मूल रूप में शक्ति अपहरण अथवा विजय, या दोनों का

परिणाम है जिसमें शासित की स्वेच्छापूर्ण अनुमति का बहाना तक नहीं किया गया। परन्तु इससे यह सिद्धान्त ग़लत सिद्ध नहीं हो जाता। सिद्ध करना आवश्यक यह है कि राजनीतिक कर्त्तव्यपालन तथा राज्य के स्वरूप के सिद्धान्त के रूप में भी संविदा सिद्धान्त अपूर्ण है। यही सिद्ध करने का प्रयास ह्यूम अपने एक निबन्ध में करता है। वह लिखता है : "यह कहना व्यर्थ है कि समस्त सरकार जन-अनुमति के ऊपर आधारित होती हैं या होनी चाहियें। ...... मेरा विश्वास है कि मानवीय विषयों में ऐसी अनुमति का कोई स्थान नहीं हो सकता। मेरा इरादा यह नहीं है कि जनता की अनुमति को सरकार का एक न्यायोचित आधार बनने से रोकूँ जहाँ कि इसका एक स्थान हो सकता है। निस्सन्देह यह सर्वश्रेष्ठ और सबसे अधिक पवित्र है। मेरा कहना तो केवल यह है कि किसी मात्रा में भी इसका स्थान शायद ही कभी रहा हो और अपने पूर्ण रूप में तो इसका स्थान कभी रहा ही नहीं।" दूसरे शब्दों में, ह्यूम इस बात से इन्कार नहीं करता कि जनता की अनुमति सरकार का एक न्यायोचित आधार है; उसका आग्रह केवल यह है कि यथार्थ जीवन में इसका कोई अधिक स्थान नहीं है और ऐसा तो एक भी उदाहरण नहीं हो सकता जब कि केवल इसी के ऊपर आचरण किया जाता हो। उपरोक्त पैरा में जो कुछ कहा गया है उससे सिद्ध होता है कि इस अनुमति की कोई सन्तोषजनक व्याख्या सामाजिक संविदा का सिद्धान्त पेश नहीं कर सकता।

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि शासन का प्राधिकार जनता की अनुमति के ऊपर आधारित नहीं है तो फिर किस पर आधारित है? गत पृष्ठ पर दिये गये उद्धरण में ह्यूम ने इस प्रश्न का उत्तर दिया है। उसके मतानुसार मनुष्य सरकार की आज्ञा का पालन इसलिये करते हैं क्योंकि इसके बिना समाज का अस्तित्व ही नहीं रह सकता, क्योंकि वे अनुभव करते हैं कि सरकार समाज के जीवन की आवश्यक शर्त है। कोई व्यक्ति यह तर्क तो कर सकता है कि स्वतन्त्र राज्यों में शासन शक्ति का आधार जनता की अनुमति होती है, किन्तु यह युक्ति निरंकुश राज्यों पर तो लागू नहीं होती। एक समय था जबकि निरंकुश राज्यों की संख्या स्वतन्त्र राज्यों से कहीं अधिक थी। निरंकुश राज्य शब्दों तक में भी जनता की अनुमति के सिद्धान्त का सम्मान नहीं करते। इसलिये राजभक्ति के कर्त्तव्य को वचन-पालन का कर्त्तव्य समझना जैसा कि संविदावादी करना चाहते हैं एक बुनियादी ग़लती है। केवल इतना ही नहीं, ह्यूम स्वयं कहता है कि राजभक्ति तथा संविदा के पालन करने के कर्त्तव्य का मूल एक ही है। लोग महसूस करते हैं कि उन्हें सरकार का सम्मान करना चाहिये, उसकी आज्ञा का पालन करना चाहिये और वचन का पालन करना चाहिये, क्योंकि ऐसा किए बिना कोई भी समाज स्थिर नहीं रह सकता। और एक स्थिर समाज में ही व्यवस्था कायम रह सकती है तथा नागरिकों का धन, जन सुरक्षित रह सकता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि भौतिक स्वहित ही मनुष्यों को राजाज्ञा पालन करने के लिए उत्प्रेरित

करते हैं। जब तक कि सरकार सुरक्षा, शान्ति, तथा व्यवस्था क़ायम रख सकती है तब तक उसके प्रति भक्ति रखने के लिये उपयोगितावादी आधार मौजूद हैं, फिर चाहे उसकी शक्ति का मूल बल हो अथवा अनुमति। आगे चलकर ह्यूम कहता है कि सरकार के प्रति मनुष्य जो भक्ति रखते हैं, वह एक बड़ी हद तक आदत की अभिव्यक्ति है जोकि मानव स्वभाव का उतना ही बड़ा अंग है जितना कि अन्य कोई ध्येय। इसके अतिरिक्त राजभक्ति की भावना स्वाभाविक रूप से उन सामान्य हितों से उत्पन्न होती है जो कि एक समाज के घटक सदैव रखते हैं। सामान्य हित उन अभिसमयों अथवा सामान्य नियमों को मिला कर बनता है जिन्हें कि भूतकाल के अनुभव ने मानवी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए उपयोगी सिद्ध कर दिया है। राजभक्ति की भावना के पोषण में आदत तथा उपयोगिता के भाग पर ज़ोर देकर ह्यूम ने राजनीतिक समस्याओं के प्रति समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण का शिलान्यास किया और उपयोगितावादी विचारधारा का पूर्व सूचक बन गया। ह्यूम का यह कहना कि राजनीतिक व्यवहार का मूल रिवाज अथवा आदत और भावना में पाया जाता है, बुद्धि में नहीं, उसे लॉक से बहुत दूर ले गया।

ह्यूम के राजनीतिक चिन्तन के एक दूसरे पहलू की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है। उसका यह स्वीकार करना कि व्यवहार में जनता की राजभक्ति आदत की अभिव्यक्ति है और उसका यह कहना कि अत्यन्त नवीन विचार तथा हिन्सात्मक क्रान्तियों के कुछ ऐसे परिणाम होते हैं जिन्हें उपयोगिता के दृष्टिकोण से उचित नहीं ठहराया जा सकता, ह्यूम को रूढ़िवादी पक्ष में रखता है। यह देखना दिलचस्पी से ख़ाली नहीं कि ह्यूम ने अपने समय की इंग्लैण्ड की कुलीनतन्त्री सरकार का समर्थन किया था। उसने इसका समर्थन इस आधार पर किया कि इसमें शक्ति उच्च वर्ग के घटकों के हाथ में रहती थी जो कि अपनी श्रेष्ठतर शिक्षा तथा आर्थिक सुरक्षा के कारण अपने आचरण में हिन्सा को शान्ति भावना से बदल सकते थे। ह्यूम कार्य की समस्त इच्छाओं तथा प्रेरणाओं को मूल शब्द भावनाओं के नाम से पुकारता है। वह इच्छा या भावना को हिन्सात्मक कहता है यदि वह किसी कार्य को बिना परिणामों के सोचे हुए ही केवल अपने बल पर ही निर्धारित कर देती है। इसके विपरीत यदि भावना किसी कार्य के निर्धारण में इस बात पर विवेकपूर्ण विचार करती है कि उसके क्या परिणाम होंगे और उसे सन्तुष्ट करने के सर्वोत्तम ढंग क्या होंगे तो वह उसे शान्तिमय कहता है। यह विभेद इस मान्यता पर आधारित है कि मानव जीवन में अन्तिम प्रेरक शक्ति इच्छा अथवा भावना है; बुद्धि का कार्य मनुष्य को कोई नई प्रेरणा देने का नहीं बल्कि उसे केवल यह बतलाना है कि उसकी इच्छाओं को सन्तुष्ट करने के सर्वोत्तम साधन क्या हैं। इस प्रकार ह्यूम द्वारा बताया हुआ कुलीनतन्त्र का औचित्य उपयोगिता पर आधारित है; यह अनुभव-प्रधान है, निगमनात्मक नहीं।

ह्यूम का प्रभाव— ह्यूम के राजनीजिक सिद्धान्तों के उपरोक्त संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजनीतिक कर्त्तव्य की विशुद्ध रूप से मानवीय तथा सापेक्षिक शब्दों में व्याख्या करके जिसका कोई धार्मिक अथवा अतिक्रमणात्मक पृष्ठभूमि न हो, उसने राजनीतिक चिन्तन को एक नवीन दिशा दी। "उसने उस सम्पूर्ण बुद्धिवादी दर्शन का खण्डन कर डाला जिसकी मान्यतायें थीं: नैसर्गिक अधिकार, स्वयंसिद्ध सत्य, तथा नित्य एवं शाश्वत नैतिकता के कानून जिन्हें कि प्रकृति के सामंजस्य तथा मानव समाज की व्यवस्था का संरक्षक समझा जाता था। अटल अधिकारों, अथवा नैसर्गिक न्याय के स्थान में केवल उपयोगिता रह जाती है, जिसका आधार है या तो स्वहित या सामाजिक स्थिरता और जो आचरण के कुछ परम्परा-सिद्ध मापदण्डों में प्रसूत होती है जो कि साधारणतया मानवी उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं।"* यह सब कुछ उसने प्रज्ञा की अनुभव-प्रधान सम्भावना के शब्दों में व्याख्या करके तथा उसे व्यावहारिक नियन्त्रण का एक साधन समझ कर किया। उसने सामाजिक व्यवस्था के आधार की इस धारणा का पूर्णतया परित्याग कर दिया कि मनुष्य सुनिश्चित विवेक तथा अतिक्रमणात्मक प्राकृतिक कानून से प्रेरित होकर कार्य करता है।

एडमण्ड बर्क (Edmund Burke) **: परिचयात्मक**— डेविड ह्यूम से अब हम एडमण्ड बर्क पर आते हैं जिसके बारे में कुछ विचारकों की यह धारणा है कि 'इंग्लैण्ड की राजनीति में भाग लेने वाला वह महानतम विचारक' था। हो सकता है कि इन दोनों का एक ही अध्याय में अध्ययन करने पर कुछ लोग आपत्ति करें। यह कहा जा सकता है कि ह्यूम एक दार्शनिक था, जिसने अनुसंधान की प्रयोगात्मक पद्धति को मानव प्रज्ञा के विश्लेषण के लिये अपनाया और राजनीति, धर्म तथा नैतिकता के क्षेत्रों में कुछ परिणामों पर पहुँचा। इसके विपरीत बर्क एक राजनीतिज्ञ था जो कि एक राजनीतिक दार्शनिक के रूप में नहीं बल्कि एक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ के पक्षपात-पूर्ण दृष्टिकोण, एक राजनीतिक दलविशेष के समर्थन और अन्य दल की निन्दा में लगा हुआ था। ह्यूम के ग्रन्थों में हमें मानव बुद्धि, धर्म तथा आचार के स्वरूप की औपचारिक तथा क्रमबद्ध मीमांसा मिलती है; किन्तु बर्क की कृतियाँ व्यावहारिक समस्याओं का

* "He made a clean sweep of the whole rationalist philosophy of natural right, of self-evident truths, and of the laws of eternal and immutable morality which were supposed to guarantee the harmony of nature and the order of human society. In place of indefeasible rights or natural justice and liberty, there remains merely utility, conceived in terms of either self-interest or social stability, and issuing in certain conventional standards of conduct which on the whole serve human purposes." Sabine: *History of Political Theory*, page 604.

परिणाम हैं; किसी सिद्धान्तविशेष का प्रतिपादन करने के लिये उनकी रचना नहीं हुई; वे तो सामयिक प्रश्नों के ऊपर उसके विचार हैं। हम इन सब बातों को स्वीकार करते हैं। परन्तु इस बात से इन दो विचारकों की भाव-साम्यता नष्ट नहीं हो जाती। निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि ये दोनों ही 'ज्ञान युग' (Enlightenment) के दर्शन के विरुद्ध रूढ़िवादी प्रतिक्रिया का प्रतिनिधित्व करते हैं; और दोनों ही किसी 'बुद्धि के अतिक्रमणात्मक कानून' (Transcendental Law of Reason), जिसके ऊपर कि राजनीतिक संघटन आधारित है, तथा अमूर्त प्राकृतिक अधिकारों के अस्तित्व से इन्कार करते हैं। दोनों ही जीवन की जटिलताओं से भली प्रकार परिचित हैं और यह मानते हैं कि जीवन के विषय तर्क के नियमों के अनुसार अनुशासित नहीं किये जा सकते। दोनों ही जीवन की समस्याओं पर मॉण्टेस्क्यू की भावना के साथ विचार करते हैं और अमूर्त्त की अपेक्षा मूर्त्त पर जोर देते हैं। दोनों ही कार्य के निर्देश के रूप में उपयोगिता तथा व्यवहारबुद्धि के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। ह्यूम की भाँति बर्क भी एक रूढ़िवादी था; वास्तव में रूढ़िवादी विचारधारा का उसे एक अग्रगण्य प्रतिपादक समझा जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ही अध्याय में दोनों के अध्ययन को उचित सिद्ध करने के लिए उन दोनों में काफी साम्य है।

जीवन तथा परिस्थितियाँ— बर्क के जन्म-स्थान तथा जन्म-तिथि के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। उसकी छः विभिन्न जन्मतिथियाँ बताई जाती हैं। इस विषय में सर्वाधिक मान्य मत यह है कि उसका जन्म आयरलैंड की राजधानी डबलिन में जनवरी १७२९ ई० में हुआ। उसका पिता एक वकील (Solicitor) था और वह प्रॉटेस्टेण्ट धर्म को मानने वाला था। उसकी माता एक कैथोलिक थी। कैथोलिकवाद के लिये उसके सम्मान, उसकी व्यापक धार्मिक संवेदना और सहिष्णुता का कारण वह प्रभाव हो सकता है जो कि उसकी माता तथा उसकी माता के सम्बन्धियों का उसके ऊपर पड़ा था जिनके सम्पर्क में बर्क शैशवावस्था में कुछ वर्षों तक रहा था। डबलिन में कालिज की शिक्षा समाप्त कर लेने पर उसे कानून का अध्ययन करने के लिए लन्दन भेज दिया गया। कानून का अध्ययन पूर्ण करने की उसने कोई परवाह न की। इससे उसका पिता बहुत खिन्न हुआ और उसने बर्क को आर्थिक सहायता देनी बन्द कर दी। इसलिए अपनी आजीविका का प्रबन्ध बर्क को स्वयं करना पड़ा। वह लेखन तथा पत्रकारिता की ओर आकृष्ट हुआ। इसी काल में उसने अपने ग्रन्थ 'Vindication of Natural Society' को बिना अपना नाम दिये हुए ही प्रकाशित कराया और अपने एक पहिले ग्रंथ 'Ideas of the Sublime and the Beautiful' को समाप्त किया। १७५९ ई० में उसका परिचय श्री डब्ल्यू. जी. हेमिल्टन से हुआ जो कि तत्पश्चात् शीघ्र ही आयरलैण्ड मंत्री नियुक्त कर दिये गए। श्री हेमिल्टन ने बर्क को अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बना लिया और अपने साथ उसे डब्लिन ले गये। इस हैसियत

में कार्य करने से बर्क को शासन कार्य का काफी व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त हो गया जो आगे चल कर उसके बहुत काम आया। १७६५ ई० में उसने यह काम छोड़ दिया और वह एक बार फिर स्वच्छन्द रूप से विचरण करने लगा। परन्तु वह बहुत दिन तक बेकार नहीं रहा। उसी वर्ष लार्ड रॉकिंघम ने, जो कि उससे कुछ ही पहिले इंग्लैण्ड का प्रधानमंत्री बना था उसे अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बना लिया। उस वर्ष के समाप्त होने से पहिले ही बर्क को कॉमन्स सभा (House of Commons) में स्थान मिल गया। इस प्रकार उसके राजनीतिक जीवन का आरम्भ हुआ जो कि तीस वर्षों तक चला। इस काल में वह ह्विग पार्टी से सम्बद्ध रहा जिसका कि वह 'मस्तिष्क' तथा एक प्रमुख नेता था। जब भी ह्विग पार्टी की सरकार बनती थी, बर्क को उसमें एक महत्त्वपूर्ण स्थान मिलता था और जब भी वह दल विरोध में होता था तो सरकार की नीतियों की कटु आलोचना करने का भार उसके कन्धों पर पड़ता था। अमेरिकन मामलों के ऊपर उसने 'हाउस' में जो प्रथम भाषण दिया उससे उसे वह ख्याति प्राप्त हुई जो कि उससे पूर्व अपने प्रथम भाषण में किसी को न हुई थी। बर्क की गणना संसार के महानतम व्याख्यानदाताओं में होती है। उसका शब्द-चित्र-वैभव, शैली-सौन्दर्य तथा भाषण-कला का गौरव अपूर्व हैं। परन्तु एक महान् व्याख्यानदाता वह केवल इन्हीं गुणों के कारण नहीं बना; उसकी युक्तियों के गम्भीर बौद्धिक तत्त्व, संगतिबद्धता तथा उसकी नितान्त सत्यहृदयता ने उसमें बहुत बड़ा योग दिया। वारेन हेस्टिंग्स पर चलाये गये महा-अभियोग के दो वर्ष पश्चात् १७९७ ई० में उसका देहावसान हो गया।

आधारभूत राजनीतिक विचार— हम पहिले ही कह चुके हैं कि बर्क रूसो या मॉण्टेस्क्यू के सदृश एक दार्शनिक नहीं था; वह एक दार्शनिक राजनीतिज्ञ था, अर्थात् वह एक प्रथम श्रेणी का विचारक था जिसने अपने जीवन के तीस वर्ष कामन्स सभा के सदस्य के नाते अपने राष्ट्र के राजनीतिक जीवन में सक्रिय भाग लेने में लगाये थे। उसके राजनीतिक विचार 'सोशल कॉन्ट्रेक्ट' अथवा 'स्प्रिट ऑफ लॉज़' सरीखे किसी क्रमबद्ध ग्रन्थ में नहीं मिलते; वे उसके संसद में दिये गये भाषणों, पत्रों तथा अपने निर्वाचकों के सामने दिये गये व्याख्यानों तथा कतिपय ग्रन्थों (Thoughts on the Causes of Present Discontents; Speech on Conciliation with America तथा Reflections on the Revolution in France) में बिखरे हुए पाये जाते हैं। उक्त तीनों ग्रंथों की रचना में बर्क अपने समय की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटनाओं द्वारा प्रभावित हुआ था। उनके विषय में दो शब्द यहाँ कह देना अनावश्यक न होगा।

"Thoughts on the Causes of Present Discontents" में जो कि १७७० ई० में प्रकाशित हुआ था, बर्क ने कुछ उन समस्याओं की मीमांसा की है जो कि उस समय की जनता के मस्तिष्क को उद्वेलित कर रहे थे और जिनसे सरकार आशंकित हो रही थी। इनमें से मुख्य समस्यायें थीं:— 'अमेरिका के साथ कलह, विल्कीज़ पर

केन्द्रित आन्दोलन तथा रहस्यमयी जूनियस द्वारा प्रतिपादित क्रान्तिकारी 'कार्यक्रम'। उसके विचार में सरकार के समस्त संकटों का कारण केवल एक था और वह था शाही प्रभाव को बढ़ाने तथा संसद की शक्तियों को सीमित करने का राजा जार्ज तृतीय का प्रयास। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति वह 'दोहरे मंत्रीमंडल' की प्रणाली का आविष्कार करके करना चाहता था। इससे 'एक गुट राजा के व्यक्तिगत आदेशों के अनुसार जनता की सामान्य भावना के विरुद्ध होते हुए भी और राजा के मंत्रियों की अनुमति के बिना ही शासन कर सकता था।' बर्क ने इसके विरुद्ध जनमत संगठित करने का प्रयत्न किया और साथ ही साथ उसने संसद के सदस्यों को भी यह सिखाने का प्रयास किया कि एक सांविधानिक शासन-प्रणाली में, जिसमें कि जनता की स्वतन्त्रता तथा भलाई धारासभा के सदस्यों की सच्चरित्रता तथा सतर्कता के ऊपर निर्भर करती है, उनके क्या कर्त्तव्य होते हैं। उसकी आधारभूत युक्ति यह थी कि यद्यपि संसदीय सरकार का जन्म कुछ अज्ञात कारणों से और इस ढंग से हुआ जिसे हम पूर्ण रूप से समझ नहीं पाते तथापि केवल उसका जन्म ही इस बात का प्रमाण है कि इसने एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता की पूर्ति की है। इसके विकास की प्रक्रिया को बदलना जैसा कि जार्ज तृतीय करना चाहता था सम्पूर्ण समाज के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और बुनियादी बातों का विरोध करना था। सांविधानिक विकास की इस स्वाभाविक प्रक्रिया को रुद्ध करने के समस्त प्रयासों के प्रति अपने विरोध को बर्क ने निम्नलिखित स्मरणीय शब्दों में व्यक्त किया है :

"हमारा संविधान एक ऐसे सूक्ष्म संतुलन पर खड़ा हुआ है जिसके चारों ओर ढालू चट्टानें हैं और अगाध सागर हैं। यदि हम इसे एक ओर को कुछ अधिक झुकाने के खतरे से बचाते हैं तो इसके दूसरी ओर को झुक जाने का खतरा उत्पन्न हो जाता है। हमारे जैसी जटिल शासन-व्यवस्था में कोई आधारभूत परिवर्तन करना ऐसी कठिनाइयों से भरा हुआ है जिनमें कोई विचारशील व्यक्ति उसका निर्णय करने को, और कोई दूरदर्शी व्यक्ति उसे क्रियान्वित करने को, और कोई ईमानदार व्यक्ति उसका वचन देने को एकदम तैयार नहीं हो सकता।"*

* "Our constitution stands on a nice equipoise with steep precipices and deep waters upon all sides of it. In removing it from a dangerous leaning towards one side there may be a risk of oversetting it on the other. Every project of a material change in a government so complicated as ours is a matter full of difficulties, in which a considerate man will not be too ready to decide, a prudent man too ready to undertake, or an honest man too ready to promise."

"इन शब्दों में बर्क ने अपने इस आधारभूत विश्वास का सजीव वर्णन किया है कि राज्य कोई मानवकृत यन्त्र नहीं है बल्कि एक अत्यन्त जटिल सावयव है जिसकी रूपरेखा के निर्धारित करने में तो व्यक्तियों के प्रयत्नों ने अवश्य सहायता दी है, परन्तु जिसके विकास तथा लक्ष्य को कोई भी व्यक्ति पूर्ण रूप से नहीं समझ सकता। बर्क का विश्वास था कि राज्य के विकास का ढंग एक बड़ी हद तक ऐसी शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है जिसे कोई भी व्यक्ति पूर्ण रूप से नहीं समझ सकता, और जब मनुष्य कोई परिवर्तन करना चाहते हैं तो उन्हें बहुत सोच समझकर और संयम के साथ ही ऐसा करना चाहिये क्योंकि कोई नहीं कह सकता कि उनके कार्यों के क्या परिणाम होंगे; हो सकता है कि उनके परिणाम सम्पूर्ण समाज के अत्यन्त मौलिक हितों के ही विरुद्ध हों।"*

उपरोक्त समीक्षा से कुछ अन्य परिणाम निकलते हैं। यदि राज्य एक ऐसा अति जटिल सावयव है जिसका विकास कुछ ऐसी शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है जो हमारे नियन्त्रण और समझ से बाहर हैं और जिसका लक्ष्य हमारी समझ में नहीं आ सकता; तो इसके तथा इससे सम्बन्धित समस्याओं के अध्ययन की एकमात्र समुचित पद्धति ऐतिहासिक ही हो सकती है; १७वीं तथा १८वीं शताब्दी में राजनीतिक दार्शनिकों द्वारा अपनाई गई निर्विकल्प तथा कोरी कानूनी पद्धतियाँ निरर्थक हैं। इसमें मॉण्टेस्क्यू के साथ सादृश्य स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। दूसरे, यह कि यदि सरकार एक ऐसी जटिल चीज है कि इसमें परिवर्तन करने का निर्णय करने के लिये कोई भी विचारशील तथा दूरदर्शी व्यक्ति एकदम तैयार न होगा तो उसमें परिवर्तन की प्रस्तावनाओं के प्रति हमें बहुत सतर्कता से काम लेना चाहिये। यहाँ बर्क का रूढ़िवाद स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होता है। जार्ज तृतीय के आक्रमण के विरुद्ध उसने संविधान का जो पक्षपोषण किया है वह रूढ़िवाद का एक सुन्दरतम औचित्य है।

बर्क की दूसरी महत्त्वपूर्ण कृति है 'Speech on Conciliation with

---

* "In these words Burke gave vivid expression to his basic conviction that the State is not a man-made machine but an immensely complicated organism which the efforts of individuals have certainly helped to shape, but whose evolution and destiny can not be wholly understood by any individual. Burke believed that the way in which a State evolves and develops is largely determined by forces which no individual can fully comprehend, and that when men make changes they should do so with restraint and caution, since the consequences of their actions cannot be foreseen and may conflict with the most fundamental interests of the community as a whole."

—Murray : *Introduction to Political Philosophy*, page 143.

America', जोकि १७७५ ई० में प्रकाशित हुई थी। लॉर्ड नॉर्थ की सरकार के सामने उस समय अमेरिका की समस्या कदाचित् सब से जटिल और सब से अधिक संकटपूर्ण समस्या थी। दमनकारी ब्रिटिश नाविक कानूनों तथा ब्रिटिश उद्योगपतियों और व्यापारियों के हित के लिए उनके उद्योग तथा व्यापार पर लगाये गये प्रतिबन्धों और ब्रिटिश कर्मचारियों के कुशासन से तंग आकर अमेरिका निवासी विद्रोह करने पर तुल गये थे। स्टाम्प एक्ट तथा आयात-कर एक्ट पास करके ब्रिटेन ने उपनिवेशों पर जो कर लगा दिया था उससे स्थिति और भी खराब हो गई थी। दोनों ओर से गरमागरम विवाद चल रहा था। ब्रिटिश संसद इन कानूनों को अपनी संप्रभु शक्तियों के नाम में उचित सिद्ध करने की चेष्टा करती थी; वह उपनिवेशों पर कर लगाने के अधिकार का दावा करती थी। अमेरिका में बसने वालों का उत्तर यह था कि हमें अनुचित करों का प्रतिरोध करने का अधिकार है। बर्क ने उस विवाद में हस्तक्षेप किया और उसे एक ऊँचे स्तर पर उठाया। उसने कहा कि यह समस्या किसी भी पक्ष के अमूर्त अधिकार की नहीं है। उसने ब्रिटिश सरकार की नीति के अनौचित्य को सिद्ध करने का प्रयास किया। उसकी धारणा थी कि शासन नीति के निर्धारण करने के लिये अमूर्त सिद्धान्तों की अपेक्षा व्यवहार बुद्धि तथा सहज बुद्धि कहीं अधिक मान्य निर्देशक होती हैं। संप्रभुतासम्पन्न होने के नाते ब्रिटिश संसद के उपनिवेशों के ऊपर कर लगाने के अधिकार से उसने इंकार नहीं किया; किन्तु स्थिति विशेष में करारोपण की उसने निन्दा की। यह आवश्यक नहीं कि एक संप्रभुतासम्पन्न अधिकारी अपने समस्त अधिकारों का प्रयोग प्रत्येक परिस्थिति में करे। उसने इस प्रश्न को इन स्मरणीय शब्दों में प्रस्तुत किया: "प्रश्न यह नहीं है कि तुम्हें अपनी प्रजा को पीड़ित करने का अधिकार है या नहीं, वल्कि प्रश्न यह है कि क्या उन्हें सुखी बनाना तुम्हारा कर्त्तव्य नहीं है। प्रश्न यह नहीं है कि एक वकील के मतानुसार मैं क्या कर सकता हूँ; प्रश्न यह है कि मानवता, बुद्धि तथा न्याय के अनुसार मुझे क्या करना चाहिये।"* बर्क का कहना था कि जब दो पक्षों के दृष्टिकोण एक दूसरे के बिल्कुल विरुद्ध हों तो सर्वोत्तम मार्ग यह है कि वे एक ऐसा समझौता करें जो दोनों का मध्य प्रस्तुत करता हो। वह कहता है कि उपनिवेशों पर कर लगाने तथा उन पर नियन्त्रण करने के अपने अधिकार का परित्याग करके उनकी सद्भावना, सहयोग तथा शान्ति प्राप्त करना सरकार के लिये अधिक हितकर होगा। उपनिवेशों के सन्तुष्ट तथा सम्पन्न रहने से इङ्गलैण्ड की समृद्धि तथा सुरक्षा भी बढ़ेगी; अपने एक दावे को कुशलताहीन ढंग से थोपने की अपेक्षा उपनिवेशों को सुखी बनाना अधिक लाभदायक होगा। उसने यह भविष्यवाणी की कि दमन नीति का केवल एक परिणाम होगा; और वह है उप-

* "The question is not whether you have a right to render your people miserable, but whether it is not your interest to make them happy. It is not what a lawyer tells me I *may* do, but what humanity, reason, and justice tell me I *ought* to do."

निवेशों का साम्राज्य के हाथों से निकल जाना। उसकी युक्ति का सार उसी के इन स्मरणीय शब्दों में है: "राजनीति में उदारता प्रायः सच्ची बुद्धिमत्ता सिद्ध होती है, और एक महान् साम्राज्य तथा संकीर्ण हृदय साथ साथ नहीं चल सकते।"†

अमेरिकन उपनिवेशों की ओर से बारह वर्ष तक जो संघर्ष उसने किया वास्तव में वह न्याय, मानवता तथा शान्ति के लिए एक लड़ाई थी। अपने भाषणों में उसने समस्या के निराकरण में स्थिर बुद्धि तथा उदारवाद पर और सार्वजनिक मामलों के प्रबन्ध में ईमानदारी, शिष्टता, न्याय तथा दूरदर्शिता से काम लेने पर ज़ोर दिया। यही बात उसके उस राजनीतिक युद्ध के विषय में कही जा सकती है जो कि उसने वारेन हेस्टिंग्स पर लगाये गये महा-अभियोग के संचालन करने में लड़ा जो १७८८ से १७६५ तक चलता रहा। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारियों के, जिनका एकमात्र उद्देश्य साधनों और जनता के ऊपर पड़ने वाले प्रभाव का विचार किये बिना ही येन केन प्रकारेण धन का संचय करना था, शोषक शासन के लिये उसने भारत के गवर्नर जनरल की घोर निन्दा की। जिस निर्दयता के साथ भारतवासियों के साथ व्यवहार किया गया और जितने उपेक्षा भाव से मान्य संधियाँ भंग की गईं उसे बर्क सहन न कर सका। ऐसे आधार पर कोई भी स्थिर सरकार खड़ी नहीं की जा सकती; इसका फल केवल कटु विक्षोभ हो सकता था। अपने देशवासियों का ध्यान उसने ग्रेट ब्रिटेन के सार्वजनिक जीवन के ऊपर उन कुप्रभावों की ओर आकृष्ट किया जो कि ब्रिटिश संसद के अन्दर तथा बाहर भारत से लौटे हुए नवाबी अंग्रेज़ों की उपस्थिति से उत्पन्न हुए थे। बर्क के इन दो राजनीतिक जिहादों में उसका उदारवाद तथा मानवतावाद साकार हो उठा है। इन दो विषयों पर उसने जो कुछ कहा है उसमें उसके राजनीतिक दर्शन की कोई ऐसी समीक्षा नहीं मिलती जैसी कि उसकी प्रसिद्ध कृति, 'Reflections on the Revolution in France' में मिलती है जो कि १७६० में क्रान्ति के द्वितीय वर्ष के मध्य में प्रकाशित हुई थी। इसमें उन सामान्य सिद्धान्तों का विवरण पाया जाता है जिनके अनुसार कि वह आचरण करता था।

फॉक्स तथा शैरीडन ने, जो कि वारेन हेस्टिंग्स के महा-अभियोग में बर्क के साथ सहयोग कर रहे थे, फ्रांस की क्रान्ति का स्वागत किया और फ्रांसवासियों की मुक्ति से वे आनन्दित हुए; किन्तु बर्क का विचार उनके विपरीत था। उसने महसूस किया कि फ्रांस की क्रान्ति इंग्लैण्ड की उस रक्तहीन क्रान्ति से जो कि १६८८ ई० में हुई थी और अमेरिका के स्वतन्त्रता संग्राम से भी सर्वथा भिन्न थी। यह एक ज़बरदस्त सामाजिक उथल पुथल थी जिसका स्वरूप अत्यधिक हिन्सात्मक तथा विध्वंसक था। हर्नशॉ के शब्दों में वह "एक सिद्धान्त तथा मत की क्रान्ति थी जिसकी तुलना अपने आकार के

† "Magnanimity in politics is not seldom the truest wisdom, and a great Empire and little minds go ill together."

दृष्टिकोण से स्वयं युग निर्मायक 'सुधार आन्दोलन' से ही की जा सकती है।" उसने देखा, जो कि फॉक्स तथा शैरीडन न देख सके, कि फ्रांस की क्रान्ति ने राज्य तथा समाज के आधार को ही संकट में डाल दिया और भूत तथा वर्तमान में एक बड़ी दराड़ उत्पन्न कर दी, और फ्रांसीसी राष्ट्र का स्वयं जीवन ही ख़तरे में पड़ गया। उसने यह भी देखा कि क्रान्ति का निर्देशन उन लोगों के हाथ में था जो कि अपने विचारों और आदर्शों के अनुसार समाज की नई रचना करने के लिये संकल्प-बद्ध थे और जो ऐसा करने में इतिहास से कोई सबक़ सीखने को, या फ्रांस की तत्कालीन संस्थाओं में अभिव्यक्त शताब्दियों के संगृहीत अनुभव का कोई सम्मान करने को तैयार न थे। इसलिए वह ह्विग पार्टी के अपने साथियों और मित्रों से अलग हो गया और अपने पुराने विरोधियों— टोरियों से जा मिला और इस प्रकार रूढ़िवादी दल (Conservative Party) को जन्म दिया। क्रान्ति की निन्दा करने तथा अपने पुराने साथियों को छोड़ देने से वर्क के मित्रों को बड़ा धक्का लगा और कष्ट हुआ; उनका विचार था कि वर्क के इन कार्यों की संगति उसके अमेरिकन स्वतंत्रता के समर्थन, उसकी राजा द्वारा संसद को नियन्त्रित करने के प्रयत्नों की निन्दा तथा ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकारों को एकदम समाप्त करने के प्रयत्नों से नहीं बैठती। उन्होंने सोचा कि वर्क बदल गया। ऐसी धारणा ग़लत है; वर्क के क्रान्ति सम्बन्धी विचारों तथा उसके पहिले के राजनीतिक संघर्षों में कोई असंगति नहीं है। उसके समस्त लेख तथा भाषण एक ही विषय के विभिन्न रूप हैं; उसका क्रान्ति के ऊपर आक्रमण उसी रूढ़िवादी भावना से प्रेरित है जो कि उसके उससे पूर्व के समस्त लेखों का आधार है। क्रान्तिकारियों के व्यावहारिक उद्देश्यों से तो उसे सहानुभूति थी, किन्तु वह उनकी हिंसा और गुन्डागर्दी से भयभीत था। उसकी निर्णय शक्ति असंतुलित हो गई और उसने ऐसी अनुत्तरदायी वाग्वीरता का प्रदर्शन किया जिसमें उसकी निष्पक्षता, उसका इतिहास का निर्णय तथा उसका तथ्य ज्ञान, सब कुछ बहुत बड़ी हद तक नष्ट हो गया। परन्तु स्थिति का जो विश्लेषण उसने किया वह ठीक ही था; जो सिद्धान्त क्रान्तिकारियों को प्रेरित कर रहे थे उनके आधार पर फ्रांस में सम्भावित घटना प्रवाह की भविष्यवाणी करने में उसने विलक्षण दूरदर्शिता का परिचय दिया। "जबकि अभी राजा अपने सिंहासन पर आरूढ़ था और क्रांति का आतंक आरम्भ नहीं हुआ था, उसने गणतंत्र, ज़ब्ती, अराजकता, युद्ध तथा अन्त में सैनिक तानाशाही की भविष्यवाणी कर दी थी।"*

क्रांति के विषय में वर्क का निर्णय सही था या ग़लत, इससे हमारा कोई सम्बन्ध

* "While still the king was on the throne, and ere yet the Terror had begun, he foretold the republic, the proscription, the anarchy, the war and the final military dictatorship."

—Hearnshaw : *op. ct.*, page 87.

नहीं; हमारी दिलचस्पी तो उसके राजनीतिक दर्शन में है जिसका सजीव प्रतिपादन हमें 'Reflections' में मिलता है। सब से पहिली चीज़ जो हमारे ध्यान को आकृष्ट करती है वह यह है कि सिद्धान्त के ऊपर बुनियादी मतभेद हो जाने पर उसने फॉक्स तथा शेरीडन की मित्रता को तिलांजलि दे दी। ऐसा करके उसने सिद्ध कर दिया कि वह दलीय सरकार को केवल एक साधन समझता था, साध्य नहीं। समस्त सरकारों का सर्वोपरि उद्देश्य सम्पूर्ण राष्ट्र का कल्याण है; और यदि कोई दल गुटबन्दी की दलदल में फंस जाता है तो एक देशभक्त व्यक्ति का उससे सम्बन्ध विच्छेद कर लेना तथा उसका विरोध करना सर्वथा उचित है।

इससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण वर्क का यह विश्वास है कि राज्य तथा उसके संस्थानों की उत्पत्ति धीरे धीरे विकास का परिणाम है जिसे व्यक्ति पूर्ण रूप से न जान सकते हैं और न समझ सकते हैं; उनका आविष्कार या निर्माण व्यक्तिगत रूप से मनुष्यों ने नहीं किया। वह मॉण्टेस्क्यू की इस धारणा को स्वीकार करता है कि समाज का निर्माण करने वाले तथा सरकार की सफलता को निर्धारित करने वाले तत्त्व अनेक तथा अत्यन्त जटिल होते हैं। उसे आश्चर्य है कि एक संगठित सरकार एक समाज में पाये जाने वाली इतनी ज़बरदस्त विभिन्नताओं का समन्वय तथा नियन्त्रण किस प्रकार कर पाती है। इसीलिये वह कहता है कि सरकार के प्रति हमें सम्मान तथा श्रद्धा भाव रखना चाहिये। पुरानी संस्थायें ठीक प्रकार कार्य करती हैं क्योंकि उनके प्रति कुछ निश्चित भावनायें तथा आदतें उत्पन्न हो जाती हैं; जो भी व्यक्ति संस्थाओं में आमूल-चूल परिवर्तन करके इन भावनाओं तथा आदतों को नष्ट करना चाहता है वह भारी भूल करता है। कोई भी नवीन संस्था सुचारु रूप से कार्य न कर सकेगी यदि उसमें ऐसी ही आदतें तथा भावनायें उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं है। यही कारण है कि वर्क जॉर्ज तृतीय द्वारा की गई संसदीय शासन के स्वाभाविक विकास को रुद्ध करने की नीति के विरुद्ध था और वह फ्रांस के क्रांतिकारियों के प्रयत्नों को, जो कि पुरानी व्यवस्था को नष्ट करके एक सर्वथा नवीन सरकार तथा समाज का निर्माण करना चाहते थे, दीवानापन तथा शोचनीय समझता था। वह परिवर्तन का विरोधी नहीं था; परिवर्तन तो जीवन का धर्म है; जो मर चुके हैं केवल उन्हीं में परिवर्तन नहीं होता। परन्तु वह चाहता यह था कि एक समय में थोड़ा सा ही परिवर्तन होना चाहिये और जो परिवर्तन किया जाये वह जनता की आदतों तथा भावना के अनुकूल होना चाहिये। इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्क बड़ा रूढ़िवादी था; संस्थाओं के रूप में अभिव्यक्त मनुष्य की बुद्धिमत्ता के प्रति उसके हृदय में एक रहस्यमयी श्रद्धा थी। उसके मतानुसार राजनीतिज्ञता की कला इस बात में है कि एक संस्था में परिवर्तन करके उसे कायम रखा जाये; और जो लोग परिवर्तनों की योजना बनाते हैं तथा उनका निर्देशन करते हैं उन्हें अपने सिद्धान्त भूतकाल के अनुभव से लेने चाहियें। उपरोक्त विवेचना से यह तो स्पष्ट ही है कि किसी भी जगह के साम्यवादियों की

नीतियों तथा कार्यक्रमों की बर्क घोर निन्दा करता। हाँ, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि शान्तिप्रिय समाजवादियों के प्रति उसका दृष्टिकोण क्या होता। यद्यपि वह कोई लोकतंत्रवादी नहीं था तथापि वह सांविधानिक लोकतंत्र की ओर ले जाने वाले आन्दोलन को निश्चित रूप से ही पसन्द करता।

ऐसे रूढ़िवादी दृष्टिकोण के रखते हुए भी बर्क के ह्विग दल के सदस्य होने में कुछ असंगति दिखलाई पड़ सकती है; किन्तु वास्तव में इन दोनों में कोई असंगति नहीं है। टोरियों में प्राचीन संस्थाओं के प्रति वह सम्मान भावना न थी जो कि बर्क के अनुसार रूढ़िवाद का मूल तत्त्व है; संसद की शक्तियों को कम करके अपनी शक्तियों के बढ़ाने के प्रयत्न में उन्होंने राजा का साथ दिया। जिस सरलता के साथ बर्क ह्विग दल को छोड़कर टोरियों से आ मिला और एक नये रूढ़िवादी दल के जन्म में सहायता की, उससे यह सिद्ध होता है कि बर्क के सिद्धान्तों तथा कथनों में कोई असंगति नहीं थी। हम कह सकते हैं कि बर्क एक उदार रूढ़िवादी था। जिस अर्थ में वह रूढ़िवादी था उसकी व्याख्या हम ऊपर कर चुके हैं; उसके हृदय में भूत के प्रति श्रद्धा थी और वह उस ब्रिटिश प्रणाली का समर्थक था जिसमें शक्ति अभिजात्य कुलों के बुद्धिमान व्यक्तियों के हाथ में निहित थी। परन्तु जनता की स्वतन्त्रता की रक्षा करने, तथा सर्वत्र पाप से लड़ने और भ्रष्टाचार का अन्त करने के लिए वह सदैव तैयार रहता था, इसलिये वह संसार के महानतम उदारवादियों में से एक था। फ्रांस के क्रांतिकारियों ने जो हिंसा की, जो विनाश किया, उसकी जो बर्क ने घोर निन्दा की उसमें उसका रूढ़िवाद अपने स्पष्टतम रूप में साकार हो उठा; और अमेरिकन उपनिवेशों के साथ न्याय की उसने जो हिमायत की और भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारियों द्वारा किये गये भ्रष्टाचार पर उसने जो कटु प्रहार किया उसमें उसका उदारवाद अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में दिखलाई पड़ता है। बर्क के उदार रूढ़िवाद को प्रोफेसर कुक ने निम्नांकित सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है: "शासन एक कठिन कार्य है। सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि शताब्दियों के लम्बे संघर्ष तथा प्रयोग से जो अनुभव अब तक प्राप्त हुआ है उसे सुरक्षित रखा जाये। किन्तु इसके साथ ही साथ मनुष्य अनुभवशील तथा भावनाशील प्राणी हैं; वे एक ऐसे संसार में रहते हैं जहाँ कि वर्तमान भूत से तो प्रभावित होता है, किन्तु उसका अपना निजी अस्तित्व भी होता है, इसलिये कभी कभी सामान्य ढांचे को सुरक्षित रखने के लिये यह आवश्यक हो उठता है कि प्राचीन का बलिदान करके संतुलित रूप से किसी नवीन बात का आविष्कार किया जाये। मानवीय विषयों का विकास धीरे धीरे और व्यवस्थित ढंग से ही हो सकता है: अकस्मात् परिवर्तन छिन्न भिन्न और विध्वंस करता है। राजनीतिज्ञ को सब से बढ़कर सतर्क रहना चाहिये और भूत को भली भांति समझ कर ही उसे कोई सुधार करना चाहिये। एक स्थायी कोष का वह एक अस्थायी संरक्षक है; इसलिए उसे किसी क्षणिक सुख के लिए उस कोष को किसी ऐसे दाँव पर

नहीं रखना चाहिये जिसमें कि विजय अनिश्चित हो। परन्तु इसके साथ ही साथ हमें यह भी याद रखना चाहिये कि दुराग्रहपूर्ण कठोरता भी उतनी ही विनाशकारी हो सकती है जितनी कि काल्पनिक सदाशा। ज्ञानयुक्त व्यवहार बुद्धि की लचकदार शक्ति कठोर सिद्धांतों की कड़कदार शक्ति से कहीं अधिक मूल्यवान होती है।"*

बर्क के रूढ़िवाद से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित उसका राज्य के सावयव स्वरूप में विश्वास है जिसका उल्लेख हम पहिले ही कर चुके हैं। उसका विश्वास था कि राज्य का जन्म किसी विजय, संविदा, तथा इच्छा (मानवीय या दैविक) के किसी एक ही कार्य का फल नहीं है; बल्कि इसका सावयविक रूप से विकास हुआ है जिसकी जड़ें सुदूर भूत में पाई जाती हैं और जिसकी शाखायें असीम भविष्य में फैली हुई हैं। एक काल विशेष में जो व्यक्ति इसके घटक होते हैं वे उसकी सत्ता का केवल एक छोटा सा भाग होते हैं; उन्हें अपने पूर्वजों से अपना उत्तराधिकार मिलता है और उसे बिना क्षति पहुँचाए हुए, तथा उसे कुछ और सम्पन्न करके उन्हें आने वाली संतति को सौंप देना चाहिये। ऐसा तभी सम्भव हो सकता है जबकि राजनीतिज्ञ गण अपनी नीतियों का निर्धारण स्थिरता, व्यवस्था, न्याय तथा नैतिकता के दृष्टिकोण से करें।

यह विचार कि राज्य एक सावयविक विकास है उस संविदा सिद्धान्त से ताल नहीं खाता जिसको कि ह्विग दल वाले टोरियों के राजा के दैविक अधिकार के अन्धमत के उत्तर में पेश करते थे। बर्क स्वयं एक ह्विग था, इसलिए वह पूर्ण रूप से तो संविदा सिद्धान्त को नहीं ठुकरा सकता था। इसलिए वह इस धारणा को मानता था कि समाज एक संविदा का फल है; किन्तु उसकी व्याख्या वह एक ऐसे ढंग से करता

* "Government is difficult, and it is above all necessary to preserve what has been gained in the long struggle and experimentation of centuries; but since men are beings of experience and feeling, living in a world where, if the present is conditioned by the past, it still has its own existence, it may be necessary at times to make sacrifices of the archaic and to innovate moderately in order to preserve the general pattern. Human affairs can develop only at a slow speed, gradually and with order: suddden change disintegrates and destroys. The politician must above all be cautious, and must base his reformism on a careful comprehension of the past. He is the temporary custodian of a permanent treasure, and for a vision of passing pleasure he must not risk its loss in a gamble where victory is uncertain. Yet an unyielding stubbornness may be as destructive as utopian hopes, and the tensile strength of enlightened expediency is more valuable than the brittle force of unanchored principles."

—Cook: *History of Political Philosophy*, pages 681-82.

था जिससे वह निरर्थक हो जाता है। इस प्रसंग में उसके निम्नलिखित शब्द प्रायः उद्धरित किये जाते हैं : "निस्सन्देह समाज एक समझौता है ······ परन्तु हमें यह न समझ बैठना चाहिये कि राज्य नमक मिर्च के व्यापार में साझेदारी है ; उससे बढ़कर और कुछ नहीं जिसे हम किसी क्षणिक हित की पूर्ति के लिए करते हैं और अपनी इच्छानुसार किसी समय भी भंग कर सकते हैं। इसके (राज्य के) प्रति हमें श्रद्धा से नतमस्तक रहना चाहिये ; क्योंकि यह क्षणिक तथा नाशवान् स्थूल पाशविक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये की गई साझेदारी नहीं है। यह एक साझेदारी है समस्त विज्ञान में, समस्त कला में, समस्त धर्माचरण में तथा समस्त पूर्णत्व में। इस प्रकार की साझेदारी के उद्देश्यों की सिद्धि एक तो क्या बहुत सी पीढ़ियों में भी नहीं की जा सकती, इसलिए यह (राज्य) न केवल जीवित मनुष्यों के बीच की बल्कि गुज़री हुई और आने वाली संततियों के बीच की एक साझेदारी है।"*

उपरोक्त खण्ड में बर्क संविदा के विचार को केवल नाम के लिए ही स्वीकार करता है; वास्तव में वह उसका खण्डन करता है और सावयविक धारणा को स्वीकार करता है। यह कहना कि जिस लक्ष्य के लिये मनुष्य राजनीतिक साझेदारी करते हैं वह ज्ञान तथा सदाचार की प्राप्ति है, क्षणिक भौतिक हित साधना नहीं और यह मानना कि राज्य केवल वर्तमान व्यक्तियों के बीच ही नहीं बल्कि गुज़री हुई तथा आने वाली संततियों कें बीच एक साझेदारी है, संविदा शब्द के सम्पूर्ण अर्थ को नष्ट कर देता है और उसके स्थान में राज्य के सावयविक स्वरूप को प्रतिष्ठित कर देता है। इस प्रसंग में हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि वह रहस्यमय श्रद्धा जो कि बर्क राज्य के प्रति रखता था, संविदा सिद्धान्त के साथ बिल्कुल नहीं चल सकती। इस उद्धरण में एक दिलचस्प बात यह भी है कि बर्क ने राज्य तथा समाज, इन दो शब्दों को प्रायः पर्यायवाची मानकर प्रयोग किया है और ऐसा करके उसने इन दोनों के विभेद को धूमिल

* "Society is indeed a contract ...... but the State ought not to be considered as nothing better than a partnership agreement in a trade of pepper and coffee, calico or tobacco or some other such low concern, to be taken up for a little temporary interest, and to be dissolved by the fancies of the parties. It is to be looked upon with reverence; because it is not a partnership in things subservient only to the gross animal existence of a temporary and perishable nature. It is a partnership in all science ; a partnership in all art ; a partnership in every virtue, and in all perfection. As the ends of such a partnership cannot be obtained in many generations, it becomes a partnership not only between those who are living, but between those who are dead and those who are to be born."

बना दिया है। ये दो बातें और यह तथ्य कि वह राज्य को उच्चतर सभ्यता का संरक्षण मानता है, उसे लॉक तथा ह्यूम की अपेक्षा हीगल तथा अन्य आदर्शवादियों के अधिक निकट ले आते हैं।

बर्क के इस विश्वास का कि समाज का एक सावयविक विकास हुआ है और वह ऐसे असंख्य तत्वों की उत्पत्ति है जो कि हमारी समझ के बाहर हैं, परिणाम उसकी यह धारणा है कि सरकारों का निर्णय करने तथा सुधारों के लाने में राजनीतिज्ञों को व्यवहार बुद्धि से काम लेना चाहिये, अमूर्त्त सिद्धान्तों से नहीं। जिस विषय से राजनीतिज्ञ को वर्तना पड़ता है उसकी घोर जटिलता से बर्क पूर्ण रूप से परिचित था। उसके सामने आने वाले प्रत्येक प्रश्न की कुछ अपनी विलक्षणतायें होती हैं जो कि उसे पूर्ण रूप से ध्यान में रखनी चाहियें। केवल यही बात उसके लिये अमूर्त्त सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करना असम्भव बना देती है। अमूर्त्त सिद्धान्तों का उचित स्थान गणित शास्त्र की अमूर्त्त धारणाओं की समीक्षा में होता है; जीवन के कठोर तथा ठोस तथ्यों में उनका कोई स्थान नहीं। इसीलिये बर्क ने अमेरिकन प्रश्न के ऊपर कानूनी अधिकारों के आधार पर विचार करने से इन्कार कर दिया, और इसीलिए उसने फ्रांस के उन क्रान्तिकारी विचारकों की निन्दा की जिन्होंने कि नागरिकों के अधिकारों के नाम में राजतन्त्र तथा सामन्त वर्ग सरीखी प्राचीन संस्थाओं की भर्त्सना की। अमूर्त्त सिद्धान्तों के विषय में वह सदैव भर्त्सनापूर्ण शब्दों में बात करता था और उनकी ओर जाने वाली प्रवृत्ति को वह कुव्यवस्थित राज्य का एक निश्चित चिह्न समझता था। यद्यपि जीवन, सम्पत्ति तथा स्वतन्त्रता के व्यक्ति के अधिकारों का उसने खण्डन नहीं किया— एक अच्छा ह्विग होने के नाते वह ऐसा कर भी नहीं सकता था—साधारणतया उसने उनकी अवहेलना ही की। वह केवल उन अधिकारों को स्वीकार करता था जो कि राज्य के नागरिक कानूनों अथवा न्याय तथा मानवता के विचारों पर आधारित हैं।

ऊपर यह कहा गया था कि जटिल राजनीतिक समस्याओं के सुलझाने में राजनीतिज्ञों को व्यवहार-नीति से काम लेना चाहिये, अमूर्त्त सिद्धान्तों से नहीं। यह व्यवहार-नीति का सिद्धान्त बर्क के राजनीतिक सिद्धान्त का एक महत्त्वपूर्ण भाग है, इसलिए इसका अध्ययन हम तनिक विस्तारपूर्वक करेंगे, विशेष रूप से इसलिए क्योंकि इसे कुछ हेय समझा जाता है। साधारणतया हम इसका अर्थ सिद्धान्त के प्रति उपरामता से लेते हैं; हम व्यवहार-कुशल व्यक्ति उसे समझते हैं जो कि अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिये नैतिक मान्यताओं पर कोई विशेष ध्यान नहीं देता। किन्तु बर्क का अभिप्राय यह कदापि नहीं है; वह यह नहीं कहता कि एक राजनीतिज्ञ को अपने समक्ष उद्देश्य की प्राप्ति के लिये कोई भी आवश्यक तथा उपयोगी समझे जाने वाले साधन अपना लेने चाहियें। व्यवहार-कुशलता से उसका तात्पर्य यह है कि राजनीतिज्ञ के सामने एकमात्र उद्देश्य सम्पूर्ण राष्ट्र का कल्याण होना चाहिये; उसे कोरे सिद्धान्तों का ही उपासक नहीं बन जाना चाहिये;

उसे अपने निर्णय जनता के संस्थानात्मक जीवन के मूलभूत तत्त्वों को दृष्टि में रखते हुए करने चाहियें। हमें यह याद रखना चाहिये कि राष्ट्र के कल्याण का अर्थ केवल भौतिक सम्पन्नता ही नहीं है, बल्कि इसमें जनता का नैतिक तथा आध्यात्मिक उत्थान भी शामिल हैं। यद्यपि उपयोगिता शब्द में नैतिक तथा आध्यात्मिक उत्थान को शामिल नहीं किया जाता तथापि बर्क के आशय को व्यक्त करने के लिये यह शब्द व्यवहार-कुशलता से कुछ अच्छा रहता। संक्षिप्त रूप में, व्यवहार-कुशलता से बर्क का आशय केवल इतना था कि जन-हित के सामने हमें प्राकृतिक अधिकारों की परवाह नहीं करनी चाहिये। राजनीतिज्ञ को जो उद्देश्य सदैव अपने सामने रखना चाहिये और जिससे उसे कभी नहीं डिगना चाहिये वह है सम्पूर्ण समाज की भलाई। इसी प्रसंग में उसके उन शब्दों की, जिनको हमने पहिले उद्धृत किया, यहाँ पर पुनरावृत्ति करना सर्वथा उचित ही होगा : "प्रश्न यह नहीं है कि तुम्हें अपनी प्रजा को पीड़ित करने का अधिकार है या नहीं; प्रश्न यह है कि उसे सुख पहुँचाना तुम्हारा धर्म है या नहीं। प्रश्न यह नहीं है कि एक वकील के मतानुसार मैं क्या कर सकता हूँ; बल्कि प्रश्न यह है कि मानवता, बुद्धि तथा न्याय के अनुसार मुझे क्या करना चाहिये।" इन दो वाक्यों में बर्क की व्यवहार-कुशलता सम्बन्धी धारणा का सार निहित है। एक व्यवहार-कुशल राजनीतिज्ञ के कार्य भूतकाल के ज्ञान, मानव स्वभाव के ज्ञान, उदारतापूर्ण दूरदर्शिता और सब से बढ़ कर, मानवता, बुद्धि तथा न्याय भावना द्वारा निर्धारित होंगे, अमूर्त्त सिद्धान्तों के आधार पर नहीं।

यह बात उल्लेखनीय है कि राजनीतिक घटनाचक्र की अत्यधिक जटिलता को पहिचानने में, अमूर्त्त सिद्धान्त-रचना से घृणा करने में, अमूर्त्त अधिकारों को कुछ न मानते हुए केवल ठोस अधिकारों को ही मान्यता देने में तथा वर्तमान सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं का मूल्यांकन भक्ति-भाव, परम्परा तथा व्यवहार-कुशलता के आधार पर करने में बर्क और मॉण्टेस्क्यू साधारण रूप से एकमत हैं। एक परम्पराभक्त होने के कारण बर्क मॉण्टेस्क्यू के इस विश्वास से सहमत था कि एक देश के राजनीतिक संस्थानों को एक ऐसे भिन्न देश में आरोपित करना असम्भव है जहाँ कि जनता की आदतें तथा स्वभाव बहुत भिन्न हों।

बर्क की धारणा की व्यवहार-कुशलता में कोई दोष नहीं दिखाई देता। यह बात निश्चित रूप से सही और उचित है कि एक राजनीतिज्ञ तथा सुधारक को सम्पूर्ण ठोस स्थिति तथा जनता की आदतों और परम्पराओं को ध्यान में रखना चाहिये और अपने कार्यों को अमूर्त्त सिद्धान्तों तथा अन्धमतों से निर्धारित नहीं करना चाहिये जैसा कि कोरे सिद्धान्तवादी, समाजवादी तथा मार्क्सवादी भारत में तथा अन्यत्र करना चाहते हैं। परन्तु यदि व्यवहार-कुशलता की वेदी पर न्याय, बुद्धि तथा मानवता को बलिदान कर दिया गया तो परिणाम ख़तरनाक हो सकते हैं। ख़तरा यह है कि लोग, विशेषकर वे लोग जिनमें नैतिक भावना अधिक विकसित नहीं है, इसका मैकियावेलीवादी अर्थ लगा

सकते हैं। इसके नाम में स्वयं बर्क ने बहुत से दुरुपयोगों का समर्थन किया। इस कारण इसे पूर्ण रूप से उचित तथा अन्तिम समझ लेना ठीक नहीं; सब कुछ उस व्यक्ति की भावना तथा स्वभाव के ऊपर निर्भर करता है जो कि उसका प्रयोग करता है। इसलिये व्यवहार-कुशलता शब्द के स्थान में उपयोगिता शब्द का प्रयोग अधिक अच्छा होगा; और सर्वोदय शब्द तो कदाचित् और भी अधिक श्रेष्ठ है।

सारांश— अमेरिकन प्रश्न, वारेन हेस्टिंग्स पर लगाये गये महा-अभियोग, फ्रांस की क्रान्ति तथा ब्रिटिश संविधान के विषय में बर्क ने जो कुछ लिखा है उससे उसके राजनीतिक दर्शन के निम्नलिखित आधारभूत तत्त्व सामने आते हैं: (१) राज्य अथवा समाज का सावयविक रूप से विकास हुआ है; वह मनुष्य की एक कृत्रिम रचना नहीं है। (२) शासन-कला का स्वरूप अनुभव-प्रधान है; शासन विषयों की जटिलता को देखते हुए निर्विकल्प बुद्धि से उसमें काम नहीं चल सकता। (३) प्रशासन विषयों में इतिहास तथा अनुभव— ये दो ही मान्य निर्देशक हैं। (४) फलतः, बर्क का यह विश्वास है कि एक राजनीतिज्ञ को अपनी निर्विकल्प बुद्धि का भक्त नहीं बल्कि एक चतुर व्यवहार-कुशल होना चाहिये। (५) इतिहास तथा अनुभव पर इतना ज़ोर देने के कारण बर्क एक रूढ़िवादी था; किन्तु वह एक उदार रूढ़िवादी था। उसके लेखों तथा भाषणों में रूढ़िवाद अपने सर्वोत्तम रूप में पाया जाता है। एक उदार रूढ़िवादी होने के नाते बर्क के विचार तत्त्वतः मध्यम अथवा नर्म होते थे, यद्यपि कभी कभी अपने विचारों को वह अत्यन्त उग्र भाषा में व्यक्त करता था।

बर्क के अन्य राजनीतिक विचार— उपरोक्त आधारभूत तत्त्वों के अतिरिक्त बर्क के राजनीतिक दर्शन की कुछ अन्य विशेषतायें भी उल्लेखनीय हैं। राजनीतिक घटनाचक्र के स्वरूप की जटिलता तथा शासन-कला के अनुभव-प्रधान स्वरूप पर ज़ोर देने के कारण बर्क मानव-जीवन में बुद्धि को एक बहुत ही नीचा स्थान प्रदान करता है। उसका विश्वास था कि सामाजिक संस्थान चैतन्य बुद्धि की उत्पत्ति नहीं हैं; वे अपना प्राधिकार बुद्धि से प्राप्त नहीं करते; उनका आधार यह तथ्य है कि वे एक दीर्घ काल से चले आ रहे हैं। ब्रिटिश संविधान के विषय में लिखते हुए वह कहता है कि ब्रिटिश संविधान प्रयोग-सिद्ध (Prescriptive) संविधान है। 'वह एक ऐसा संविधान है जिसका एकमात्र प्राधिकार यह है कि वह चिरकाल से चला आ रहा है ········। प्रयोग-सिद्ध अधिकार (Prescription) न केवल सम्पत्ति का बल्कि सम्पत्ति की रक्षा करने वाली सरकार का भी एक सबसे अधिक ठोस आधार है। मानव-जीवन में बुद्धि का मूल्य तभी तक है जब तक कि वह रस्म-रिवाजों की सहायता तथा उनका निर्देशन करती है; यदि मानव क्रियाओं का निर्धारक बनने की चेष्टा करती है तो उसका मूल्य समाप्त हो जाता है। इस विषय में बर्क ह्यूम के बहुत निकट है जिसकी यह धारणा थी कि सामाजिक

संस्थान पूर्ण रूप से अभिसमयात्मक (Conventional) हैं, अर्थात् वे मनुष्य की बुद्धि-प्रधानता का परिणाम नहीं हैं, बल्कि उनका जन्म एकमात्र आदत तथा दीर्घ प्रयोग का फल है। इसके विपरीत बुद्धिवादी अथवा आदर्शवादी समाज में बुद्धि की लीला देखता है, चाहे वह पूर्णरूपेण अपने चैतन्य रूप में न हो। जैसा कि आरम्भ में ही कहा जा चुका है, ह्यूम तथा बर्क की राजनीतिक विचारधारायें 'ज्ञान युग' (Enlightenment) के दर्शन के विरुद्ध एक रूढ़िवादी प्रतिक्रिया थीं।

प्रतिनिधित्व तथा दल प्रणाली के विषय में बर्क के विचार महत्त्वपूर्ण हैं। वह एक सबसे पहिला ब्रिटिश विचारक था जिसने संसदीय शासन प्रणाली में राजनीतिक दलों के आवश्यक स्थान को देखा और उनके महत्त्व को पहिचाना; इसलिए उसने दल प्रणाली को कुचलने वाली जॉर्ज तृतीय की योजनाओं का घोर विरोध किया, और ह्विग दल का समुचित रूप से संघटन किया। हम पहिले ही देख चुके हैं कि उसके मतानुसार दलीय सरकार एक साध्य के लिए एक साधन है, स्वयं साध्य नहीं; उसका सर्वोपरि ध्येय सम्पूर्ण राष्ट्र का (उसके किसी एक भाग का नहीं) कल्याण होना चाहिये। उसकी परिभाषा के अनुसार एक राजनीतिक दल 'उन मनुष्यों का एक निकाय है जो कि उस विशेष सिद्धान्त के आधार पर जो कि वह अपनी सर्वसम्मति से स्वीकार करें अपने संघटित प्रयत्नों से राष्ट्र-हित की अभिवृद्धि के लिए संगठित होते हैं।' दल इस लिए आवश्यक हैं क्योंकि एक धारासभा के सदस्य संघटित प्रयत्नों से ही राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि कर सकते हैं; राष्ट्रीय समस्याओं के सम्बन्ध में अपने जैसे विचार रखने वालों से अलग रह कर व्यक्ति अपने को प्रभावहीन बना लेते हैं और अपनी प्रतिभा तथा अवसर का व्यर्थ विनाश करते हैं। परन्तु उन्हें सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर और उन्हें क्रियात्मक रूप देने के लिये ही दलों का निर्माण करना चाहिये, स्वार्थसिद्धि के लिए नहीं। बर्क गुटों का विरोधी था जिनका आधार सदैव व्यक्ति-भक्ति है, सिद्धान्त-प्रेम नहीं। वह संयुक्त (Coalition) सरकारों का भी विरोध करता था; क्योंकि संयोजन (Coalition) यदि सिद्धान्त का परित्याग कर देता है तो वह शक्तिहीन हो जाता है, और यदि उसका ध्येय शोषण करना हो तो वह ख़तरनाक बन जाता है।

बर्क का विश्वास था कि संसद का एक सदस्य केवल अपने निर्वाचन मण्डल का ही प्रतिनिधि नहीं होता जिसका मुख्य कार्य केवल अपने निर्वाचकों की इच्छा को अभिव्यक्त करना तथा उनके हितों के लिए लड़ना हो। संसद में वह सम्पूर्ण राष्ट्र का प्रतिनिधि होता है; उसे संसद में सम्पूर्ण समाज की ओर से सरकार पर निगाह रखने तथा समाज के कल्याण में योग देने के लिए भेजा जाता है। अपने निर्वाचकों के प्रति उसका कर्त्तव्य यह है कि वह अपने सर्वोत्तम निर्णय के अनुसार स्वतन्त्रतापूर्वक आचरण करे, उसके निर्वाचक उससे सहमत हों या न हों। इसी प्रकार संसद का कर्त्तव्य भी जन भावना की क्षणिक लहर के साथ बहना नहीं बल्कि अपने को सम्पूर्ण जनता के स्थायी

कल्याण के लिए उत्तरदायी बनाना है।

बर्क का धर्म के प्रति दृष्टिकोण भी उल्लेखनीय है। वह एक अत्यन्त धार्मिक व्यक्ति था और इंग्लैण्ड के चर्च का वह पक्का समर्थक था। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह राजनीति को धर्म से मिलाता था। उसका विश्वास था कि धर्म-भावना के अभाव में कोई भी व्यक्ति एक अच्छा नागरिक नहीं हो सकता। धर्म-भावना को वह समाज का एक ऐसा ही आधार समझता था जैसे कि न्याय तथा व्यवहार-कुशलता हैं; धर्म का भावनात्मक अनुराग के मानवीय व्यापार में एक महत्त्वपूर्ण भाग है; उसे वह स्थिरता प्रदान करता है। वह समाज, उसके इतिहास, उसके संस्थानों तथा क्रिया-कलाप के प्रति धार्मिक श्रद्धा रखता था। इसीलिए वह उनसे दूर ले जाने वाले प्रत्येक क्रान्तिकारी कदम की निन्दा करता था। इस भावना का अनुभव वह न केवल ब्रिटिश सामाजिक संस्थानों बल्कि अन्य देशों के सामाजिक संस्थानों के विषय में भी करता था। इससे भी बढ़कर वह प्रत्येक सरकार अथवा समाज को विश्व की दैविक नैतिक व्यवस्था का एक अंग समझता था। कोई भी राष्ट्र स्वयं अपने लिए अपना कानून नहीं बन सकता था और अपने को दूसरों से अलग समझकर कार्य नहीं कर सकता था। अपने इस धार्मिक दृष्टिकोण के कारण बर्क ह्यूम तथा उपयोगितावादियों से बहुत भिन्न था; बर्क के राजनीतिक दर्शन की इस प्रवृत्ति को व्यवहारकुशलता तथा उपयोगिता में से कोई भी शब्द व्यक्त नहीं करता।

अन्तिम उल्लेखनीय बात यह है कि बर्क को मानव समानता तथा जनसंप्रभुता के लोकतंत्री सिद्धान्तों में कोई आस्था न थी। वह जनसंप्रभुता का विरोध इसलिए करता था क्योंकि उसका विचार था कि संप्रभुता-सम्पन्न जनता पर कोई नियन्त्रण नहीं लगाया जा सकता; जनसाधारण द्वारा किये गये अपराधों के लिए किसी को भी उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। जनसाधारण भी उतने ही अत्याचारी तथा दमनकारी हो सकते हैं जितने कि विशिष्ट वर्ग। समानता के सिद्धान्त का खण्डन वह इसलिए करता था क्योंकि उसका सामंजस्य उस विभेद से नहीं किया जा सकता जो कि वर्गों तथा जनसाधारण में है और जिसमें वह हृदय से विश्वास करता था। सरकार का सर्वोत्तम रूप वह कुलीनतंत्र को मानता था; राजतन्त्र से उसे प्रेम इसलिए था क्योंकि उसका विश्वास था कि उसकी परम्परा भक्ति तथा सदाचार और बुद्धिमत्ता के कारण सरकार स्थिर रहती है। उसे पूर्ण विश्वास था कि एक राष्ट्र की महत्ता एक दृढ़ तथा शक्तिशाली कुलीनतन्त्र पर निर्भर करती है। अपने 'Appeal from the New to the Old Whigs' में उसने लिखा: — "यदि हम चाहते हैं कि मनुष्य पूर्ण समाज की शक्ति तथा चरित्र के साथ आचरण करें तो हमें उन्हें एक ऐसे स्वाभाविक सामाजिक अनुशासन की स्थिति में रखना होगा जिसमें कि अधिक बुद्धिमान्, अधिक विशेषज्ञ तथा अधिक समृद्ध व्यक्ति संचालन करते हैं और अपने संचालन द्वारा गरीबों, अपने से कम ज्ञानयुक्त तथा कम सम्पन्न

व्यक्तियों को ज्ञान प्रदान करते हैं तथा उनकी रक्षा करते हैं।"* यह कहने की तो आवश्यकता ही नहीं कि कुलीन के सदाचार तथा बुद्धिमत्ता में बर्क का यह विश्वास बीसवीं शताब्दी के मनुष्य के हृदय में कोई प्रतिध्वनि उत्पन्न नहीं करता। यह एक कोरी मान्यता है, एक स्वयंसिद्ध सत्य नहीं; कुलीन वर्गों के आचरण में बहुत कुछ ऐसी बातें हैं जोकि इस मान्यता को गलत सिद्ध करती हैं। दयालुता तथा संवेदना की भावना कुलीनतन्त्री सरकारों से कोसों दूर रही हैं; जनतन्त्र की अपेक्षा कुलीनतन्त्र शक्ति से अधिक भ्रष्ट हुआ है।

बर्क का मूल्यांकन— बर्क के राजनीतिक विचार के गुण तथा दोष इस बात से उत्पन्न होते हैं कि उसकी अभिव्यक्ति किसी औपचारिक तथा क्रमबद्ध ग्रन्थ में नहीं बल्कि सामयिक घटनाओं से उत्प्रेरित हुए लेखों तथा व्याख्यानों में हुई। यद्यपि वह एक ओजस्वी विचारक था तथापि उसमें उस दार्शनिक क्षमता का अभाव था जो कि 'लेवियाथन', 'सोशल कॉन्ट्रैक्ट', अथवा 'स्प्रिट ऑफ़ लॉज़' सरीखे ग्रन्थों में पाई जाने वाली सुव्यवस्थित विचार पद्धति का निर्माण करने के लिए अपेक्षित है। इसलिए एक क्रमबद्ध राजनीतिक विचारक के नाते उसका स्थान बहुत ऊँचा नहीं हो सकता, परन्तु सैबाइन का यह कहना भी अतिरंजना मालूम होती है कि विभिन्न घटनाओं के प्रति उसके मन में जो प्रक्रिया हुई उसके अतिरिक्त उसका कोई दर्शन ही नहीं था। उसके ये सुनिश्चित विश्वास (जिनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं) कि शासन कार्य में राजनीतिज्ञ को व्यवहार-कुशलता से काम लेना चाहिये, राज्य की संप्रभुता तथा नागरिक के अधिकारों इत्यादि के अमूर्त्त सिद्धान्तों द्वारा नहीं, कि सरकार का अस्तित्व जनता के कल्याण के लिए है और इसलिये उसके हितों को सर्वोपरि महत्त्व मिलना चाहिये, और यह कि धर्म राज्य का आधार तथा समस्त शुभ तथा सुख का स्रोत है, उसके राजनीतिक विचार के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। परन्तु वे राज्य अथवा कानून के सिद्धान्त नहीं हैं। इसके अतिरिक्त उसके विरुद्ध एक यह आपत्ति भी उठाई जा सकती है, और कभी कभी उठाई भी गई है, कि उसके व्यवहार-कुशलता के सिद्धान्त का दुरुपयोग वर्तमान बुराइयों और राजनीतिक अनैतिकता का बचाव करने के लिए किया जा सकता है। यद्यपि बर्क यह स्वीकार करता है कि जब किसी प्राचीन संस्था का विवेक नष्ट हो जाता है तो उसके शवमात्र को बनाये रखना मूर्खता है, और वह कहता है कि 'मेरे मापदण्ड से पूरा उतरने वाले राजनीतिज्ञ में प्राचीन को सुरक्षित

---

* "To enable men to act with the weight and character of a people we must suppose them to be in that state of habitual social discipline in which the wiser, the more expert and the more fortunate conduct, and by conducting enlighten and protect the poor, the less knowing, and the less provided with the goods of fortune."

रखने की प्रवृत्ति तथा साथ ही साथ उसमें सुधार करने की योग्यता होनी चाहिये, तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि फ्रांसीसी राजतंत्र जैसी राजनीतिक व्यवस्था, भारत में इतनी प्राचीन अस्पृश्यता, अथवा दक्षिणी अफ्रीका में वर्णभेद जैसी सामाजिक संस्था इतनी अत्याचारी तथा दमनकारी बन सकती है कि एक हिंसात्मक क्रान्ति ही उनका अन्त करने का एकमात्र साधन रह जाती है। इस बात पर अधिक ज़ोर देना आवश्यक नहीं; दुरुपयोग तो किसी भी सामाजिक सिद्धान्त का किया जा सकता है। यह बात कि इसका प्रयोग वर्तमान बुराइयों के समर्थन के लिये किया जा सकता है रूढ़िवाद के दर्शन का कोई दोष नहीं है। बर्क की सद्विशेषता तो यह है कि उसने हमें रूढ़िवाद का दर्शन प्रदान किया।

राजनीतिक घटना-चक्र को समझने तथा उसका मूल्यांकन करने के लिए इतिहास तथा अनुभव की आवश्यकता पर ज़ोर देने वाला बर्क यद्यपि आधुनिक काल में सर्व-प्रथम विचारक न था— इसका प्रतिपादन वाइको तथा मॉण्टेस्क्यू उससे पहिले ही कर चुके थे— तथापि ऐतिहासिक पद्धति को अपने उचित स्थान पर पुनर्प्रतिष्ठित करके उसने महान् सेवा की। हमें याद रखना चाहिये कि रूसो की जनप्रियता तथा 'रोमांटिक स्कूल' की छाया में मॉण्टेस्क्यू तथा अन्य विचारक दब कर रह गये थे। उस समय "इतिहास को मूर्खालाप समझा जाता था, बुद्धि को तुच्छ समझा जाता था, तथा तथ्यों को बाधायें समझकर उन्हें पूर्ण रूप से बहिष्कृत करने की चेष्टा की जाती थी। केवल मधुर कल्पनाओं तथा अतिरंजित काव्यात्मक रचनाओं का साम्राज्य था। कामनाओं को आदर्शों के उच्चासन पर प्रतिष्ठित कर दिया गया था और ऐसे आदर्शों को प्राप्त करने में न तो बुद्धि से काम लिया जाता था और न नैतिकता को ध्यान में रखा जाता था।"* ऐसे विचार-वातावरण में ग्रस्त मनुष्य को मानवीय व्यापार की घोर जटिलता से अवगत कराना तथा इस तथ्य पर ज़ोर देना कि मानवीय व्यापार का नियन्त्रण तथा व्यवस्था अमूर्त्त तथा विश्वव्यापक सिद्धान्तों द्वारा नहीं की जा सकती बर्क का निश्चित रूप से एक कारनामा था। यह देख पाना कि सामान्य सिद्धान्तों का क्रियात्मक रूप परिस्थितियों द्वारा निर्धारित होना चाहिये बर्क का एक प्रशंसनीय गुण है।

राजनीतिक विचार को बर्क की एक अन्य देन यह है कि उसने व्यक्ति के प्राकृतिक तथा जटिल अधिकारों के सिद्धान्त का खण्डन किया। उसने सिद्ध किया कि केवल उन्हीं अधिकारों का अस्तित्व है और राजनीतिज्ञ को केवल उन्हीं अधिकारों को ध्यान में रखना चाहिये जो ठोस हों और जो समाज के अभिसमयों से उत्पन्न हुए हों। ईश्वरीय कानून

* "History was bunk, reason despised, and facts were mere obstacles to be swept aside. Visions and rhapsodies were the thing. Wishes were elevated as ideals, and the attainment of such ideals was sought with small regard for either sense or morality."

—Maxey : *Political Philosophies*, page 382.

ने जो चीज़ निर्धारित की है वह मनुष्य के कर्तव्य हैं, अधिकार नहीं। यहाँ पर हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि बर्क ने नागरिकों के प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त का खण्डन तो अवश्य किया किन्तु वह सम्पूर्ण समाज के अधिकारों से अपरिचित नहीं था। अमेरिका तथा भारत के रहने वालों के लिये न्याय की जो मर्म-भरी अपील उसने की है वह इस बात का पर्याप्त प्रमाण है।

सैबाइन ने राजनीतिक दर्शन को बर्क की एक अन्य देन की ओर संकेत किया है। वह कहता है कि यद्यपि बर्क के विचारों का विकास ब्रिटिश राजनीतिक जीवन तथा उसकी ह्विग पार्टी की सदस्यता की पृष्ठभूमि के साथ हुआ, तथापि उसका व्यावहारिक महत्त्व ह्विग वर्गतन्त्र के समर्थन-मात्र से कहीं अधिक व्यापक है। "फ्रांस की क्रांति के विरुद्ध उसने जिस प्रतिक्रिया का झंडा खड़ा किया उससे एक नवीन परिवर्तन का सूत्रपात हुआ जिसके कारण तत्कालीन प्रचलित सामाजिक दर्शन को आक्रमण छोड़ कर अपना बचाव करने के लिए विवश होना पड़ा, और इसलिए स्थिरता के मूल्य तथा परम्परा की शक्ति पर, जिसके ऊपर स्थिरता निर्भर करती है, एक नवीन बल दिया गया।"* हमें यह नहीं समझ लेना चाहिये कि इस रूढ़िवाद का प्रयोग सर्वत्र यथा-पूर्व स्थिति को बनाये रखने के लिये ही किया गया; जर्मनी में हीगल के हाथों में, जिसके दर्शन में बर्क के लेखों में बिखरे हुए अधिकांश सिद्धान्त पाये जाते हैं, इसने एक नवीन सामाजिक व्यवस्था को जन्म दिया।

बर्क की प्रस्तुत समीक्षा का सर्वोत्तम उपसंहार हम लास्की द्वारा किये गये बर्क के राजनीतिक दर्शन के मूल्यांकन को उद्धरित करके ही कर सकते हैं। वह लिखता है: "बर्क की प्रशंसा करना सरल है और उसके प्रयास की महत्ता को न समझ पाना और भी अधिक सरल है। उसके पूर्ण मूल्यांकन को छोड़ते हुए भी इतना तो असंदिग्ध है कि एक विचार-प्रणाली के जनक की अपेक्षा उसे कुछ ऐसी लोकोक्तियों के रचयिता के रूप में अधिक याद किया जायेगा जिन्हें भुला देने का साहस बहुत कम राजनीतिज्ञों को होगा, यद्यपि उसकी विचार-प्रणाली अपनी अपूर्ण अभिव्यंजनाओं में भी हॉब्स तथा बेन्थम की प्रणालियों से कुछ कम महाकाय नहीं है। उसके दोष भी हमें सबक सिखाते हैं। उसका यह न देख पाना कि सम्पत्ति का कुछ हाथों में ही केन्द्रित हो जाना कितना खतरनाक होता है इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि एक राज्य के सदसद् का निर्णय अपनी निजी इच्छाओं के मापदण्ड से करने के लिए मनुष्य कितना उत्सुक रहता है। ··· जन-इच्छा का जो निरादर उसने किया है वह उस घातक उपेक्षा की ओर संकेत करता है जिसके

* "The reaction which he led against the French Revolution was the beginning of a shift which carried the prevailing social philosophy from attack to defence, and therefore to a new emphasis on the value of stability and the power of custom on which stability depends."

साथ हम उन लोगों की इच्छा की अवहेलना कर देते हैं जो कि राजनीतिक संघर्ष के सक्रिय केन्द्र से बाहर खड़े हुए हैं। ......

"यह सब कुछ होते हुए भी इंग्लैण्ड के राजनीतिक विचार के इतिहास में उससे अधिक महान् व्यक्ति और कोई दिखाई नहीं पड़ता। उसमें हॉब्स की अविश्रान्त तर्कना, ह्यूम की तीक्ष्ण दृष्टि तथा ग्रीन की नैतिक आदर्शप्रियता के न होते हुए भी इनमें से प्रत्येक के इन गुणों का एक बड़ा भाग पाया जाता है। अपने समय के राजनीतिक दर्शन को उसने एक ऐसी दिशा भावना, लक्ष्य का उत्कृष्ट ओज तथा उसकी जटिलता का पूर्ण ज्ञान प्रदान किया जैसा कि किसी भी राजनीतिज्ञ में नहीं पाया जाता।"*

बर्क के साथ हमारा यह प्रस्तुत प्रयास समाप्त होता है, इसका एक कारण तो यह है कि आधुनिक राजनीतिक विचार के विकास में बर्क को एक प्रकार की विभाजक रेखा पर खड़ा हुआ कहा जा सकता है, आंशिक रूप से इसके कुछ अन्य और बाह्य कारण हैं। बर्क पर समाप्त होने वाले युग में राजनीतिक विचार पर 'प्राकृतिक कानून' (Natural Law) तथा 'प्राकृतिक प्रज्ञा' (Natural Reason) की धारणायें आच्छादित थीं। मेकियावेली तथा हॉब्स सरीखे विचारकों को अपवादस्वरूप छोड़कर राजनीतिक दार्शनिक अपनी समस्याओं को नैतिक निरपेक्ष धारणाओं की परिभाषा में व्यक्त करते थे; आर्थिक विचारों का उनके चिन्तन में कोई स्थान न था। बर्क के

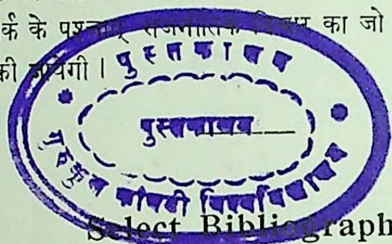
---

* "It is easy to praise Burke and easier still to miss the greatness of his effort. Perspective apart, he is destined doubtless to live rather as the author of some maxims that few statesmen will dare to forget than as the creator of a system which, even in its unfinished implications, is hardly less gigantic than that of Hobbes or Bentham. His very defects are lessons in themselves. His unhesitating inability to see how dangerous is the concentration of property is standing proof that men are over-prone to judge the rightness of a state by their own wishes .... His disregard of popular desire suggests the fatal ease with which we neglect the opinion of those who stand outside the active centre of political conflict...... .

"Yet even when such deduction has been made, there is hardly a greater figure in the history of political thought in England. Without the relentless logic of Hobbes, the acuteness of Hume, the moral insight of T. H. Green, he has a large part of the faculties of each. He brought to the political philosophy of his generation a sense of its direction, lofty vigour of purpose, and a full knowledge of its complexity, such as no other statesman has possessed."

—Laski : *Political Thought from Locke to Bentham*, pages 213-14.

उपरान्त नैतिक मान्यताओं का महत्त्व कम होता गया और आर्थिक कारणों की महत्ता बढ़ती गई। यह उस महान् औद्योगिक क्रांति का परिणाम था जो कि १८वीं शताब्दी में आरंभ हुई किन्तु जिसके प्रभावों से बर्क एकदम अनभिज्ञ रहा। यद्यपि १७वीं तथा १८वीं शताब्दी में स्वतन्त्रता की वाणी सुनाई देती थी, किन्तु इस युग में सामान्य रूप से कुलीनतन्त्री विचारों का साम्राज्य था; राजनीतिक लोकतन्त्र का प्रभुत्व बर्क के पश्चात् ही स्थापित हुआ। बर्क के पश्चात् [illegible] का जो विकास हुआ उसकी समीक्षा अगली पुस्तक में की जायेगी।



Select Bibliography

Cook : *History of Political Thought*, Chapter XXIV.

Graham : *English Political Thought*.

Hearnshaw : *Social and Political Ideas of Thinkers of the Revolutionary Era*, Chapter IV.

Laski : *Political Thought from Locke to Bentham*, Chapter VI.

Maxey : *Political Philosophies*, Chapter XIX.

McGovern : *From Luther to Hitler*, pages 103–112.

Murray : *Introduction to Political Philosophies*, Chapter X.

Osborn : *Rousseau and Burke*.

Sabine : *History of Political Theory*, Chapter XXIX.

Vaughan : *Studies in the History of Political Philosophy, Vol. II*, Chapter I.








JAI PRAKASH NATH & CO.
Meerut